# BIBLIOTHECA INDICA:

A

COLLECTION OF ORIENTAL WORKS

PUBLISHED BY THE

ASIATIC SOCIETY OF BENGAL.

NEW SERIES, NOS. 216, 223, 238.



# THE NRISINHA TA'PANI'

OF THE

ATHARVA VEDA.

WITH THE

COMMENTARY OF S'ANKARA A'CHA'RYA.



EDITED BY

RA'MAMAYA TARKARATNA.

Professor of the Sanskrit College, Calcutta



CALCUTTA:

PRINTED AT THE GANES'A PRESS.

1871.


ASTOR LIBRARY
OCT
12
1865
NEW YORK

# श्रीनृसिंहतापनी

नामाथर्व्वणोपनिषत्।

श्रीमच्छङ्कराचार्य्य-विरचित-भाष्य-सहिता।

---

श्रीलश्रीयुक्त

आसियाटिक्‌सोसाइटि-नामक-समाजानुमत्या

संस्कृतविद्यालयाध्यापकेन

तर्करत्नोपाधिकेन श्रीराममयशर्म्मणा

यथामति परिसंस्कृता।

---

कलिकाताख्य-महानगरे

गणेशयन्त्रे मुद्रिता।

संवत् १९२८

# विज्ञापनम् ।

इह खलूपनिषदः सर्व्वाः कालवशात् कालकवलान्तर-लीन-प्रायतया दुर्लभा बभूवुः; इत्यालोक्य सकललोक-सौलभ्यसम्पादनाय देशहितैषिता-विद्यानुरागितादि-गुणमण्डन-मण्डिता-नामेतद्देशीय-पुरातन-पण्डितमण्डली-गुणगणानुसन्धायिनामस्यां कलिकाताख्यराजधान्यां गवर्णमेण्टसंस्थापिता-—मासियाटिक्-सोसाइटि-नामधेयां सभामधिवसतां सभासदा-मतियत्नतो मुण्ड-माण्डुक्य-प्रभृतयो दशोपनिषदः पूर्व्वमितः परिमुद्रिताः, देश-देशान्तरेषु प्रचारिताश्च ।

अथाथर्व्ववेदान्तर्गताना-मवशिष्टानामुपनिषदां संस्करणाय गुणिगण-गुणग्राहिभिः सभासद्भिरमीभिरहमादिष्टः, तेषामादेशं परिपालयितुमहमपि समादरपरो जातः ।

ततोऽस्याः सभायाः सभासदामन्यतमेन संस्कृतविद्यानुरागिणा मानधनाग्रयायिना मित्रवंशावतंसेन श्रीलश्रीराजेन्द्र-लाल-महोदयेन तासां द्व्यधिक-पञ्चाशत्-सङ्ख्यकानामाथर्व्वणोपनिषदामेकैकस्या द्वि-त्रि-पञ्च-षट्-सङ्ख्यकान्यादर्श-पुस्तकानि, भाष्यपुस्तकानि च नानास्थानतो बहुयत्नतः समाहृत्य मे समर्पितानि । तेषां कतिचिदनेन स्वभवनतः सङ्गृहीतानि, कतिचिदस्याः सभायाः पुस्तकालयात्, कतिचिद्-वाराणसी-मधिवसतोर्विद्यायामनुरागवतोः श्रीमतोर्हरिश्चन्द्र-शीतलप्रसाद-महोदययोःसकाशात्, अपराणि च जन-गण-विहित-बहुमानस्य

मानकरनामग्राम-निवासिनः श्रील श्रीहितेलालमिश्र-महोदयस्य समीपतश्च ।

अथ तासामुपनिषदामन्यतमा, परमात्मतत्त्व-परिज्ञानाय नृसिंहाकारस्य परमपुरुषस्य भक्तिश्रद्धातिशयेन ध्यानादिभिरुपासकानां परमात्मज्ञान-प्राप्त्युपायभूता, परब्रह्मज्ञान-प्रतिपादनाद् ब्रह्मविद्येयमिति जगति प्रथिता, ब्रह्म-मुक्ति-साध्यसाधन-रूपाभिधेय-प्रयोजन-सम्बन्धवती, नृसिंहतापनी-नाम्नीयमुपनिषत् सुराचार्य्यवर्य्य-श्रीशङ्कराचार्य्य-विरचितेन सह भाष्येण प्रथमं मुद्रिता ।

अस्याश्चादर्श-पुस्तकान्यष्ट-सङ्ख्यकानि सङ्कलितानि । तेषामेकं द्वितीयञ्चासियाटिक्-सोसाइटि-नामक-सभासदनतः प्राप्तम् ; तच्चाशुद्धम् । तृतीयं चतुर्थञ्च श्रीयुतहरिश्चन्द्र-महोदयादधिगतम् ; तयोरेकं नवीनं शुद्धप्रायं प्रायशो भाष्यसम्मतञ्च ; अपरं प्राचीनमपि विशुद्धि-विरहितम् । पञ्चमम् श्रीयुतराजेन्द्रलालमित्र-महोदयतः ; तदपि शुद्धप्रायम् । षष्ठञ्च नारायणभट्ट-विरचित-दीपिका-सहितं श्रीयुतहितेलालमिश्रसमीपतः ; एतत्तु लिपिकर-प्रमादात्, विशुद्धादर्श-पुस्तकाभावात्, सम्यगालोचनाभावाच्चाशुद्धिभूयिष्ठम् । अपरञ्च इयमतिप्राचीनमपि च्युताक्षरत्वादिभिरनेकैर्दोषैः कवलिततया दर्शनायोग्यत्वादुपेक्षितम् ।

भाष्यग्रन्थस्यादर्शपुस्तकानि त्रीणि मम करतलमायातानि ; तेषामेकमस्याः सभायाः पुस्तकालयतः समागतम्, तच्चाशुद्धप्रायम् । अपरञ्च द्वयं वाराणसीतः ; तयोरेकं परिशुद्धमपि खण्डितम् ; द्वितीयन्तु शुद्धप्रायमप्यस्फुटाक्षरतया दुर्बोधम् ।

यस्य यस्य मूलपुस्तकस्य पाठान्तराण्युद्धृतानि, तस्य तस्य परि-

ज्ञानाय पूर्वंनिर्द्देश क्रमेण क, ख, ग, घ, ङ, च, इति साङ्केतिक-वर्णास्तत्तत्पाट-विन्यासात् पूर्वमधिरोपिताः। भाष्यपुस्तकाना-मप्येवमेवेति विद्वद्भिर्विज्ञेयम्।

अथ समारब्धे ऽस्या मुद्रणकार्य्ये श्रीमतानेन राजेन्द्रलालमित्र-महोदयेन बहुनुसन्धाय बहूपनिषदां विशुद्धमेकमादर्श-पुस्तकं नारायणभट्टविरचित-दीपिका-सहितं कस्यचित् पण्डितवरस्य दक्षिणः सकाशादासाद्य लेखकेन लेखयित्वा मे सम्प्रति सम-र्पितम्। तत्रास्या नृसिंह-तापनीयोपनिषदः पूर्वभागस्यान्ते-लिखिता पुस्तकान्तरेष्वदृष्टा, षट्चक्रोपनिषदाख्या काचिदुप-निषत् समालोकिता; सा चैतद्विद्योपासकानां षडङ्गन्यास-सिद्धये समुपयोगिनीति विज्ञाय विज्ञजनगण-परिदर्शनाय ग्रन्थशेषे सह दीपिकया मया प्रकाशिता।

अस्याश्वादर्शचयमसुदर्शमपि प्रभूतं प्रयासमुरीकृत्य सम्यगा-लोच्य च मया मन्दधिया ये ये पाठाः समीचीनतयावधृताः, भाष्य-सम्मताश्च, तान् सर्व्वान मूले, तदितरांश्च सङ्गतानसङ्गतानपि तदधोभागे निवेश्य यथामति परिशोधितेयमुपनिषदिति।

वङ्गाङ्कोत्तर-वाजीन्दु-सम्मिते शकवत्सरे।
सौराश्विनस्य वाह्नाङ्के दिवसे मुद्रयाङ्किता॥
तर्करत्नोपाधिकेन श्रीराममय-शर्म्मणा।
नृसिंहतापनीयैषा शोधितोपनिषन्मया॥
वर्णतश्चार्थतोऽशुद्धिर्यदि काचित् प्रदृश्यते।
तदा मामनुगृह्णासौ गुणगृह्यैर्विशोध्यताम्।

---

# शुद्धिपत्रम् ।



| पृष्ठायाः | पङ्क्तौ | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|
| २ | ५ | स्तुवान्यः | स्तुवानाः |
| " | १९ | ताद्शमिति | तादृशमिति |
| ८ | २० | पुस्तकेषृदृष्टतया | पुस्तकेष्वदृष्टतया |
| १० | ११ | अनुष्टु प् | अनुष्टुप् |
| ११ | १२ | सवः | सर्वैः |
| १२ | १२ | द्वैवत | द्वैवतं |
| १६ | १९ | शुश्रषवे | शुश्रूषवे |
| १९ | १४ | ४॥५॥ | ३॥४॥५॥ |
| २० | ७ | नृकेसरिच्छम् | नृकेसरिम् |
| २७ | ६ | ऽमृतसोलक्ष | सोऽमृतलक्ष |
| २८ | ४ | विष्णं | विष्णुं |
| ३० | १२ | रूपदिष्टवान् | रूपदिष्टवान् |
| ३१ | २० | रङ्गलीभ्यां | रङ्गुलीभ्यां |
| ३२ | १६ | रूपासकस्य | रुपासकस्य |
| ३४ | १ | ह्यपासका | ह्युपासका |
| ३५ | ८ | द्वितीयं | द्वितयं |
| ४२ | १६ | लब्धा | लब्ध्वा |
| ४६ | ११ | साङ्‌ग | साङ्ग |
| ४७ | २ | बीजोच्चारण | बीजोच्चारण |
| ४८ | ८ | महिम्ना | स्वमहिम्ना |
| ४९ | १ | ५ खण्डः | ४ खण्डः |
| ५० | ६ | तेजे: | तेजः |
| ५१ | ६ | सवतो | सर्वतो |
| " | २१ | सामाङ्‌ग | सामाङ्ग |

| पृष्ठायाः | पङ्क्तौ | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|
| ५३ | १० | नृसिहे | नृसिंहे |
| ५७ | ८ | रक्षै | रक्षै |
| " | १५ | मृत्यमृत्य मिति | मृत्युमृत्युमिति |
| ६० | ९ | शिव | शिवः |
| ६६ | १४ | हूंचस हूं | हूंच स हूंम् |
| " | १५ | हे हूं | हे हूँ |
| ६७ | ६ | सवषां | सर्वेषां |
| " | १४ | ततीया | तृतीया |
| ७० | १ | तिकालातीतं | त्रिकालातीतं |
| ७२ | ७ | विष्पष्टं | विस्पष्टं |
| ७४ | ७ | बिराड् | विराड् |
| ७८ | २ | दक्षिणेऽचिणि | दक्षिणेऽक्षिणि |
| " | १९ | इत्याद्यपपन्नं | इत्याद्युपपन्नं |
| ८२ | ९ | इत्त्रमेव | इत्थमेव |
| ८४ | १२ | वजनखाय | वज्रनखाय |
| ८५ | ११ | मन्त्र | मन्त्रै |
| ८७ | ४ | वैलोक्य | त्रैलोक्यं |
| " | ७ | मृत्य | मृत्यु |
| ८८ | ५ | नसिंह | नृसिंह |
| ९३ | १९ | सविन्दकं | सबिन्दुकं |
| " | २० | सविन्दका | सबिन्दुका |
| ९४ | १८ | सविन्दके | सबिन्दुके |
| ९६ | ३ | नाभयो मध्याः | नाभयोऽमध्याः |
| ९९ | ७ | व्यक्तानुष्टभा | व्यक्तानुष्टुभा |
| १०० | २१ | सोमपतौ | सोमपूतौ |
| १०१ | २० | निवर्त्तैग्रा | निर्वर्त्तैग्रा |
| १०२ | २ | घपास्य | घपास्य |

| पृष्ठायाः | पङ्क्तौ | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|
| १०२ | २१ | मानुष्टभं | मानुष्टुभं |
| १०३ | ६ | भषः | भूषः |
| १०६ | १४ | ततसमम् | ततसमम् |
| ११० | १० | नमस्कर्मः | नमस्कुर्मः |
| १११ | ८ | पर्य्यवसायिना | पर्य्यवसायिनी |
| " | २१ | परात्मानम् | परमात्मानम् |
| ११५ | २ | ह्नुकार | ह्नुकारः |
| ११६ | २३ | श्रोतृणां | श्रोतॄणां |
| ११७ | १६ | देशात्मनावपि | देशात्मानावपि |
| ११८ | ११ | चतुष्टय | चतुष्टय |
| ११९ | १४ | नुपलब्धेः | नुपलब्धेः |
| " | १७ | वधोकत्व | बोधकत्व |
| १२० | १२ | वाचक | वाचकः |
| १२१ | १६ | तथव | तथैव |
| १२४ | १८ | स्वपु | स्वपुं |
| १२५ | १९ | कथमवगम्यते | कथमवगम्यते |
| १२६ | ९ | सक्ष्मप्रज्ञ | सूक्ष्मप्रज्ञ |
| १३१ | २० | सुष्ट | सुष्टु |
| १३२ | १७ | इद | इदं |
| १३४ | ६ | भाग्यजातम् | भोग्यजातम् |
| १३६ | ४ | स्फुर्त्ता | स्फूर्त्ता |
| १३९ | ९ | प्रपञ्चोपशम | प्रपञ्चोपशम |
| १४१ | १० | सर्व्वत्रोपलब्दि | सर्व्वत्रोपलब्धि |
| " | १९ | आदन्दरूपः | आनन्दरूपः |
| १४२ | १३ | सर्वाधिष्ठान सद्भाव | सर्वाधिष्ठानः सद्भाव |
| " | १६ | अतौ | अतः |
| १४३ | १२ | इत्यत्तर | इत्युत्तर |

| पृष्ठायाः | पङ्क्तौ | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|
| १४४ | १४ | अनुष्टभः | अनुष्टुभः |
| " | " | गर्भार्यस्योभतः | गर्भार्थस्योभयतः |
| १४५ | १८ | स्थल | स्थूल |
| १४६ | १३ | रथर्द्ववेः | रथर्ववेदः |
| " | १९ | अचरस्यार्द्ध | अचरस्यार्द्ध |
| १४८ | १४ | ऽनुयेतिभू | ऽनुभूयेति |
| १४९ | ३ | सङ्कृचः | सङ्कृचः |
| " | १५ | ध्यातोत | ध्यान्यतीत |
| १५१ | ७ | नियश्चकत्रै | निश्चयकर्त्रै |
| " | १२ | मुर्य्यचा | मुख्याय |
| " | २३ | भवेच्चित्यथः | भवेदित्यर्थः |
| १५३ | २१ | विड़ेराकर्ष्यौ | विराड़्कर्ष्यो |
| १५४ | १५ | विराड़्कर्ष्यौ | विराड़्कर्ष्यो |
| " | १९ | य | यु |
| " | २० | विड़ेराकर्ष्यौ | विराड़्कर्ष्यो |
| १५९ | १६ | संहारकर्त्त | संहारकर्त्तृ |
| १६० | २१ | नम | नमः |
| " | २२ | विम्रष | विम्रुष |
| १६१ | २३ | ब्रह्मने | ब्रह्मणे |
| १६२ | ९ | सोहम् | सोऽहम् |
| " | २३ | नामामि | नमामि |
| १६५ | १६ | नवकम | नवकम् |
| " | २२ | मुह्यम् | मूह्यम् |
| १६६ | १ | मुह्यम् | मूह्यम् |
| १६७ | २१ | तस्तेज | तत्तेज |
| " | २२ | मर्त्यकमध्ये | मूर्त्तकमध्ये |
| १७० | १४ | परमेश्वराभिन्नाय | परमेश्वराय अभिन्नाय |

| पृष्ठायाः | | पङ्क्तौ | | अशुद्धम् | | शुद्धम् |
|---|---|---|---|---|---|---|
| १७८ | .. | ८ | .. | एष एवाहमित्यन्न | ... | एष एवाहमित्यन्नं |
| " | ... | १२ | ... | पुर्वं च | .. | पूर्वं च |
| १८१ | ... | ४ | ... | नमस्कारमन्त्रेः | .. | नमस्कारमन्त्रैः |
| १८४ | ... | १७ | ... | ऽनुष्टभ | ... | ऽनुष्टुभ |
| १८५ | .. | १२ | .. | ज्ञानसम | ... | ज्ञानसमये |
| १८९ | ... | २१ | ... | सवस्यापि | ... | सर्व्वस्यापि |
| १९१ | .. | २ | ... | ब्रह्मनः | ... | ब्रह्मणः |
| " | ... | १५ | .. | एतद्धि | ... | एतद्वि |
| " | .. | १७ | .. | शक्यम | ... | शक्यम् |
| " | ... | २० | .. | संहार, | ... | संहार- |
| १९६ | .. | २० | ... | मुमितीषवो | .. | मुमितीर्षवो |
| १९९ | .. | ३ | .. | पिशच | ... | पिशाच |
| २०२ | .. | १६ | .. | निष्पाद्यत्यर्थः | ... | निष्पाद्येत्यर्थः |
| २०३ | .. | ५ | .. | दुहष्ट्वा | ... | दुहृष्ट्वा |
| " | ... | ६ | ... | दुह्नान्तकत्वा | ... | दुह्नान्तकत्वा |
| २०६ | .. | ८ | ... | स्वरूपमाह | ... | स्वरूपमाह |
| २१६ | ... | ६ | ... | प्रोतश्र | .. | प्रोतश्च |
| " | ... | २१ | ... | सव्व | ... | सर्व |
| २१७ | .. | ६ | .. | व्यापक | ... | व्यापकत्व |
| " | ... | २० | .. | धर्म्मे | ... | धर्म्मैं |
| २२२ | ... | ३ | ... | अनुष्ठान व्यापाररूपा | ... | अनुष्ठाने व्यापाररूपा, |
| २२४ | .. | १४ | ... | ह्यपलब्धा | ... | ह्युपलब्धा |
| २२५ | .. | २ | ... | श्रतिः | .. | श्रुतिः |
| " | .. | ८ | ... | कर्त्तृ | ... | कर्त्तृ |
| २३२ | .. | ७ | .. | जड़शक्तिः; | ... | जड़शक्तिः |
| २३३ | ... | ९ | ... | माया-सत्त्व | .. | माया सत्त्व- |
| २३७ | ... | १ | ... | प्रज्ञानघन | .. | प्रज्ञानघन |

| पृष्ठायाः | पङ्क्तौ | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|
| २३९ | २० | असदन्यदेव | असदन्यदेव |
| २४१ | ३ | सदा आत्मैव | संदात्मैव |
| 〃 | ११ | 'प्रत्मगात्मनो | प्रत्यगात्मनो- |
| २४३ | १२ | हस्तैवात्मत्व | हस्तैवात्मत्व |
| २४६ | १२ | प्रूक्षेव | प्रक्षेव |
| २५१ | १२ | भवतीत्माह | भवतीत्याह |
| २५३ | ७ | मात्मनं | मात्मानं |
| 〃 | १६ | वक्तं | वक्तुं |
| 〃 | १७ | नभेत्तव्यं | नभेतव्यं |
| 〃 | 〃 | पच्छतेति | पृच्छतेति |
| २५४ | ६ | यर्यमित्याह | गूयमित्याह |

# सूचीपत्रम् ।

# ओं नमः श्रीनृसिंहाय।

## नृसिंहपूर्व्वतापन्याम्

प्रथमोपनिषदि।

प्रथमः खण्डः।

ओं भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा* भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥

श्रीगणेशाय नमः।

यन्नाम्नोपनिषत् ख्याता तपनं तं विधिं गुरुम्।
प्रणम्योपासनागर्भां तद्व्याख्यां श्रद्धयारभे॥ १॥
आनुष्टुभात् सामराजान्नारसिंहादिदं जगत्।
जातं यस्मिन् स्थितं लीनं नमस्तस्मै चिदात्मने॥ २॥

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा इति मन्त्रान्तर्गतभद्रपदव्याख्यान-परामृचमादितः शान्तौ पठन्नन्याभ्यः श्रौत-स्मार्त्त-पौराणिक-कल्प-प्रतिपादिताभ्यः साकारब्रह्मविद्याभ्य इयं सुभद्रेति दर्शयति। 'भद्रं' कल्याणम्, 'कर्णेभिः' इति च्छान्दसम्, कर्णैः 'शृणुयाम' शृणुमः। 'देवाः' सन्तो* वयं 'भद्रं' कल्याणं पश्येम, 'अक्षभिः' चक्षुभिः, 'यजत्राः' यजनशीलाः, 'स्थिरैरङ्गैः' हृदयाद्यैः सामाङ्गैः

* देवा द्योतनवन्तः सन्तः, यद्वा हे देवा ब्रह्मादयः! इति नारायणो व्याख्यत्।

प्रणव-सावित्र-यजुर्लक्ष्मी-नृसिंहगायत्रीरूपैः मूलमन्त्राङ्गव्याख्यानपरैः, 'तनूभिः' स्तुतिमन्त्रैः "यो वै नृसिंहो देवो भगवान् यश्च ब्रह्मा तस्मै वै नमोनमः" इत्याद्यैः, तुष्टुवांस इति स्तुतिसाधनत्वेनोक्तत्वात् तनूशब्देन मन्त्रा गृह्यन्ते, तथा अङ्गशब्देन च। 'तुष्टुवांसः'स्तुवानाः स्तुतिं कुर्वाणाः, 'व्यशेम' विगतरोगं विविधैहिकामुष्मिक-सुखभोगक्षममशेषं प्राप्नुयाम। 'आयुः' इति प्रत्येकं सम्बध्यते। 'यद्देवहितं'* देवस्तापनीयोक्तविद्ययोपास्यः तत्तदवसरोचितकारणे बुद्ध्या शिक्षन् हितमाचरति यस्मिन्नायुषि तथोक्तमायुर्व्यशेमेति सम्बन्धः।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥२॥
ओं शान्तिः, ओं शान्तिः, ओं शान्तिः।

स्वस्ति न इत्यत्र स्वस्तिपदानां चतुर्णामपोनरुक्त्यं यास्कवचनाद्यथासङ्ख्यं स्वस्तीत्यविनाशनामेत्यादि, 'स्वस्ति' इत्यविनाशमायुः 'नः' अस्मभ्यमिन्द्रो दधातु। कीदृक् 'वृद्धश्रवाः' वृद्धात् बृहस्पतेः सद्विद्याश्रवणं यस्य स तथोक्तः†। दधातु 'स्वस्ति' इत्याभिमुख्यमुपासनायां नोऽस्मभ्यं पूषा, 'विश्ववेदाः' विश्वानि वेदांसि यस्य स तथोक्तः। अथवा सर्वे वेदा उपासनायामाभि-

---

* देवात् नृसिंहात् हितं यस्मिन् तादृशमिति व्याख्या नारायणेन कृता।

† वृद्धं श्रवः कीर्त्तिर्यस्य, वृद्धात् बृहस्पतेः श्रवोऽध्ययनं यस्येति वा इति नारायणी व्याख्या।

मुख्यं दधतु*। 'स्वस्ति' पूजार्हतां नोऽस्मभ्यं 'तार्क्ष्यों' देवभक्तो महत्मान् 'अरिष्टनेमिः' अहिंसितवज्रो दधातु। 'स्वस्ति' शोभनं नोऽस्मभ्यं दधातु वृहस्पतिरित्यर्थः। अस्मिन् मन्त्रे अस्मच्छब्दो वीप्सया वक्ष्यमाणायां विद्यायामादरं दर्शयति। ओं शान्तिः, ओं शान्तिः, ओं शान्तिः, त्रिधा तु विघ्नोपशान्तिर्वक्ष्यमाणविद्यानुष्ठाने।

ओम् आपो ह वा इदमासन् सलिलमेव स प्रजापतिरेकः पुष्करपर्णे समभवत्, तस्यान्तर्मनसि कामः समवर्त्ततेदं सृजेयमिति।

आपो ह वा इदमासन्नित्याद्या तदेतन्निष्कामस्य भवतीत्यन्ता तापनीयोपनिषत् श्रीनृसिंहाकारब्रह्मविषया सती निराकारब्रह्मप्रतिपत्त्युपायभूता। अतएव पृथक् सम्बन्धाभिधेय-प्रयोजनानि न वक्तव्यानि। यान्येव तूपनिषत्-सम्बन्धाभिधेय-प्रयोजनानि तान्येवोपनिषद्व्याचिख्यासुना सङ्क्षेपतो वक्तव्यानि। तत्र प्रयोजनसाधनाभिव्यञ्जकत्वेनाभिधेयसम्बद्धं शास्त्रं पारम्पर्य्येण प्रयोजनवत्। किं पुनः प्रयोजनम् इत्युच्यते। रोगार्त्तस्येव रोगनिवृत्तौ स्वस्थता दुःखात्मकस्यात्मनो द्वैतप्रपञ्चस्योपशमे स्वस्थता अद्वैतभावः प्रयोजनम्। द्वैतप्रपञ्चस्य च अविद्याकृतत्वाद्विद्यया तदुपशमः स्यादिति ब्रह्मविद्याप्रकाशनायाऽस्यारम्भः। "यत्र हि द्वैतमिव यत्र चान्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत् पश्येद्विजानीयात्, यत्र

* विश्वं विश्वविषयं वेदो ज्ञानं यस्य विश्ववेदाः इति नारायणेन व्याख्यातम्।

त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत् केन कं पश्येद्विजानीयात्" इत्यादिश्रुतिभ्यो ऽस्यार्थस्य सिद्धिः। तत्र तावदस्यामुपनिषदि इदं परामृश्यते, किं यावद्वेद्यं विद्याभेदः, आहोस्विदन्योऽन्य-विशेषण-विशेष्यभाव-विशिष्टस्य च वेद्यस्यैक्याद्विद्यैक्यमिति। तत्र किं नः प्रतिभाति विद्याभेद इति। तथा हि। प्रथमोपनिषदि लोक-साङ्गसाम-शुद्धसामग्रयादि-सामान्तर्गतस्वरविशेष-क्षीरोदार्णवशायि-नृकेसरि-शङ्कर-सच्चिदानन्द-मयानामन्योऽन्यविशेषण-विशेष्यभाव-रहितानां वेद्यानां श्रवणात्, तथा प्रणवानुष्टुबङ्गपद-पादार्थशक्ति-शक्तिबीज-निर्णयः, सामाङ्गमन्त्रचतुष्टयानां वेद्यानां द्वितीय-तृतीय-चतुर्थोप-निषत्सु यथासङ्ख्यं श्रवणात् अन्त्योपनिषदि महाचक्रविद्या श्रूयते।

ननु अन्योऽन्यविशेषण-विशेष्यभाव-रहितानामप्यङ्गाङ्गिभावो भवतु। नेति ब्रूमः। "फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्" इति न्याय-वैषम्यात्। तथा हि। लोकादितत्तद्वेद्यानां फलसम्बन्धेन "यो जानीते सोऽमृतत्वञ्च गच्छति" इत्यसकृच्छ्रवणात्। ननु लोकादीनामन्योऽन्य-विशेषण-विशेष्यभाव-रहितानामपि नृसिंहाकारब्रह्मणा सह विशे-षण-विशेष्यभावसम्भवात्। तथा हि। "सर्वान् लोकान् सर्वान् देवान् सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतान्युद्गृह्णात्युद्गृष्यते" इत्यादि पदव्याख्याने सर्वेषां वेद्यानां तत्सम्बन्धश्रवणात्, अतो विशिष्टस्य वेद्यस्यैक्या-द्विद्यैक्यमिति। अत्रोच्यते। सत्यं श्रूयते सम्बन्धः, तथाप्यर्थ-वादत्वात् न विवक्ष्यते, अर्थवादस्य विध्यश्रवणात्, उद्गृह्णाति विस्मति व्याप्नोति ज्वलति पश्यति पलायन्ते ददाति मारयति नमन्तीत्येवं वर्त्तमानापदेशाच्च। न च वाच्यम्, अधस्तात् ओङ्कारे "तस्य ह वा उग्रं प्रथमं स्थानं जानीयात्" इतिविधिः श्रूयत इति यतस्तत:

प्रागपि "प्रत्यक्षरमुभयत ओङ्कारो भवति" इतिविधिबलात् प्रणवाक्षरमिश्रणेन मूलमन्त्राक्षरव्यत्ययात् तत्तत्पदाज्ञाने प्राप्ते तत्तत्पदपरिमाणज्ञापनार्थं विधिरुपक्षीणः सन् न तत्पदार्थानां श्रीनृसिंहब्रह्मणा सह सम्बन्धं विधातुं शक्नोति। अतो यावद्देयं विद्याभेद इत्येवं प्राप्तम्, एवं प्राप्तेर्ब्रूमः। सत्यम्। पृथिव्यादिलोकानां परस्परं विशेषणविशेष्यभावो नावगम्यते, प्रत्युत प्रत्येकञ्च वेद्यता श्रूयते जानीयादिति, तथापि नृसिंहब्रह्मणा सह सम्बन्धस्तत्र तत्र श्रूयमाणः केन निवारयितुं शक्यते। तथा हि। 'स एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभमपश्यदित्यादौ "तेभ्य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं प्रायच्छत्, य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं प्रतिगृह्णीयात्" इत्यादि, मध्ये पुनश्च "आनुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्याङ्गमन्त्रान् नो ब्रूहि" इति, "मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं भवति" इत्येवं मध्ये श्रावयित्वा, अन्ते, "अथ एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते" इत्यसकृदन्यस्यादिमध्यावसानेषु नृसिंहब्रह्मसम्बन्धित्वेन सङ्कीर्त्तनाद्विद्याया ऐक्यमिति निश्चितेन तत्सम्बन्धित्वेन यथायोग्यतया तदन्तर्गतपदजातं सामसम्बन्धिसमस्तं यथायोग्यतया वर्णनीयम्। अपिचान्त्योपनिषदि फलकथनावसरे कृत्स्नां श्रीनृसिंहब्रह्मविद्यामभिधाय "य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते" इत्येतन्मन्त्रनारसिंहानुष्टुभशब्दानां कृत्स्ननृसिंहब्रह्मविद्याभिधायकत्वेन निश्चितानामसकृच्छ्रुतानामेवादौ "एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभमपश्यत्" इति श्रवणात् तदन्तरालवर्त्ति पदजातं नृसिंहब्रह्मविद्यासम्बद्धमिति निर्णीयते। तत्सम्बन्धश्च तत्तत्पदव्याख्यानावसरे स्पष्ट एव प्रदर्श-

यिष्यते। अपिच, वाक्यान्वयादिति न्यायेन सर्वमेवेदं प्रकरणं नृसिंहब्रह्मविद्याप्रकरणमिति गम्यते। अथ यदुक्तं पदव्याख्याने, वाक्यानां नृसिंह-ब्रह्मविद्या-सम्बन्ध-समर्पकाणां विध्यश्रवणाद्वर्त्तमानापदेशाच्चार्थवादत्वमिति, तदयुक्तम्, अधस्तात्पदोद्धारे, "तस्य ह वा उग्रं प्रथमं स्थानं जानीयात्" इतिविधिः स्पष्ट एव श्रूयते। तत्र च विधौ तच्छब्देन साङ्गस्य मूलमन्त्रस्य परामर्शादङ्गानाञ्च द्वैविध्या-मूलमन्त्राङ्गमन्त्राणां सामाङ्गमन्त्राणां यथायोग्यतया व्याख्यान-व्याख्येयभावेनावस्थितत्वात् कृत्स्नैव नृसिंह-ब्रह्मविद्यावगम्यते। स च विधिरनुषङ्गन्यायेन सर्वपदसम्बन्धः स्पष्ट इति। ननु तत्राप्युक्तं पदज्ञानार्थं तदिति। तन्न। "प्राक् प्रत्यक्षरमुभयत ओङ्कारो भवति" इति वाक्यादर्थज्ञानेन पदाज्ञाने प्राप्ते तत्पुरःसरमेव पद-ज्ञानमिति। नन्वेवं तच्छेषत्वेनोपरिष्टादर्थकथनमनुपपन्नम्, नानुप-पन्नम्, उपरिष्टाद्धि कस्मादुच्यते, कस्मादुच्यत इति, अर्थपुरःसरमेव पदं स्पृष्ट्वा अर्थमुपसंहरति तस्मादिदमुच्यते तस्मादिदमुच्यते, अतोऽवगम्यते प्रागप्यर्थज्ञानपुरःसरमेव पदज्ञानमिति, अतः सर्व-पदसम्बन्धि-विधिश्रवणं स्पष्टमिति। किञ्च सर्वेषां पदानामर्थ-माश्राव्य, अन्ते, य एवं वेदेति विधिश्रवणात् वेदेति वर्त्तमानत्वात् कथं विधिरिति चेत्, न, वचनानित्वपूर्वत्वादिति न्यायात्, य एवं वेदेति, यः 'एवं' प्राक्तनमर्थजातं श्रीनृसिंहब्रह्मसम्बन्धं 'वेद' उपास्ते। उपनिषदि साकारब्रह्मविद्याप्रकरणे पठितानां वेदोपासनाज्ञान-ध्यानपदानामुपासनार्थत्वेन निर्णीतत्वात्, अतो नायमर्थवाद इति। अतः पञ्चसूपनिषत्सु न यावद्द्वयं विद्याभेद इति सिद्धम्।

आपो ह वा इदमासन्नित्यादिना श्रीनृसिंह-ब्रह्मविद्या-प्रकरण-

माख्यायिकापूर्व्वमवतारयतीयमुपनिषत्। तत्र तावत्प्रथमोपनिषदि सामसम्बन्धित्वेन पृथिव्यन्तरिच-द्यु-ब्रह्म-वेद-साङ्गसामाग्नि-सूर्य्य-चन्द्र-ब्रह्मादिदेवानां सामोद्धारपूर्व्वकं चीरोदार्णवशायिनुग्रपविष्टे वा शेषभोगमस्तकपरिवृत्ते (१) नृकेसरिणि योगारूढ़े वरदाभयहस्ते त्रिनेत्रे शङ्करे पिनाकहस्ते सच्चिदानन्दमये ब्रह्मविवर्त्ते उपासने(२)। तस्मिन्नेव द्वितीयोपनिषदि प्रणवोपासनापूर्व्वक-सामरहितानुष्टुभमन्त्र-पञ्चाङ्गपदोद्धारपूर्व्वक-पदव्याख्याकथन-गुणविशिष्टोपासनम्। तस्मिन्नेव तृतीयोपनिषदि सामान्वितत्वेन मूलमन्त्रसम्बन्धित्वेन च शक्तिवीजकथनं तन्निर्णयश्च। तस्मिन्नेव चतुर्थोपनिषदि मूलमन्त्राङ्गमन्त्र-सामाङ्गमन्त्रैः प्रणवेन हृदयं सावित्रेण शिरो महालक्ष्म्या शिखां व्याख्याय नृसिंहगायत्र्या कवचं व्याचष्टे। महाचक्रे द्वात्रिंशद्दूरहदेवतोद्देशपूर्व्वक-पुरश्चरणमन्त्रांश्च। पञ्चमोपनिषदि मन्त्रवर्णेभ्यो द्वात्रिंशद्दूरहान् महाचक्रे विन्यस्य तत्स्वरूपकथनेनास्त्रमन्त्रं व्याख्यामः।

श्रीनृसिंहब्रह्मविद्यानुष्ठातुः फलं व्याचष्टे॥ 'आप आसन्' इतिसम्बन्धः। 'वै' प्रसिद्धम् 'इदम्' प्रत्यचादिदृष्टं सलिलं बह्वेव, 'स प्रजापतिः' स इति पूर्व्वपरामर्शिना तच्छब्देन पुंलिङ्गेन प्रक्रतं परामृशति, "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" इति श्रुतेः ब्रह्मा प्रजापतिः 'एकः' सन् 'पुष्करपर्णे' पद्मपत्रे 'समभवत्' आसीत्। 'तस्य' प्रजापतेः 'मनसि' अन्तःकरणे अन्तर्वर्त्ती 'कामः' इच्छा 'समवर्त्तत इदं सृजेयमिति' सृष्टिविषय इत्यर्थः।

---

१ ग, परिवृते। २ ग, उपासनम्।

तस्मात् यत् पुरुषो मनसाभिगच्छति, तद्वाचा वदति, तत् कर्मणा करोति, तदेषाभ्युक्ता, कामस्तदग्रे समवर्त्तताऽधि-मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्य कवयो मनीषेति, उपैनं तदुपनमति, यत्कामो भवति,(१) स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा।

तस्मात् यत् पुरुषो 'मनसाभिगच्छति' अन्तःकरणेनेच्छति, तद्वाचा वदति। वाग्वदनपूर्व्वकं कर्म्मकरणं लोकप्रसिद्धं दर्शयति तत् कर्म्मणा करोतीति। उक्तमेवार्थं द्रढ़यितुमृचं साचित्वेनो-द्भावयति तदेषाभ्युक्तेति, अर्थदार्ढ्यं हि ऋग्भिर्नीतैव, सामयजुषो-रर्थशैथिल्यमपि सम्भाव्यते, "यद्वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं तद्यदृचातटम्" इतिश्रुतेः। तस्मिन्नेवार्थे 'एषा' ऋक् वक्ष्यमाणा 'अभ्युक्ता' आभिमुख्येनोक्ता, मनसः कामस्तदग्रे सम-वर्त्तत, 'रेतः'* उदकं, 'प्रथमम्' आदौ सृष्ट्यवसरे 'यदासीत्' यस्मात् कारणादासीत्। अथवा, कालनिर्द्देशो यदेति, यस्मिन् काले प्रथममुदकमासीत्तदैव मनसः, 'अधि' इत्युपरिविषये सृष्टि-विषये समवर्त्ततेत्यर्थः। 'सतः' ब्रह्मणः 'बन्धु' बन्धनं विवर्त्तं 'कवयः' विपश्चितः हृदि निरविन्दन्, 'असति' ब्रह्मणि अस-च्छब्दस्य नामरूपाव्याकृतत्वेन ब्रह्मणि प्रयुक्तत्वात् "असदसद्वा इद-

---

१ म, च, चिह्नितपुस्तकद्वये भवतीत्यनन्तरं "य एवं वेद" इत्यतिरिक्तः पाठो विद्यते, स च बहुषु पुस्तकेष्वदृष्टतया भाष्यासम्मततया च मूले नैव निवेशितः।

* रेतः सामर्थ्यमिति नारायणी दीपिका।

मग्र आसीत्” इत्यादौ। ‘हृदि’ अन्तःकरणे ‘प्रतीष्य’ प्रत्यगात्मानमवेत्य ‘मनीषा’ मनीषया निश्चितबुद्ध्या ब्रह्मणि ब्रह्मणो बन्धुं बन्धुमिव बन्धुं परब्रह्मव्याकर्त्तारं चीरोदार्णवादि-विशेषण-विशिष्टं भाविस्रष्टेः स्रष्टारं मूलमन्त्रसामाद्युपास्यं हृदि निरविन्दन्नित्युत्तरार्धस्य गूढोऽभिप्रायः। इतिशब्द ऋक्समाप्तिं द्योतयति। ‘उपैनं’ कामिनं ‘तत्’ काम्यमुपनमति यस्मिन् कामो भवति ‘सः’ प्रजापतिः ‘तपः’ “मनसश्चेन्द्रियाणाञ्च ऐकाग्र्यं परमं तपः” इति स्मरणात्, ‘अतप्यत’ मनस इन्द्रियाणाञ्चैकाग्र्यमकरोत्। स प्रजापतिः तपस्तप्त्वा पूर्वं व्याख्यातम्।

स एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभमपश्यत्, तेन वै सर्व्वमिदमसृजत, यदिदं किञ्च। तस्मात् सर्व्वमिदमानुष्टुभमित्याचक्षते, यदिदं किञ्च।

‘सः’ प्रजापतिः ‘एतं’ प्रकृतं सर्वनाम्नोपात्तं सतो बन्धुमित्यनेन गूढाभिप्रायेण सूचितं ज्योतिश्चरणाभिधानादितिन्यायेन ‘मन्त्रराजं’ प्राकरणिकमन्त्राणां राजानं प्रधानभूतं सामराजं वा, मन्त्रशब्दस्य “अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदो विदुः ऋचः सामानि यजूंषि” इत्यादौ साम्न्यपि प्रयुक्तत्वात्। ‘नारसिंहं’ नृसिंहसम्बन्धि सामादि तद्धितात्। नृसिंहगायत्र्यादिप्राप्तौ तद्व्यावृत्त्यर्थम् ‘आनुष्टुभम्’ इत्यनुष्टुप्छन्दः तच्छन्दउपाधिकम् विशेषमाह गायत्रमेतदहर्भवतीतिन्यायात्। ‘अपश्यत्’ दृष्टवान् इत्यभिप्रायः। एतदुक्तं भवति, द्वितीय-तृतीय-

चतुर्थ-पञ्चमोपनिषत्सु मन्त्रराजादिनयः शब्दाः प्रयुक्ताः तत्पुरुष-बहुव्रीहि-तद्धितसामर्थ्यात् पूर्वपूर्वोपनिषदर्थमाचक्षाणाः सन्त एवादौ प्रयुक्ताः कृत्स्नामेव ब्रह्मविद्यां सङ्गृहीतवन्तः। अतश्च वक्ष्यमाणां कृत्स्नामेव ब्रह्मविद्यामपश्यदित्यर्थः। 'तेन' प्रागुक्तेन। 'वै' प्रसिद्धं 'सर्वमिदमसृजत' प्रत्यक्षादिसिद्धमसृजत। यदिदं किञ्च सृष्टम्। तस्मात्सर्वमिदमानुष्टुभमित्याचक्षते यदिदं किञ्च। मन्त्रराज-नारसिंहशब्दौ विहायानुष्टुभमिति तद्धितप्रयोगाद्द्वात्रिंश-दक्षराणामेव तत्रान्नस्य सामर्थ्यं दर्शयत्येव।

**अनुष्टुभो वा इमानि भूतानि जायन्ते, अनुष्टुभा जातानि जीवन्त्यनुष्टुभं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तस्यैषा भवत्यनुष्टुप् प्रथमा भवत्यनुष्टुबुत्तमा भवति वाग्वा अनुष्टुप् वाचैव प्रयन्ति वाचैवोद्यन्ति, परमा वा एषा छन्दसां यदनुष्टुबिति ॥**

प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

अत्रेत्याख्यायिकायां किल प्रजापतिस्तपसा लोकत्रयसृष्ट्यर्थमेव कारणं जिज्ञासुरत्यन्तशुद्धान्तःकरणत्वात् शक्तित्रययुक्तां ब्रह्मस्वरूपिणीं भूतसृष्टिपुरःसरमेव सर्वसृष्टिकारणिकामनुष्टुब्रूचमपश्यदित्याह। अनुष्टुभो वा इमानि भूतानि जायन्तेऽनुष्टुभा जातानि जीवन्त्यनुष्टुभं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति जन्माद्यस्य यत इत्यस्य ब्रह्मलक्षणलक्षितत्वं दर्शयति। उक्तमेवार्थं द्रढयितुमृचं साक्षित्वेनोद्भावयति। 'तस्य' ब्रह्मरूपस्य साक्षिणी 'एषा' वक्ष्यमाणा ऋग्भवति अनुष्टुप् प्रथमा भवति सर्वसृष्टेः 'प्रथमा' आद्या भवति अनुष्टुप्

'उत्तमा' श्रेष्ठा भवति 'वाग्वा अनुष्टुप्' सर्वो वाक्प्रपञ्चोऽनुष्टुभि लीन इति दर्शयति। नामसृष्टिपूर्वकत्वाद्रूपसृष्टेर्वाग्रूपत्वादनुष्टुभः अनुष्टुबेव मूलकारणं 'वाचैव प्रयन्ति' अनुष्टुभैव प्रलयं गच्छन्ति भूतानि 'वाचैव' अनुष्टुभैव 'उद्यन्ति' उत्पत्तिं गच्छन्ति 'परमा वा एषा च्छन्दसाम्' गायत्र्यादीनां छन्दसां वेदानां वा परमा उत्कृष्टा, परमत्वञ्च सामाधारत्वादनुष्टुभः, साम्नश्च परमत्वं "देवा वैनर्चितयजुष्यश्रयन्त ते साम्नेवाश्रयन्त" इतिश्रुतेः, वेदानां सामवेदोऽस्मीति स्मृतेश्च। 'यदनुष्टुबिति' इतिशब्द ऋक्समाप्तिं द्योतयति ॥१॥

ससागरां सपर्वतां सप्तद्वीपां वसुन्धरां तत्साम्नः प्रथमं पादं जानीयात्। यक्षगन्धर्वाप्सरोगणैः सेवितमन्तरीक्षं तत्साम्नो द्वितीयं पादं जानीयात्। वसुरुद्रादित्यैः सर्वैः सेवितं दिवं तत् साम्नस्तृतीयं पादं जानीयात्। ब्रह्मस्वरूपं निरञ्जनं परमव्योम्निकं तत्साम्नश्चतुर्थं पादं जानीयात्। यो जानीते सोऽमृतत्वञ्च गच्छति।

एवं तावदाख्यायिकायामन्ते सकल-नृसिंहोपासना-सङ्ग्राहकान् मन्त्रराज-नारसिंहानुष्टुप्शब्दान् विज्ञाय तैरेव शब्दैः सकलोपासनां सूच्यर्थं प्रजापत्यनुष्ठितां सङ्गृह्य अथेदानीमविशेषेणानुष्ठाने प्राप्ते तत्र तावत् साम्न ऋगक्षराभिव्यञ्जकत्वादभिव्यञ्जकाभिव्यङ्ग्ययोरभिव्यञ्जकपूर्वकत्वात् साम्नश्च सर्व-

वेदश्रेष्ठत्वात् "देवा वैनर्च्चितयजुष्यश्रयन्त ते साम्नैवाश्रयन्त" इति श्रुतेर्वेदानां सामवेदोऽस्मीति स्मृतेश्च अस्य च सामराजत्वात् तदुपासनायां मात्रायां क्रमसूचनपूर्विकां तामाह। ससागरां सपर्वतां सप्तद्वीपां वसुन्धरां तत्साम्नः प्रथमं पादं जानीयादिति। यथाकथञ्चिदुपासनारूपे प्राप्ते ससागरामिति प्रथमत एव सागरसङ्कीर्त्तनेन सागरपूर्विकामुपासनां द्योतयति, अतएव न पृथिवीविशेषणं सागर इति केचिद्व्याचक्षते। ततश्च प्रथमतः सागरं क्षीरोदार्णवं ध्यात्वा तच्छायिनि उपविष्टे वा तस्मिन् पश्चाद्गन्यारूमकसामयोः कृत्वा तस्मिन्नेव सपर्वतामित्याद्युपासनां सह सागरेण वर्त्तनं यस्या उपासनायास्तां ससागरां जानीयादित्यनुषङ्गः, ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठेत्यादेरानन्दमयाद्विच्छेदमिवेति। तदयुक्तम्, न तावद्विशिष्टामुपासनां ससागरशब्दस्तावदाह किन्तु बहुक्रमके पदार्थजाते तद्वादिन्यायेन सूचयति। तदन्यविशेषणत्वेनैकवाक्यत्वेऽपि समानं तस्माद्बहुक्रमकमुपासनं प्रथमत एव सागरशब्दोपादानात् क्षीरोदार्णवपूर्वकं ज्ञेयम्। ततश्चायमर्थः 'तत्साम्नः' तस्या न्यस्ताया अनुष्टुभो न्यस्तस्य च साम्नः प्रथमं पादं क्षीरोदार्णवशायिन उपविष्टस्य वा नृकेसरिण उक्तविशेषणविशिष्टां वसुन्धरां हृदयमङ्गं हृदयान्तर्वर्त्तित्वेन जानीयादित्यर्थः। एवमुत्तरेष्वपि त्रिषु पादेषु यक्षगन्धर्व्व-वसुरुद्र-ब्रह्मस्वरूपं लोकसाहचर्याद् ब्रह्मलोकं तत्साम्नः तस्या न्यस्ताया अनुष्टुभो न्यस्तस्य च साम्नो द्वितीयं तृतीयं चतुर्थं पादं तस्य नृकेसरिणः शिरः-शिखाकवचान्तर्वर्त्तित्वेन जानीयादिति योजनीयम्। एवं नृकेसरिणं यो जानीते सोऽमृतत्वञ्च गच्छतीति गमनोपादानात् कार्य्यममृतत्वं न कैवल्यम्।

कार्य्यं वादरिरस्य गत्युपपत्तेरिति न्यायात् । अथवा देहान्ते देवः परं ब्रह्म निर्गुणं ब्रह्मतारकं तारकमात्राभिः प्रणवमात्राभिः प्रत्यग्ब्रह्मणोरेकत्वं व्याचष्टे इत्यन्ते श्रवणादमृतत्वं कैवल्यमेवमुपरिष्टादुभयथास्यामृतत्वं श्रूयमाणं व्याख्येयम् ।

**ऋग्यजुःसामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सशाखाश्चत्वारः पादा भवन्ति, किं ध्यानं किं दैवतं कान्यङ्गानि कानि दैवतानि किं छन्दः क ऋषिरिति ॥ द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥**

ऋग्यजुः-सामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सशाखाश्चत्वारः पादा भवन्तीति महाचक्रं व्याख्यातम् । तस्य ताभ्यां क्षीरोदार्णवशायिन उपविष्टस्य वा नृकेसरिणः क्रमप्राप्तं पञ्चममङ्गमस्माभ्यं वक्ष्यामः । नन्वेवं साङ्गोपासनामपरिसमाप्य कोऽयं मध्ये प्रश्नोपक्रमः पिशाचजल्पितमिव किं ध्यानं किं दैवत कान्यङ्गानि कानि दैवतानि किं छन्दः क ऋषिरिति ध्यान-देवताङ्गाङ्गदेवता-च्छन्द-ऋषीणां प्रश्नः । अत्रोच्यते । अत्र किलाख्यायिकायां प्रजापतिर्विरक्तेभ्यो देवेभ्यः सामद्वारिकामुपासनां परिसमाप्य तुष्णीं बभूव श्रोतॄणां बोधं परीक्षितुं किं प्रागुक्त एवार्थे अवान्तरविशेषं पृच्छन्ति अन्यदप्यर्थजातं तदुपयोगि । नचेति । अनेनाभिप्रायेण मध्य एव प्रश्नोपक्रमः । तत्र षट्प्रश्नानां(१) प्रथमप्रश्ने जानीयादिति प्रागुक्तं विधौ उपरिष्टाच्चोपनिषदामासमाप्तेर्ज्ञानमात्रं ध्यानं वेति प्रश्नः । जानीयादिति विधौ अभ्यासस्य ध्यानस्याश्रवणात् । तत्रोत्तरापदाना-

१ क, ख, ग, षट् प्रश्नां ।

दप्रतिसिद्धमनुमतं भवतीति न्यायाज्जानीयादित्यत्र ध्यायेदित्यर्थः, ध्यायतिर्ज्ञानाभ्यासे वर्त्तते। किं दैवतं किं छन्दः क ऋषिरिति प्रश्नत्रये नारसिंहानुष्टुभ-तद्धितश्रवणात्। स्वस्यैव ब्रह्मणः प्रजापतेः कथकत्वेन दैवत-च्छन्द-ऋषित्वेनोत्तरं "यस्य वाक्यं स ऋषिः, या तेनोच्यते सा देवता" इत्याश्वलायनस्मरणात्। इति शब्दः प्रश्नसमाप्तिं द्योतयति ॥ २ ॥

स होवाच प्रजापतिः स यो ह वै तत् सावित्रस्याष्टाक्षरं पदं श्रियाभिषिक्तं तत्साम्नोऽङ्गं वेद, श्रिया हैवाभिषिच्यते, सर्वे वेदाः प्रणवादिकास्तं प्रणवं तत्साम्नोऽङ्गं वेद, स त्रीँ-ल्लोकान् जयति, चतुर्विंशत्यक्षरा महालक्ष्मीर्यजुस्तत् साम्नो-ऽङ्गं वेद, स आयुर्यशः कीर्त्तिज्ञानैश्वर्य्यवान् भवति। तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयात्, यो जानीते सोऽमृतत्वञ्च गच्छति। सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्री-शूद्राय नेच्छन्ति,(१) द्वात्रिंश-दक्षरं साम जानीयात्, यो जानीते सोऽमृतत्वञ्च गच्छति। सावित्रीं लक्ष्मीं यजुः प्रणवं यदि जानीयात् स्त्रीशूद्रः स मृतोऽधो गच्छति। तस्मात् सर्वदा नाचष्टे, यद्याचष्टे स आचार्यस्तेनैव मृतोऽधो गच्छतिः ॥ तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

अत्र किल षट्प्रश्नानां प्रश्नचतुष्टयनैरपेक्षेण अङ्गपूर्वकत्वादङ्गि-

१ ख, नेच्छति।

ज्ञानस्य पारिशेष्याच्च साम्नोऽङ्ग-तद्दैवत-प्रश्नद्वयेन स प्रजापतिः श्रोतॄणां बोधमर्थिनामावेद्य ह हर्षित उत्तरमुवाच। स यो ह वै इति। वीप्सया हर्षनिर्भरतां दर्शयति। सावित्रस्याष्टाक्षरं पदं 'श्रियाभिषिक्तं' श्रीबीजेनाभिषिक्तम् उपरिष्टात् श्रीबीजमित्यर्थः। तत्साम्नोऽङ्गं वेदेत्यभिषिक्तमिति वदन् शिरःपूर्वकत्वादभिषेकस्य तस्मिन्नभिषिक्ते शिरोऽङ्गस्थाने साम्नोऽङ्गं वेदेत्यङ्गतां विधत्ते। श्रिया हैवाभिषिच्यत इति अङ्गेषु सर्वत्र फलश्रवणं द्रव्यसंस्कारकर्म्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यादित्यर्थवादः, अनतिघ्नं स्तृणाति प्रजयैवैनं पशुभिरनतिघ्नं करोतीति न्यायेन गुणफलाधिकारो वा। सर्वे वेदाः प्रणवादिकास्तं प्रणवमिति। सर्वे वेदा उपवेदाश्चाष्टाविति, अष्टसङ्ख्यानन्तरं 'तत्स्थाने' हृदयाद्यङ्गस्थाने प्रणवं विदधत् सर्ववेदादिभूतात् प्रणवात् सामाक्षराण्यधिकतराणीति दर्शयति। तत्साम्नोऽङ्गं वेद स त्रीँल्लोकान् जयतीत्युक्तार्थम्। चतुर्विंशत्यक्षरा महालक्ष्मीर्य्यजुः 'तस्मिन्' चतुर्विंशत्यक्षरस्थाने सामतृतीयपादादुपरिष्टात् 'साम्नोऽङ्गं' वेद शिखाङ्गस्थाने इत्यर्थः। स आयुः 'यशः' ज्ञातिप्रशंसावान् 'कीर्त्तिः' जनप्रशंसावान् ज्ञानैश्वर्य्यवान् भवतीत्युक्तार्थम्। यस्मादेवं सामाङ्गफलं तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयात्, यो जानीते सोऽमृतत्वञ्च गच्छतीत्युक्तार्थम्। सावित्रादिमन्त्राणां हृदयाद्यङ्गस्थाने प्राप्तानां मन्त्रादावेवाङ्गत्वविधानार्थमपकर्षः। अपकर्षस्तु प्रक्रमोपसंहाराभ्यां विद्यैक्ये तात्पर्य्यं दर्शयति। 'सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्रीशूद्राय' स्त्री च शूद्रश्च स्त्रीशूद्रं तस्मै स्त्रीशूद्राय नेच्छन्तीति निषेधं कुर्वन् प्रधानोपासनायां स्त्रीशूद्रस्याप्यधिकारं दर्शयति। द्वात्रिंशदक्षरं

साम जानीयादिति द्वात्रिंशदक्षराणां सामसम्बन्धं विधत्ते। यो जानीते इत्याद्युक्तार्थम्। सावित्रीं लक्ष्मीं यजुः प्रणवं यदि जानीयात् स्त्रीशूद्रः स मृतः 'अधः' नरकं गच्छतीति प्रत्यवायदर्शनेन निषेधमेव द्रढ़यति। तस्मात्सर्वदा नाचष्ट इति कदाचिदपि नाचष्ट इत्याचार्य्यस्य निषेधं दर्शयति। यद्याचष्टे स आचार्य्यः 'तेनैवः' कथनेन मृतोऽधो गच्छतीति प्रत्यवाय-दर्शनेन निषेधमेव द्रढ़यति ॥ ३ ॥

स होवाच प्रजापतिः, अग्निर्वै वेदा इदं सर्वं विश्वानि भूतानि प्राणा वा इन्द्रियाणि पशवोऽन्नममृतं सम्राट् स्वराट् विराट् तत्साम्नः प्रथमं पादं जानीयात्। ऋग्यजुः-सामाथर्वरूपः सूर्य्योऽन्तरादित्यो हिरण्मयः पुरुषस्तत्साम्नो द्वितीयं पादं जानीयात्। य ओषधीनां प्रभवति तारापतिः सोमस्तत्साम्नस्तृतीयं पादं जानीयात्। स ब्रह्मा स शिवः स हरिः स इन्द्रः सोऽग्निः सोऽक्षरः परमः स्वराट् तत्साम्नश्चतुर्थं पादं जानीयात्। यो जानीते सोऽमृतत्वञ्च गच्छति। ओं उग्रं प्रथमस्याद्यं ज्वलं द्वितीयस्याद्यं नृसिंहं तृतीयस्याद्यं मृत्युं चतुर्थस्याद्यं साम जानीयात्। यो जानीते सोऽमृतत्वञ्च गच्छति। तस्मादिदं साम यत्र कुत्रचिन्नाचष्टे, यदि दातुमपेक्षते पुत्राय शुश्रूषवे दास्यत्यन्यस्मै शिष्याय चेति ॥ चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

एवं सामाङ्गान्युक्त्वा तदुपासनायां स्त्रीशूद्रव्यतिरिक्तमधिकारिण-मुक्त्वा अन्यप्रश्ने अङ्गदेवतानि वक्तुं सामदेवतैव तत्तत्स्थाने पति-तस्याङ्गस्य देवतेति स प्रजापतिः 'ह' हर्षितः अन्यप्रश्ने उत्तर-मुवाच । अग्निर्वै वेदा इदं सर्वमित्यादि यो जानीते सोऽमृत-त्वञ्च गच्छतीत्यन्तं ससागरामित्यादिना योजनीयम् । एतदुक्तं भवति । क्षीरोदार्णवशायिन्युपविष्टे वा न्यस्तस्य साङ्गस्य सान्नः पादश्च उक्तगुणां पृथिवीं हृदयान्तर्वर्त्तित्वेन अग्निर्वै वेदा इदं सर्वं विश्वानि भूतानि प्राणा वा इन्द्रियाणि पशवोऽन्नममृतं सम्राट् स्वराट् विराट् तस्मात्तः प्रथमपादस्य तदङ्गस्य प्रणवस्य हृदयमन्त्रस्य च दैवतं जानीयादिति पारमेश्वरं हृदयं व्याख्यातम् । तथा यक्ष-गन्धर्वादिगण-विशिष्टमन्तरिक्षं शिरोऽन्तर्वर्त्तित्वेन सर्ववेदमयः सूर्य्यो हिरण्मयः पुरुषस्तस्मात्तो द्वितीयपादस्य शिरोमन्त्रस्य च तद-ङ्गस्य सावित्रमन्त्रस्य च दैवतमिति पारमेश्वरं शिरो व्याख्यातम् । तथा वसुरुद्रादित्यैः सेवितं द्युलोकं शिखान्तर्वर्त्तित्वेन य ओष-धीनां प्रभवति तारापतिश्चन्द्रमास्तस्मात्तस्तृतीयपादस्य तद-ङ्गस्य लक्ष्म्या यजुषश्च शिखामन्त्रस्य च दैवतमिति पारमेश्वरं शिखाङ्गं व्याख्यातम् । तथा ब्रह्मलोकं कवचान्तर्वर्त्तित्वेन स ब्रह्मेत्यादिमन्त्रवर्णात् तस्मात्तश्चतुर्थपादस्य तदङ्गभूताया नृसिंह-गायत्र्याश्च कवचमन्त्रस्य च दैवतमिति पारमेश्वरं कवचं व्याख्यातम् । तथा ओमिति प्रणववहुलेन महाचक्रेण पारमे-श्वरमस्त्रं व्याख्यातम् । लोकानामङ्गेष्वन्तर्भावात् सामाङ्गदेवता-साहचर्यात् 'व्यतिषक्ता वा इमे लोकास्तस्माद्व्यतिषक्तान्यङ्गानि भवन्ति' इति विधायकवचनाच्च इत्येष उपासनाक्रमः ।

एवं तावन्नास्तसामहारिकां पारमेश्वरीमुपासनां परिसमाप्य अथेदानीं न्यस्तं सामोद्धरति। ननु नायं सामोद्धारः किन्तु मन्त्रोद्धार एव, सामशब्दस्तु यौगिक्या वृत्त्या अनेन सामर्थ्येन सह वर्त्तते इति साममूलमन्त्रमाह। तन्न। गीतिषु सामाख्येति गीत्यां सामशब्दस्य रूढ़त्वात् रूढ़िर्योगमपहरतीति न्यायात् सामोद्धार एव। ननु वेदेन सामशब्दो यौगिकः कृतः 'सैव नाम ऋगासीदमो नाम सामेत्युपक्रम्य सा चामश्च सामनामा भवतां तत्सामाभवत्तत्साम्नः सामत्वम्' इतिश्रुतेः। सत्यम्। भवतु यौगिकस्तथाप्युभयोद्धारे सामोद्धारस्तु सिद्ध एव।

एवं रूढ़ेर्वैदिकयोगाच्च सामोद्धारे स्थिते द्वात्रिंशदक्षरं साम जानीयादिति सामान्याकारेण सामसम्बन्धे सिद्धे विशेषाकारेण मूलमन्त्राक्षराणां सामसम्बन्धं विधातुमाह। उग्रं प्रथमस्याद्यमित्यादिना। अत्र हि सामगानां हस्त-मुख-स्वर-निर्णयो द्रष्टव्यः। सप्तधा हि स्वरः षड्जादिभेदेन। तत्र हस्तगतस्वरानुसारेण मुखेन गीत्युच्चारणम्। तत्र हस्ताङ्गुष्ठोत्तमपर्वणः क्रोष्टकसञ्ज्ञे उच्चीभावे कृते सर्वोदात्तां त्रिमात्रां चतुर्मात्रां वा कृत्वा विहिताक्षरेषु गीतिं गायेत्। तमाद्यं निरपेक्षं स्वरमित्याचक्षते। ततोऽङ्गुष्ठोत्तमपर्वणो वक्रीभावे कृते पूर्वोदात्तापेक्षया अनुदात्तामुत्तरापेक्षयोदात्तामेवमेवाङ्गुष्ठेन तर्ज्जनीस्पर्शे कृते तत्सन्निहिताङ्गुलिस्पर्शे उपकनिष्ठिकास्पर्शे (१) कनिष्ठिकामध्यपर्वस्पर्शे कृते पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्तरापेक्षयोदात्तानुदात्तात्मिकां विहिताक्षरेषु गीतिमुच्चार्य्य

१ क, ख, कनिष्ठिकास्पर्शे।

अङ्गुष्ठेन कनिष्ठिकामूलपर्वस्पर्शे कृते सर्वामुदात्तां गीतिमुच्चारयेत्, तं ज्वलं स्वरमित्याचक्षते। एवं मुखहस्ताभ्यां षड्जादयो यथाक्रमं सप्त स्वरा निष्पद्यन्ते। स एष सामगानां सर्वसामसाधारणः स्वरनिर्णयः। ततश्च। उग्रं॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ गीतिमात्रासङ्ख्या। 'उग्रं प्रथमस्याद्यं' सर्वोदात्तं सामपदानुषङ्गादुक्ते अक्षरद्वये 'आद्यं' आद्यस्वरात्मकं साम जानीयादिति विधीयते। अन्यथा प्रथमपादस्याद्यमक्षरद्वयं जानीयादित्यन्वये द्वितीयोपनिषदुक्तपदोच्चारादेव ज्ञातत्वादप्राप्ते शास्त्रमर्थवदितिन्यायो वाधितःस्यात्, सामपदस्य च व्यर्थता स्यात्, उभयविधाने च वाक्यभेदःस्यात्। वेदितव्य-सामसम्बद्ध-स्वरविशेषे विहिते अनिर्द्धारित-स्वरविशेषकं साम कथं विधातुं शक्यते; तस्मान्मूलमन्त्रोक्तप्रथम-पादाक्षरद्वयस्याद्यशब्दोक्त-स्वरविशेषात्मक-साम-सम्बन्ध एवेति विधीयते। एवमुत्तरेष्वपि त्रिषु वाक्येषु योजनीयम्। 'ज्वलं'॥ ४ ॥ ५ ॥ गीतिमात्रासङ्ख्या। द्वितीय-पादस्याद्यं साम गीतिं जानीयात्। 'नृसिं'॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ गीतिमात्रासङ्ख्या। तृतीयस्याद्यमित्युक्तार्थम्। 'मृत्यु'॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ गीतिमात्रासङ्ख्या। चतुर्थस्याद्यमित्यादि गच्छतीत्यन्तमुक्तार्थम्। यस्मादिदं साम परमरहस्यतरं तस्मादिदं साम यत्र कुत्रचित्पुंसि माचष्ट इति कथयितुर्निषेधः। यदि दातुमपेक्षते पुत्राय 'शुश्रूषवे' शुश्रूषारताय आचार्य्योपसर्पणेन श्रवणेच्छावते 'दास्यति' दद्यादित्यर्थः। 'अन्यस्मै शिष्याय' प्रागुक्तलक्षणाय चेति। 'इति' शब्दः सामदातृ-प्रतिग्रहीत्रोरधिकारसमाप्तिं द्योतयतिः।४।

चीरोदार्णवशायिनं नृकेसरिं योगिध्येयं परमं पदं साम जानीयात्, यो जानीते सोऽमृतत्वञ्च गच्छति।

एवं तावत् साम्ना सह दाढ्यप्रतिग्रहीत्रोः सम्बन्धं विधाय श्रीचीरोदार्णवशायिनो नृकेसरिणो योगिवदासीनस्य ध्येयस्याश्रयाश्रयि-लक्षण-सम्बन्ध-विशेषोपासनां कृत्स्नफलवतीं विधातुमाह । चीरोदार्णवशायिनम् । ना चासौ केसरी च नृकेसरी तं नृकेसरिणं 'नृकेसरिच्छम्' इति छान्दसम् । 'योगिवदासीनं शेषभोगमस्तकपरिवृतं' रहस्यकल्पान्तर-पर्य्यालोचनया अस्मिन्नेव स्थाने शाखान्तर-श्रुत्यन्तर-पर्य्यालोचनयासीनं शेषभोगमूर्द्धा परिवृतं जानीयात् । द्विशाखागामिनीयमुपनिषत्, भृगुशाखायामाङ्गिरसशाखायाञ्च । 'परमं पदं' परमाश्रयभूतं जानीयादिति सर्वत्रानुषज्यते । सामित्यादि गच्छतीत्यन्तमुक्तार्थम् । एतदुक्तं भवति । यत् साम जानीयात् तदुक्तगुणविशिष्टे नृकेसरिणि साङ्गं न्यस्तं जानीयादित्यर्थः ।

वीरं प्रथमस्यार्द्धान्त्यं, तं स द्वितीयस्यार्द्धान्त्यं, हं भी तृतीयस्यार्द्धान्त्यं, मृत्युं चतुर्थस्यार्द्धान्त्यं, साम जानीयात्, यो जानीते सोऽमृतत्वञ्च गच्छति; तस्मादिदं साम येन केनचिदाचार्य्यमुखेन यो जानीते स तेनैव संसारान्मुच्यते मोचयति मुमुक्षुर्भवति जपात्तेनैव शरीरेण देवतादर्शनं करोति; तस्मादिदमेव मोक्षद्वारं कलौ नान्येषां भवति;

तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयात्, यो जानीते स मुमुक्षु-र्भवति । पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

इदानीं साम्नो द्वितीयोद्गारमक्षराणां स्वरविशेषसम्बन्धार्थमाह । 'वीरं प्रथमस्यार्द्धान्त्यं' प्रथमपादोक्ताक्षरद्वये आद्यार्द्धे प्रथमातिक्रमे कारणाभावादितिन्यायेन 'अन्त्यम्' अन्त्यस्वरात्मकं साम जानीया-दित्यनुषज्यते । अत एवास्मिन् स्थाने शाखान्तरे पाठान्तरम्, वीरं प्रथमाद्यार्द्धस्यान्त्यमिति । विधानविषये प्रागुक्तेचोद्यसमाधाने । ततः 'वी' अनुदात्तात्मिका गीतिर्मात्रासङ्ख्या ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ 'रं' मध्यवर्त्तिस्वरात्मिका गीतिर्मात्रासङ्ख्या ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ एवमुत्तरेष्वपि तदुद्गारवाक्येषु योजनीयम् । 'तंस' द्वितीयस्यार्द्धान्त्य-मित्युक्तार्थम् । 'तं स' द्वितीयाद्यार्द्धस्यान्त्यमिति शाखान्तरे पाठा-न्तरम् । 'तं' अनुदात्तात्मिका गीतिर्मात्रासङ्ख्या ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ 'स' मध्यवर्त्तिस्वरात्मिका गीतिर्मात्रासङ्ख्या ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ 'हं भी' तृतीयस्यार्द्धान्त्यमित्युक्तार्थम्। तृतीयाद्यार्द्धस्यान्त्यमिति पाठा-न्तरम् । 'हं' अनुदात्तात्मिका गीतिर्मात्रासङ्ख्या ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ 'भी' मध्यवर्त्तिस्वरात्मिका गीतिर्मात्रासङ्ख्या ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ 'मृत्युं' चतुर्थस्यार्द्धान्त्यमित्युक्तार्थम् । मृत्युं चतुर्थाद्यार्द्धस्यान्त्यमिति पाठान्तरम् । 'मृ' अनुदात्तात्मिका गीतिर्मात्रासङ्ख्या ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ 'त्युं' पारिशेष्यान्मध्यवर्त्तिस्वरात्मिका गीतिर्मात्रासङ्ख्या ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ सामेत्यादि गच्छतीत्यन्तमुक्तार्थम् । यस्मात् सामैकदेशपरि-ज्ञानात् कृत्स्नफलावाप्तिस्तत्र कृत्स्नसामपरिज्ञाने किमुतेत्याह । तस्मात् 'इदं' विहिताक्षरेषूक्तं कृत्स्नं साम 'येन केनचित्' येन

केनापि सामोद्धारवाक्य-कदम्बकेनापि च जानीते इत्यनुषङ्गः। आचार्य्यमुखेन यो जानीते इत्याचार्य्यमुखोपायान्तरयोर्विकल्पः। यद्वा आचार्य्यशब्दोवेदमभिधत्ते,तस्मादाचार्य्यवचःप्रमाणमित्यादि(१) प्रयोगात्, 'आचार्य्यमुखेन' वेदमुखेन सामोद्धारवाक्य-कदम्बकेनेत्यर्थः। 'स तेनैव' स्वयमेव सामपरिज्ञानेन संसारान्मुच्यते,'मोचयति' अन्यं वा साम ज्ञापयन्, सामपरिज्ञानात् सरागोऽपि मुमुक्षुर्भवति सङ्ख्यानुपादानात्सकृदेव सामजपात्। यत् साङ्गेन साम्ना पारमेश्वरं शरीरं क्षीरोदार्णवस्थं पदकदम्बकव्याकृतं तेनैव शरीरेण 'देवतादर्शनं करोति' देवता प्रत्यक्षा भवति। यस्मादेवं 'तस्मादिदमेव' साङ्गं सामैव मुख्यं द्वारं देवतादर्शने तद्व्याकृतौ च। 'कलौ' पापबहुले काले 'नान्येषां' सामरहितानाम्। केवलमूलमन्त्रपरिज्ञातॄणां देवतादर्शनं झटिति न भवतीत्यर्थः। यस्मादिदं साङ्गं साम देवतादर्शने देवताकारव्याकृतौ च मुख्यमेव द्वारं तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयात्। 'मुमुक्षुर्भवति'मानुषानन्दारूढोऽपि एतत्परिज्ञानान्मानुषानन्दं विहाय मोक्षेच्छुर्भवति। यद्वा मुमुक्षुरेतज्जानीयादित्यन्वयः, तस्य भवतीति फलनिर्देशः। भूसत्तायामिति धातो रूपम्, साकार-ब्रह्मोपासनाद्वारा तन्माचतां(२) प्राप्नोतीत्यर्थः॥ ५॥

ओं ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं नृकेसरिविग्रहम्। कृष्णपिङ्गलमूर्द्धरेतं विरूपाक्षं शङ्करं नीललोहितम्। उमापतिं पशुपतिं पिनाकिनं ह्यमितद्युतिम्। ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः

१ क, मित्यादौ। २ क, सन्माचताम्।

सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्यो यजुर्वेदवाच्यस्तं साम जानीयात्, यो जानीते सोऽमृतत्वञ्च गच्छति।

एवं तावदृग्यदङ्गमुपास्य-देवताकारव्याकृतौ चमं तदेवाङ्गं निर्द्दिशन्नाह ओमिति, तच्चतुर्थोपनिषदि स्पष्टीकरिष्यन्ति, ओमित्येतदक्षरमित्यादिना, नृकेसरिविग्रहो व्याख्यातः, स न स्वमायया लीलाविग्रहः किन्तु कर्मविपाक-जन्मानुभवरूपाणां केवलतिर्य्यग्रूपाणां मत्स्यकूर्मादीनां केवलातिर्य्यग्रूपाणां वामनादीनां लीलारूपत्वेनैव दृष्टत्वात् अस्य च तद्विलक्षणत्वान्न स्वमायया लीलाविग्रहता स्यादितीमामाशङ्कां मन्त्रवर्णादपनेतुं मन्त्रमाह। 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं नृकेसरिविग्रहं' मा पुरुषश्च केसरी सिंहश्च नृकेसरी, तत्र पुरुषमित्यनूद्य सत्यं परं ब्रह्म जानीयादिति विधीयते। एतदुक्तं भवति। सत्यस्य परब्रह्मणः स्वमायया लीलाविग्रहं पुरुषाकारम् 'ऋतमिति' परमार्थतो जानीयादिति यावत्। यद्वा ऋतं सत्यं परं ब्रह्म ब्रह्मात्मकं पुरुषाकारम् ओमित्योङ्कारेण व्याख्यातम्। 'ऋतमिति' धननाम ऋतमयं हिरण्मयं जानीयादित्यर्थः। अत एव 'सतो बन्धुमिति बन्धुरिति धननाम ब्रह्मणो विवर्त्तं हिरण्मयम् असति ब्रह्मणि हृदि निरविन्दन्निति' केश्चिद्व्याख्यातम्। कृष्णपिङ्गले अक्षिणी यस्य तं तथोक्तम्। 'ऊर्द्ध्वरेतम्' इति च्छान्दसम्। ऊर्द्ध्वरेतस्कं 'योगारूढम्' आसीनं 'विरूपाक्षं' ललाटनेत्रं, ललाटनेत्रेण रौद्रतां प्राप्नोति तद्व्यावृत्त्यर्थं 'शङ्करं' सुखकरं वरदाभयहस्तं शङ्करसाहचर्य्यात् 'नीललोहितमिति' नीलं कण्ठे उपरितनप्रदेशे लोहितम्। नीललोहितौ वर्णौ यथायोग्यतया यस्य तं तथोक्तम्। कल्या-

न्तरे तु श्वेतवर्णम्, एवं सुवर्ण-लोहित-शुक्लाकाराणां विकल्पाः, कामनावशाद्वावस्था वा। 'उमा' गौरी तस्याः पतिः तम्। श्रियं लक्ष्मीमिति सप्त शक्तयो वक्ष्यन्ते। 'पशुपतिः' पशूनां देवानां पतिः पशूनां प्राणिनां वा, यद्वा पशूनां वेदानां गायत्र्यादीनां पतिस्तम्, 'पशवो वै छन्दांसि' इति श्रुतेः। 'पिनाकिनं' पिनाकधनुर्हस्तम्। 'हि' इति निश्चितार्थः, 'अमितद्युतिम्' अमितप्रकाशम्। 'ईशानः' सर्वविद्यानां प्रभुः, 'ईश्वरः' सर्व्वभूतानां प्रभुः। 'ब्रह्माधिपतिः' ब्रह्म तपः मनसो विषयेभ्यो निवर्त्तनं पूर्वोक्तोपासनं तस्याधिपतिः 'ब्रह्मणोऽधिपतिः' ब्रह्मणोऽधिष्ठाता, ब्रह्मेत्यन्ननाम, अन्नं चौरं, ततश्च चौरस्याधिपतिरधिष्ठाता, यद्वा ब्रह्मणोऽथर्ववेदस्याधिष्ठाता। एवं यो 'यजुर्वेदवाच्यः'* प्रागुक्तेन यजुषा वेदेन वाच्यो यजुर्वेदवाच्यः। प्रागुक्तानां गुणानां प्रथमानिर्दिष्टानां जानीयादित्यनेनान्वयं कर्त्तुं विशिष्टतया एकत्वाभिप्रायेण द्वितीयान्ततया निर्दिशति तमिति। तं साम जानीयादिति सामानाधिकरण्य-वैयधिकरण्याभ्यां चौरोदार्णवशायिवाक्यवदुभयं व्याख्येयम् इत्याह। सामेत्यादि। सामानाधिकरण्यात् सर्वस्मिन् मन्त्रवर्णे सामप्राप्तावपि सम्प्रदायात् ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिरित्यत्र साम विहितमिति ज्ञेयम्। सामेत्यादि गच्छतीत्यन्तमुक्तार्थम्। एवं प्रागुक्तमाकारं नृकेसरिण्येव जानीयात्। अत्र केचित् प्रागुक्तमाकारं मन्त्रवर्णात् पृथक्त्वेनोपास्यमाचक्षते। तदयुक्तम्। एवं तर्ह्युपक्रमोपसंहाराभ्यां नृसिंहब्रह्मैक्यमवगतं

---

* यजुषा कृतमित्यादिना ब्रह्मणोऽधिपतिरित्यन्तेन बोधनमन्त्रेण वाच्य इति नारायणी व्याख्या।

वाध्येत। नृसिंहपदव्याख्यानावसरे नृसिंह एवासीत् परमेश्वर इति नृसिंहेश्वरयोः सामानाधिकरण्यमवगतं वाध्येत। तस्मात् त्रिनेत्राद्याकारविशिष्टोऽस्यां विद्यायां नृसिंह एवोपास्य इति सिद्धम्।

मद्दा प्रथमान्तार्द्धस्याद्यं, वंतो द्वितीयान्तार्द्धस्याद्यं, षण्णं तृतीयान्तार्द्धस्याद्यं, नमा चतुर्थान्तार्द्धस्याद्यं, साम जानीयात्, यो जानीते सोऽमृतत्वञ्च गच्छति। तस्मादिदं साम सच्चिदानन्दमयं परं ब्रह्म तमेवं विद्वानमृत इह[1] भवति; तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयात्, यो जानीते सोऽमृतत्वञ्च गच्छति॥ षष्ठः खण्डः॥ ६॥

अथेदानीं तृतीयं सामोद्धारमाह। 'म' पारिशेष्यात् मध्यस्वरवर्त्तिगीतिर्मात्रासङ्ख्या॥३॥४॥५॥ 'हा' सर्वोदात्तात्मिका गीतिर्मात्रासङ्ख्या॥३॥४॥५॥ प्रथमान्तार्द्धस्याद्यमिति। प्रथमपादोक्ताक्षरद्वये अन्त्यार्द्धस्य 'आद्यं स्वरम्' आद्यस्वरयुक्तं साम जानीयादित्यनुषज्यते। 'वं' पारिशेष्यान्मध्यस्वरवर्त्तिगीतिर्मात्रासङ्ख्या॥॥३॥४॥५॥ 'तो' सर्व्वोदात्तात्मिका गीतिर्मात्रासङ्ख्या॥३॥॥४॥५॥ द्वितीयान्तार्द्धस्याद्यमित्युक्तार्थम्। 'ष' पारिशेष्यान्मध्यस्वरवर्त्तिगीतिर्मात्रासङ्ख्या॥३॥४॥५॥ 'णं' सर्वोदात्तात्मिका गीतिर्मात्रासङ्ख्या॥३॥४॥५॥ तृतीयान्तार्द्धस्याद्य-

१ ग, घ, चमृतीह।

मित्युक्तार्थम्। 'न' पारिशेष्यादाद्यस्वरवर्जितगीतिर्मात्रासङ्ख्या॥
॥ ३ ॥ ४ ॥ ५॥ 'मा' सर्वोदात्तात्मिका गीतिर्मात्रासङ्ख्या ॥ ३॥
४॥५॥ चतुर्थान्तार्द्धस्यार्थमित्युक्तार्थम्। सामेत्यादि गच्छतीत्यन्त-मुक्तार्थम्। नन्वचरद्वयमध्ये अन्त्यार्द्धस्येत्यन्त्यस्याचरस्यार्द्धं दीर्घादिमात्रा, तस्या आद्यस्वरसम्बन्धः कस्मान्न विधीयते। तन्न। षष्ठीतत्पुरुषात् कर्मधारयस्य बलीयस्त्वात्। अन्त्यञ्च तदर्द्धञ्च अन्त्यार्द्धं प्रथमापेक्षया द्वितीयमचरमन्त्यञ्च तदर्द्धञ्चेति। अन्यथा अन्त्यस्याचरस्य मात्रा अन्त्यार्द्धमिति षष्ठीतत्पुरुषः। एतया निषाद-स्थपतिं याजयेदिति न्यायात्। नन्वतितुच्छमेतत् मात्राया-मप्याधारापेक्षया कर्मधारयसम्भवात्। सत्यम्। द्वात्रिंशदक्षरं सामेत्यत्र द्वात्रिंशदक्षराणामेव स्वरात्मकसामसम्बन्धः श्रूयते न मात्राणामेव, तस्मादन्त्यार्द्धशब्देन द्वितीयाक्षरस्यैवायं स्वरसम्बन्धो विधीयते इति सिद्धम्। यस्मात् सामैकदेशोऽपि कृत्स्नफलाप्तौ क्षमः किमुत कृत्स्नसामज्ञानम्, 'तस्मादिदं साम सच्चिदानन्दमयं परं ब्रह्मेति'। तादृश-नृसिंहब्रह्म-प्रतिपादक-मूलमन्त्राभिव्यञ्जकत्वात् ब्रह्म जानीयादित्युपसृज्यते। सामाभिव्यक्त-मूलमन्त्र-प्रतिपाद्यो ऽयं नृसिंहाकारः सच्चिदानन्दब्रह्मेत्येकः सम्बन्धः। यद्वा सच्चि-दानन्दमयं ब्रह्मेत्येकः। प्राग्मन्त्रवर्णाद्ब्रह्माकारता प्रतिपादि-ताप्यदृढ़ा स्यादितिशङ्का, तद्व्यावृत्त्यर्थमिदमुच्यते सच्चिदानन्दमयं ब्रह्म जानीयादिति। 'तं' नृसिंहाकारम् 'एवं' उक्तप्रकारेण 'विद्वान्' जानन् 'अमृते' चीरे, पश्चामृतान्यानयेत्यादौ अमृतशब्दस्य चीरे दृष्टत्वात्, 'इहैव' लोके उत्कृष्टो भवतीत्यर्थः। यद्वा एवं पञ्चाङ्गन्यासे कृते इहैव जीवन्मुक्तो भवति आनन्दीभवतीत्यर्थः।

यस्मात् साङ्कं साम तत्त्व-नृसिंहब्रह्मविद्या-प्रतिपादक-मूलमन्त्राभिव्यञ्जकं तस्मादिदमित्यादि गच्छतीत्यन्तमुक्तार्थम्॥ ६॥

विश्वसृज एतेन वै विश्वमिदमसृजन्त, यद्विश्वमसृजन्त तस्माद्विश्वसृजो विश्वमेनाननुप्रजायते, ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकतां यन्ति(१)तस्मादिदं साङ्कं साम जानीयात्, यो जानीतेऽमृतत्वञ्च गच्छति।

अस्य साम्न उक्तप्रकारेण विश्वस्रष्टृत्वं दर्शयितुमाह। विश्वसृजः 'एतेन' साम्ना नृसिंहब्रह्मविद्या-प्रतिपादक-मूलमन्त्राभिव्यञ्जकेन 'वै' प्रसिद्धं विश्वं सर्वमिदमसृजन्त। 'यत्' यस्मात् सर्वमसृजन्त तस्माद्विश्वसृज इति। विश्वसृक्शब्दं निर्वक्ति विश्वमेनाननुप्रजायते ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकतां यन्तीत्युपासकानां तादात्म्यभेदोपासनया भेदेन फलनिर्देशो ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकतां यन्तीति। यस्मात् साक्षात् साम्न ईदृशमुपासकानां फलं तस्मादिदमित्यादि गच्छतीत्यन्तमुक्तार्थम्। तस्मादिदं साङ्कं सामेत्यसकृदभ्यासेनायमभिप्रायः साङ्कसाम्नैव तत्त्वब्रह्मविद्याप्रतिपादक-मन्त्राभिव्यक्ता या ब्रह्मविद्या उत्पन्ना सैव फलवती नान्येति। अत एवोक्तं 'तस्मादिदमेव मुख्यद्वारं कलाविति'। पापभूयिष्ठे कालेऽस्यैव मुख्यता अन्येषान्तु गौणतेति। कालान्तरे त्वस्यान्यस्य च वैकल्पिकी मुख्यतेति सर्वमनवद्यम्।

---

१ ख, ग, घ, यन्ति।

विष्णुं प्रथमस्यान्त्यं, मुखं द्वितीयस्यान्त्यं, भद्रं (१) तृतीयस्यान्त्यं, म्यद्वं चतुर्थस्यान्त्यं, साम जानीयात्, यो जानीते सोऽमृतत्वञ्च गच्छति।

अथेदानीं चतुर्थं सामोच्चारमाह। 'विष्णु' सर्वानुदात्तात्मिका गीतिर्मात्रासङ्ख्या ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ 'प्रथमस्यान्त्यमिति' प्रथमपादोक्ताक्षरद्वयेऽपि 'अन्त्य'' अन्त्यस्वरयुक्तं जानीयादिति प्राक्तनमनुषज्यते। 'मुखं' सर्वानुदात्तात्मिका गीतिर्मात्रासङ्ख्या ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ 'द्वितीयस्यान्त्यमिति' द्वितीयपादोक्ताक्षरद्वयेऽपि अन्त्यस्वरयुक्तं सामिति सम्बन्धः। ननु सर्वोच्चारेषु प्रथम-द्वितीय-शब्दौ कस्मात् पादाभिप्रायेण व्याख्यायेते नोक्ताक्षरसङ्ख्यापरतया। तथा हि। प्रथमस्यान्त्यमिति उक्ताक्षरद्वयमध्ये प्रथमस्याक्षरस्यान्त्यं स्वरं जानीयादिति। तथा द्वितीयस्यान्त्यमिति उक्ताक्षरद्वयमध्ये द्वितीयस्याक्षरस्यान्त्यं स्वरं जानीयात्। एवं प्रथमोच्चारेऽपि प्रथमस्याक्षरस्य द्वितीयस्याक्षरस्याद्यं स्वरं जानीयादिति कस्मान्न व्याख्यायते। उच्यते। सर्वत्र हि अक्षरद्वयमुक्त्वैव प्रथम-द्वितीय-तृतीय-चतुर्थशब्दाः श्रूयन्ते न ह्यक्षरद्वयोक्तौ तृतीय-चतुर्थशब्दावुपपन्नौ। तृतीय-चतुर्थयोरभावादिति पादाभिप्रायेण व्याख्येयाविति निश्चिते तत्साहचर्य्यात् प्रथम-द्वितीय-शब्दावक्षरद्वयोक्तावुपपन्नावपि न व्याख्येयौ, किन्तु पादाभिप्रायेणैवेति स्थितम्। 'भद्रं' सर्व्वानुदात्तात्मिका गीतिर्मात्रासङ्ख्या ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

१ ख, चद्रं।

तृतीयस्यान्त्यमित्युक्तार्थम् । 'म्यहं' सर्वानुदात्तात्मिका गीति-र्मात्रासङ्ख्या ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ चतुर्थस्यान्त्यमित्युक्तार्थम् । ननु कस्मान्नैरन्तर्येण सामोद्धाराभावः नैरन्तर्येण ह्युद्धृते साम्नि सौकर्य्यं स्यात् द्वितीयोपनिषदुक्तपदोद्धारवत् । उच्यते । सत्यं सौकर्य्यं स्यात्, किन्तु सामद्रष्टा प्रजापतिः सर्वान् वेदान् द्रष्टुं शक्तोऽपि मूलमन्त्रवन्नेदं सामापश्यत्, किन्तु तद्दर्शनायास्यामुपासनायामुपासनैकदेशानुष्ठानादीषच्छुद्धान्तःकरणः प्रथमोद्धारमपश्यत् । पुनश्च घोरोदार्णवाद्युपास्य द्वितीयोद्धारमपश्यत् । एवमप्यधिकोपासनानुष्ठानादभ्यधिकतर-शुद्धान्तःकरणस्तृतीयं चतुर्थमपश्यदिति प्रजापतेरपि तद्दर्शने महानायासः किमुतान्येषामिति नैरन्तर्येण सामोद्धाराभावः ।

योऽसौ सोऽवेदयदिदं (१) किञ्चात्मनि ब्रह्मण्यानुष्टुभं जानीयात्, यो जानीते सोऽमृतत्वञ्च गच्छति । स्त्रीपुंसोर्वा य इह स्थातुमपेक्षते स(२) सर्वैश्वर्यं ददाति, यत्र कुत्रापि म्रियेत देहान्ते देवः परं ब्रह्मतारकं व्याचष्टे । येनामृतीभूत्वा (३) सोऽमृतत्वञ्च गच्छति; तस्मादिदं साममध्यगं जपति, तस्मादिदं सामाङ्गं प्रजापतिस्तस्मादिदं

१ ख, घ, स वेदयदिदं ।

२ स इति बहुषु पुस्तकेषु दृश्यते, किन्तु स इत्यत्र तस्मै इति पाठो [illegible] स एव च समीचीन इति सुधीभिर्विज्ञेयम् ।

३ क, घ, येनासावमृतीभूत्वा ।

सामाङ्गं प्रजापतिः, य एवं वेदेति महोपनिषत्; य एतां महोपनिषदं वेद स कृतपुरश्चरणोऽपि महाविष्णुर्भवति महाविष्णुर्भवति ॥ सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

इत्यथर्ववेदे नृसिंहपूर्वतापनीये महोपनिषत् प्रथमा समाप्ता ॥ १ ॥

साम्नो दुर्लभतां दुर्दर्शनताञ्च दर्शयति। यः 'प्रजापतिः' 'असौ सः' प्रजापतिः 'अवेदयदिति' वेदितवान्, 'इदं किञ्च' यदिदं प्रागुक्तमुपासनम्। 'आत्मनि ब्रह्मणीति' ब्रह्मात्मकतां स्वस्मिन् परिज्ञाय 'आनुष्टुभं' अनुष्टुप्सम्बन्धि सामद्वारकमुपासनं जानीयात्, यो जानीते सोऽमृतत्वञ्च गच्छतीत्युक्तार्थम्। 'स्त्रीपुंसोर्वा' स्त्रियां वा पुंसि वा प्रागुक्तमुपासनं प्रजापतिरुपदिष्टवानित्यर्थः। अथ वा ब्रह्मणि हिरण्यगर्भे एतदुपासनं स्त्रीपुंसोर्वा। यद्वा आत्मनि ब्रह्मणीति ब्रह्मणि परमेश्वरे आनुष्टुभं साम न्यस्तं जानीते। अस्मिन् पक्षे प्रागुक्तो यच्छब्द उपास्यपरो न प्रजापतिपरः। 'स्त्रीपुंसोर्वा' स्त्रीपुंसोश्च, वाशब्दः समुच्चयार्थः वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वेत्यादौ दृष्टत्वात्। एतदुक्तं भवति। उपास्येश्वरे सामन्यासं कृत्वा उपासकेनात्मन्यपि सामन्यासः कार्य्यः। 'यः' उपासक इह लोके उत्कर्षेण स्थातुमपेक्षते तस्मै सर्वैश्वर्य्यं ददाति, देहान्ते देवः परं ब्रह्मतारकं व्याचष्टे। कामिनं प्रकृत्य देहान्ते इति विशेषणोपादानात् कामित्वेन प्रागनधिकाराच्च निष्कामस्यार्वागपि देवः 'परं ब्रह्मतारकं' प्रणवस्थं सामाङ्गं प्रणवेन

व्याख्यातं 'येन' प्रणवेन व्याख्यातेन अमृतीभूत्वा 'स' श्रोता 'अमृतत्वञ्च' कैवल्यं प्राप्नोति । यस्मात् तारकस्थं परं ब्रह्म व्याख्येयं तस्मात् 'इदं' तारकं 'साममध्यगं' साममध्यवर्त्ति जपतीति सामोपासनाङ्ग-प्रणवजपो यथाशक्तीति दर्शयति । एतदेवाह । तस्मात् 'इदं' तारकं साम्नोऽङ्गं प्रजापतिः ऋषित्वेन । यद्वा इदं तारकं परमेश्वर-स्वरूपाख्यानेन सामपरमेश्वरविषय-विद्याप्रतिपादक-मूलमन्त्राभिव्यञ्जकत्वेन प्रजापतिरुभयकथनेनेत्येतत्त्रितयमवश्यमुपासनायामङ्गम्, एतदेव त्रितयमस्यामुपासनायामावश्यकमिति दर्शयितुं द्विरभ्यासः, 'तस्मादिदं सामाङ्गं प्रजापतिस्तस्मादिदं सामाङ्गं प्रजापतिरिति' । यस्मादेवंविधं साम तस्मादस्य नैरन्तर्येणोद्धारःस्पष्टीक्रियते । तत्र मूलमन्त्र-प्रथमपादाक्षरेष्वष्टसु मुख-हस्ताभ्यां हस्ताङ्गुष्ठोत्तम-पर्व्वोच्छ्रयेणाद्यमक्षरद्वयं मुखेन प्रगाय तृतीयमक्षरं कनिष्ठिका-मूलपर्वस्पर्शेन तथैव मुखेन प्रगाय चतुर्थं पञ्चमञ्च एकैकं पृथक् पृथगङ्गुष्ठोत्तमपर्व्व-तर्जनीस्पर्श-तत्सन्निहिताङ्गुल्युपकनिष्ठिका-कनिष्ठिकामध्यपर्व्वस्पर्शैस्तथैव मुखेन प्रगायेत् । षष्ठमङ्गुष्ठोत्तमपर्वोच्छ्रयेण तथैव मुखेन प्रगायेत् । सप्तमाष्टमाक्षरे कनिष्ठिकामूलपर्वस्पर्शेन यथाविहितस्वरैराद्याक्षरद्वयाद्ये तृतीयाक्षरान्त्य-चतुर्थपञ्चमाक्षरमध्यषष्ठाक्षराद्य-सप्तमाष्टमाक्षरान्त्यैरप्रमत्तस्तथैव मुखेन गायेत् । तथैव तृतीय-षष्ठयोरङ्गुलीभ्यां दीर्घं गृह्णीयात् । एवं द्वितीयतृतीय-चतुर्थपादाक्षरेष्वष्टसु साम गेयम् । द्वितीयपादे षष्ठं दीर्घं, तृतीये चतुर्थमक्षरं दीर्घं, चतुर्थे षष्ठं दीर्घमिति शुद्धं साम । साङ्गं साम चेत् प्रथमपादान्ते प्रणवं निक्षिप्य द्वितीय-

पादान्ते सावित्रीं तृतीयपादान्ते यजुर्लक्ष्मीं चतुर्थपादान्ते नृसिंह-गायत्रीं गायेत्। स्त्री चेत् शूद्रश्चेत् एतन्नितयं विहाय शुद्धं साम गायेत्। एष नैरन्तर्येण सामोद्धारः। उद्धारस्यातिदुर्लभत्वा-दतिरहस्यत्वाच्च लिखितोऽपि न लिखित्वा प्रदर्श्यते वाचैव स्पष्टी-क्रियत इति। यः 'एवं' उक्तप्रकारेण 'वेद' उपास्ते। 'इति मन्त्रः' अस्या उपासनाया नामकरणं करोति। उपनिषत्सु एष समयः। प्रणव-गर्भित-प्रणव-बहुलोपासनानां महोपनिषदिति नाम तत्र तत्र। 'महोपनिषत्' उप-नि-पूर्वस्य सदेः क्विबन्तस्य गत्यवसादन-विशरणार्थत्वात् महत् ब्रह्म गमयति, ज्ञापयतीति महोपनिषत्, महान्तं संसारमेव सादयति क्षेपयति नाशयतीति महोपनिष-दिति, 'ओमित्यात्मानं(१) युञ्जीतैतद्वै महोपनिषत्' इति श्रुतेः। यः 'एतां' उक्तप्रकारेण प्रतिपादितां महोपनिषदं 'वेद' उपास्ते, 'सः' उपासकः, 'कृतपुरश्चरणः' कृतं प्रागुक्तोपासनं येन स तथोक्तः महाविष्णुर्भवति। विष्लृ व्याप्तौ। द्विरभ्यासः प्रथमोपनिषत्समाप्तिं द्योतयति ॥ ७ ॥

इति श्रीगोविन्द-भगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंस-परिव्राज-काचार्य्य-श्रीशङ्करभगवत आद्यकृतावाथर्वण-तापनीयोपनिषद्भाष्ये प्रथमोपनिषद्व्याख्या समाप्ता ॥ १ ॥

---

(१) ख, ग, ओमित्याद्यात्मानं।

ओं देवा ह वै मृत्योः पाप्मभ्यः संसाराच्चाबिभयुः, ते प्रजापतिमुपाधावन्, तेभ्य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं प्रायच्छत्, तेन वै सर्व्वे मृत्युमजयन्, सर्व्वे पाप्मानमतरन् संसारञ्चातरन्; तस्माद्यो मृत्योः पाप्मभ्यः संसाराच्च बिभीयात् स एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं प्रतिगृह्णीयात्, स मृत्युं जयति, स पाप्मानं तरति, स संसारं तरति।

एवं तावत् प्रथमोपनिषदन्ते य एतां महोपनिषदं वेदेत्येतच्छब्द-परामृष्ट-सामोपनिषदो महोपनिषदश्च सामानाधिकरण्यमुक्तम्। महोपनिषच्च द्वात्रिंशन्नृसिंह-लीलाविग्रह-स्तुतिमन्त्रात्मिका। तस्यामन्ते य एवं वेदेति महोपनिषदित्युपसंहारात्। तच्च तावदुभयोपनिषत्-सामानाधिकरण्यात् सामाभिव्यक्तमूलमन्त्र-द्वात्रिंशदक्षरेषु महाचक्रन्यस्तेषु नृसिंहद्वात्रिंशद्‌रूपाहानुपास्य तैरेव मन्त्रैस्तान् स्तुत्वा सामोपासनां कुर्य्यादित्यवगम्यते। अत एव स्तुत्युपनिषदः पुरश्चरणोपासनत्वमाह। 'स कृतपुरश्चरण' इति। कृतं पुरश्चरणं स्तुत्युपासनया येन स तथोक्तः। एवं पुरश्चरणोपासनायां मुमुक्षोरुपासकस्याधिकार-सम्पत्तिमभिधाय तस्यैव तदुपासनास्वीकारे अन्यदप्यधिकारिविशेषणमाख्यायिकापूर्व्वकमाह। देवा ह वै मृत्योरिति। 'देवाः' कृतपुरश्चरणा वै मृत्योरबिभयुः। ते उपासका देवाः 'मृत्योः' मरणहेतोर्वैवस्वतात्। स च मृत्युः पाप्मपूर्व्वक इति पाप्मभ्यश्चाबिभयुः। तच्च पापं संसारपूर्व्वकमिति संसाराच्चाबिभयुरिति

प्रत्येकं सम्बध्यते। द्विविधा ह्युपासका देवा मुमुक्षवोऽमुमुक्षवश्चेति। तत्र मुमुक्षूणां त्रितयं समुच्चितं विशेषणम्। अमुमुक्षूणां व्यस्तं द्वितयं विशेषणम्। केचन मृत्योर्जयमेव कामयन्ते, केचन पाप्मन एव जयम्। अन्ये तु त्रितयजयम्। 'ते' द्विविधा देवाः प्रजापतिमुपाधावन्। उपपूर्वको धावतिः पूजामाह, समीपमेत्य प्रजापतिमपूजयन् स्तुतिभिः शुश्रूषा-दक्षिणाभिश्च। 'तेभ्यः' देवेभ्यः प्रीतः प्रजापतिः, एतं मन्त्रराजमित्यादि आनुष्टुभमित्यन्तं सर्व्वमुक्तार्थम्, 'प्रायच्छत्' प्रादात्, 'तेन' प्रदानेन वै स प्रजापतिर्मृत्युमजयत्, देवा अपि मृत्युमजयन्। अजयन्निति बहुवचनात् स इत्येकवचनादुभयत्रापि प्रकृत्यर्थसम्बन्धे प्राप्ते यथायोग्यतया वचनं योज्यम्। तथा तेनेत्यर्थप्राप्तं स्वीकरणं परामृश्यते। एतदुक्तं भवति। तेन प्रजापतिर्मृत्युमजयत्, तेन स्वीकारेण देवा मृत्युमजयन्निति। केचिदेवं व्याख्यातं, समृत्युमिति समस्तं कृत्वा सह मृत्युना वर्त्तते यदज्ञानं तत् तथोक्तम्। तन्न। पूर्वं तस्याप्रकृतत्वात्। अथार्थप्राप्तं प्रकृतमिति चेत्, भवतु, न कश्चिद्विरोधः, किन्तु दातुः फलं न सङ्कीर्त्तितं स्यादिति दाता कथं प्रवर्त्तेत। दक्षिणाभिरिति चेत् न। विरक्ते तु का वार्त्ता। तस्मादुभयत्रापि फलवत्युपासनेति व्याख्या ज्यायसी। एवमुभयत्रापि व्याख्येयम्। स पाप्मानं स संसारमतरन्निति च। यस्मादिदमुभयत्र फलवत् तस्मात् 'यः' प्रागुक्त उपासकः 'मृत्योः पाप्मभ्यः संसाराच्च बिभीयात्' समस्ताद्व्यस्ताद्द्वितयाच्च भयं गच्छेत्, 'सः' प्रागुक्त उपासकः गुरूपसर्पणेन एतं मन्त्रराजमित्यादि स संसारं तरतीत्यन्तं स्पष्टार्थम्, 'प्रति-

स्वकुर्य्यात्' स्वीकुर्य्यादित्यर्थः । अनेनैतद्दर्शयति, मूलमन्त्रमात्रे गुरूपसर्पणमावश्यकम्, सामप्रभृत्युपासनायां गुरूपसर्पणात् श्रुतितस्तद्व्याख्यानाद्वेति विकल्पः । तस्मादिदं साम येन केनचिदाचार्य्यमुखेनेति श्रुतेः । अत एवैतद्विषय-रहस्य-कल्प-ग्रन्थासमर्थश्चेत् गुरुमुखात् स्वीकृत्य कुर्य्यादिति, समर्थश्चेत् स्वयमेवेत्युक्तम् । मूलमन्त्रं सबीजं सशक्तिकं साङ्गं सन्यासं गुरुमुखात् स्वीकुर्य्यादिति । एवं प्रागुक्तस्योपासकस्य मुमुक्षोः प्रागुक्तं समस्तं विशेषणम्, इतरस्य द्वितीयं विशेषणम् । उभयत्रापि स्तुत्युपनिषत्-प्रतिपादितं स्तवनं तेषां व्यूहानामुपासनं साम्ना मूलमन्त्राक्षराभिव्यक्तिश्चेति त्रितयमप्येतत् पुरश्चरणरूपत्वात् साधारणम् ।

तस्य ह वै प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा पृथिव्यकारः स ऋग्भिः ऋग्वेदो ब्रह्मा वसवो गायत्री गार्हपत्यः सा प्रथमः पादो भवति । द्वितीयान्तरिक्षं स उकारः स यजुर्भिर्यजुर्वेदो विष्णुरुद्रास्त्रिष्टुब्दक्षिणाग्निः सा द्वितीयः पादो भवति । तृतीया द्यौः स मकारः स सामभिः सामवेदो रुद्रादित्या जगत्याहवनीयः सा तृतीयः पादो भवति । यावसानेऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा सोमलोक ओङ्कारः सोऽथर्वणैर्मन्त्रैरथर्ववेदः संवर्तकोऽग्निर्मरुतो विराडेक ऋषिर्भास्वती सा साम्नश्चतुर्थः पादो भवति ॥ प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

एवं विशिष्टमुपासनमभिधाय तदुपासनाप्रारम्भस्य प्रणवोपासना-पूर्वकत्वात् प्रणवमात्रा नृसिंहव्यूहे 'ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् यावतस्रोऽर्धमात्रास्तस्मै वै नमो नम' इति मन्त्रवर्णात् पुरश्चरणोपासनान्तर्गतत्वेनापि मात्राशब्दादर्धशब्दाच्चतुःशब्दाच्च तन्मात्राव्यूह-प्रत्यभिज्ञानात् तस्मिन्नेव व्यूहे चतुर्मात्रासम्बन्धित्वेनोपासनाविशेषमाह। 'तस्य' प्रागुक्तस्य मन्त्रराजस्य साम्नः सामाभिव्यक्ताक्षरस्य सम्पुटितत्वेन स्थितस्य 'ह' निश्चितं सामाभिव्यक्त-मूलमन्त्राक्षर-सम्पुटीकरणेन स्थितत्वात् साम्ना सम्बन्धः। तस्मात् प्रत्यक्षरमुभयत ओङ्कारो भवतीति श्रुतेः। प्रणवस्य या पूर्वा मात्रेत्यादि सा साम्नश्चतुर्थः पादो भवतीत्यन्तं स्पष्टार्थम्। अकार उकार-मकारार्धमात्रा-नादात्मको(१) यथासङ्ख्यं पृथिव्यन्तरिक्ष-द्यु-सोमलोक-ऋग्यजुः-सामाथर्व-ब्रह्म-विष्णु-महेश्वरोङ्कार-वसु-रुद्रादित्य-मरुद्गायत्री-त्रिष्टुब्-जगती-विराड्-गार्हपत्य-दक्षिणाग्न्याहवनीय-संवर्त्तकात्मकः प्रणवस्तस्मिन् नृसिंहव्यूहे विश्वरूपन्यायेनान्तःस्थित उपास्यः। नन्वनेके एते लीलाविग्रहाः कथं न भवन्ति। नेति ब्रूमः। यस्तस्मा इत्येकवचनादेक एवायं लीलाविग्रह इत्येव गम्यते॥ १॥

अष्टाक्षरः प्रथमः पादो भवति, अष्टाक्षरास्त्रयः पादा भवन्ति, एवं द्वात्रिंशदक्षराणि सम्पद्यन्ते, द्वात्रिंशदक्षरा अनुष्टुब्-भवति, अनुष्टुभा सर्वमिदं सृष्टम्; अनुष्टुभा सर्वमुपसंहृतम्, तस्य ह्नि पञ्चाङ्गानि भवन्ति, चत्वारः

१ ग, मात्रानात्मको।

पादाः, चत्वार्यङ्गानि भवन्ति, सप्रणवं सर्वं पञ्चमं भवति। ओं हृदयाय नमः, ओं शिरसे स्वाहा, ओं शिखायै वषट्, ओं कवचाय हुं, ओम् अस्त्राय फडिति प्रथमं प्रथमे युज्यते, द्वितीयं द्वितीयेन, तृतीयं तृतीयेन, चतुर्थं चतुर्थेन पञ्चमं पञ्चमेन(१)। व्यतिषक्ता वा इमे लोकाः, तस्माद्-व्यतिषक्तान्यङ्गानि भवन्ति। ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्; तस्मात् प्रत्यक्षरमुभयत ओङ्कारो भवतीत्यक्षराणां न्यास-मुपदिशन्ति ब्रह्मवादिनः॥ द्वितीयः खण्डः॥ २॥

एवं तावत् पुरश्चरणान्तर्गत-प्रणवमात्रा-व्यूहोपासनमभिधाय इदानीं सामाभिव्यक्त-मूलमन्त्रेण ब्रह्मोपासनमभिधातुं मूलमन्त्रस्य प्रणवसम्पुटीकरणादक्षरसङ्ख्याविवृद्धेः कथं द्वात्रिंशदक्षरं सामेत्याशङ्क्य पादशः पञ्चाङ्गन्यासञ्चाभिधातुं पादाक्षरसङ्ख्यापूर्विकां तत्स्थमूलमन्त्राक्षरसङ्ख्यामाह। अष्टाक्षरः प्रथमः पादो भवतीत्यादि स प्रणवं सर्वं पञ्चमं भवतीत्यन्तं स्पष्टार्थम्। ओं हृदयायेत्याद्यङ्गमन्त्राणां पञ्चानां सामाङ्गमन्त्रैरेव व्याख्यातत्वात् न पृथग्व्याख्यापेक्षेति, ओं हृदयायेत्यादि पञ्चमेनेत्यन्तं स्पष्टार्थम्। व्यतिषक्ता वा इमे लोकाः, तस्माद्व्यतिषक्तान्यङ्गानि भवन्तीति लोकबुध्योपास्यानां हृदयाद्यङ्गानां सामाभिव्यक्त-मूलमन्त्र-प्रतिपाद्ये नृसिंह-ब्रह्मव्यूहे क्षीरोदार्णवशायिन्युपविष्टे वा लोक-व्यतिषङ्ग-हेतुकाङ्ग-व्यतिषक्तता विधीयते। 'तस्माद्व्यतिषक्तानि'

यथायोग्यतयान्योऽन्यं मिश्रितान्युपास्यानीत्यर्थः। ततश्चायमर्थः सम्पद्यते। पारमेश्वरं हृदयाख्यमङ्गं पारमेश्वर(१)शिरोऽङ्गादधःप्रदेशान्तःस्थितं हृदयप्रदेशादारभ्योपास्यम्। अत एव सामाङ्ग-प्रणव-व्याख्यानेन मूलमन्त्र-हृदयाङ्ग-व्याख्यानावसरे पारमेश्वरं मुखं हृदयं व्याख्यातम्, इतरथा तद्व्याख्यानमप्रस्तुतं स्यात्, तस्मादङ्ग-व्यतिषङ्ग-विधानादेव तद्व्याख्यानं प्रस्तुतमिति सिद्धम्। यत एवं हृदयाङ्गोपासनेव तदन्तर्गतत्वात् नेत्रत्रयोपासना, अत एव नेत्रत्रयाङ्गोपासना न पृथगभिहिता। एवमुत्तरत्रापि शिखाख्यमङ्गं पारमेश्वरं शिरोऽङ्गे मूर्ध्नि च व्यतिषक्तं सामाङ्गलक्ष्मीयजुर्मन्त्रेण व्याख्यातमुपास्यम्। शिरश्च द्वितीयमङ्गं यथोक्तहृदये सामाङ्गसावित्रीमन्त्रेण व्याख्यातम्। पारमेश्वरं कवचं यथोक्तहृदयैकदेशे नाभेरूर्द्धं ग्रीवातोऽधः पृष्ठप्रदेशव्यापि-सामाङ्ग-नृसिंहगायत्र्या व्याख्यातमुपास्यम्। एवं पञ्चममङ्गमस्त्राख्यमुत्तराधरभावेन तन्नाभिमध्यवर्त्ति क्षीरोदार्णवशायि-पारमेश्वर-व्यूह-चतुष्टयाङ्ग-व्यापितया व्यवस्थितं व्यतिषक्तमुपास्यमिति यथायोग्यतया अतिषक्तशब्दस्याङ्गेषु स्थितिरिति-पञ्चाङ्गन्यासोपन्यासो न षष्ठमङ्गमिति, तस्य हृदयान्तर्गतत्वादिति प्रागभिहितम्।

सप्रणवे पञ्चमेऽङ्गे सप्रणवतां विधातुमाह। यस्मादोमित्येतदक्षरमिति। 'एतदक्षरमिदं सर्व्वमिति' यदिदमर्थजातमभिधानाभिधेयभूतं तस्याभिधानाव्यतिरेकादभिधानभेदस्य

१ क, ख, पारमेरे। ग, पारेमेर।

चोङ्काराव्यतिरेकादोङ्कार एवेदं सर्व्वं (१) तस्मात् प्रत्यक्षरमुभयत ओङ्कारो भवतीति । 'प्रत्यक्षरम्' एकैकं मूलमन्त्राक्षरं प्रणवेन सम्पुटितं कुर्य्यादिति । 'अक्षराणां' मूलमन्त्राक्षराणां, 'न्यासम्' अस्याख्ये ऽङ्गे, 'उपदिशन्ति' कथयन्ति 'ब्रह्मवादिनः' ब्रह्मैव उपास्यतया ये वदन्ति ते ब्रह्मवादिनः । अत्र चोपदिशन्तीति विशेषणोपादानान्मूलमन्त्राङ्गजातमुपदेशगम्यमिति दर्शयति । तमिमं पञ्चाङ्गन्यासं यथोक्तविशेषणे परमेश्वरे यथोक्तविशेषण-विशिष्टं विधाय स्वात्मन्यपि विदध्यात्, अस्मिन् हि प्रकरणे श्रुतस्यार्थजातस्य प्रायशः परमेश्वरसम्बन्धितया श्रुतत्वादिति ॥ २ ॥

तस्य ह वा उग्रं प्रथमं स्थानं जानीयात्, यो जानीते सोऽमृतत्वञ्च गच्छति,। वीरं द्वितीयं स्थानं, महाविष्णुं तृतीयं, ज्वलन्तं चतुर्थं, सर्वतोमुखं पञ्चमं, नृसिंहं षष्ठं, भीषणं सप्तमं, भद्रमष्टमं, मृत्युमृत्युं नवमं, नमामि दशमम्, अहमित्येकादशं स्थानं जानीयात्, यो जानीते सोऽमृतत्वञ्च गच्छति। एकादशपदानुष्टुब्भवति, अनुष्टुभा सर्वमिदं सृष्टम्, अनुष्टुभा सर्वमुपसंहृतं, तस्मात्सर्वमिदमानुष्टुभं जानीयात्, यो जानीते सोऽमृतत्वञ्च गच्छति॥

तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

---

१ क, ख, एवं सर्वं ।

एवं तावत् प्राक् प्रत्यचरमुभयत ओङ्कारो भवतीति विधानात् सामाभिव्यक्त-मूलमन्त्राचर-व्यवधानेनार्थाप्रतिपादने ओमोपाधिकत्वेन पदाम्नानेन प्राप्ते तदव्यवधानेनार्थप्रतिपादनोपाधिना रूढ़ेन पदपरिमाणं ज्ञापयितुं पदोद्धारमाह। तस्य ह वा इत्यादि सर्व्वमुपसंहृतमित्यन्तं स्पष्टार्थम्, 'स्थानं जानीयात्' पदं जानीयात्। एकादशपदा वा अनुष्टुब्-भवतीत्युपसंहारात् प्राग्ज्ञनः सर्व्वोऽपि स्थानशब्दः पदे वर्त्तते। यस्मादभिधानाभिधेय-प्रपञ्चस्याभिधानाव्यतिरेकः 'वाचारम्भणं (१)विकारो नामधेयम्' इति श्रुतेः। नाम प्रपञ्चस्य सामान्यविशेषात्मकस्यानुष्टुब्-नामाव्यतिरेकादनुष्टुभश्चाद्यब्रह्मविवर्त्तात्मकत्वात् साकारब्रह्म-प्रतिपादकत्वेन ब्रह्मत्वे सिद्धे ब्रह्मणश्च सृष्ट्युपसंहार-कारणत्वेनोपादानादित्यनुष्टुबेवोपादानम्। तस्मात् सर्व्वमिदमानुष्टुभमित्यादि गच्छन्तीत्यन्तं व्याख्येयमुक्तार्थम्॥ ३॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्, अथ कस्मादुच्यते उग्रमिति। स होवाच प्रजापतिः, यस्मात् स्वमहिम्ना सर्वांल्लोकान् सर्वान् देवान् सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतान्युद्गृह्णाति, अजस्रं सृजति, विसृजति, वासयति, उद्ग्राह्यते, उद्गृह्यते। स्तुहि श्रुतं गर्त्तसदं युवानं मृगं नभीममुपहत्नुमुग्रम्। मृड़ाजरित्रे सिंह स्तवानोऽन्यन्ते ऽस्मन्निवपन्तु (२) सेनाः। तस्मादुच्यते उग्रमिति।

१ क, ख, वाचारम्भण दिकारो। २ क, ख, ग, ऽस्मन्निवपन्तु।

यदर्थप्रतिपादक-गूढ़ोपाधिना-पदज्ञानमभूत्, तमेव गूढ़ोपाधिं विवृणोति प्रश्नोत्तराभ्याम्। स चार्थोऽत्र बहुतरो व्याख्येयः सार्द्ध-सामाभिव्यक्त-साङ्गमूलमन्त्र-प्रतिपाद्यः। स च मूलमन्त्रपदत्रयात्मकः प्रथमः पादः, पदद्वयात्मको द्वितीयः, पदत्रयात्मकस्तृतीयः, तत्सङ्ख्यकपद एव चतुर्थ इत्येवमेकादश-पदात्मकः। एवमेकादशपदात्मके मन्त्रे पञ्चाङ्गन्यासानन्तरमुक्ते मन्त्रे द्वितीयान्तेषु नवसु पदेषु मन्त्रान्त्यं पदद्वयं तृतीयपादाद्यञ्च पदमिति त्रितयमध्यधस्तनेषूपरितनेषु च तृतीयपादाद्यं पदादन्यत्रानुषज्यते। तृतीयपादाद्यपदे द्वितयमनुषज्यते। एवं क्रियाकारकाद्यन्वयसम्बन्धशुद्धिः। तत्र पञ्चाङ्गन्यासानन्तरं पठितत्वात् पदोद्धार-तदर्थकथनस्य सर्व्वेष्वेव पादेषु साङ्गेष्वर्थः कथनीय इत्याद्ये पादे पदत्रयात्मके साङ्गे लोकाद्यग्न्यादिना सामोपनिषद्युपास्य सामाङ्ग-प्रणवेन च मूलमन्त्र-हृदयाङ्ग-व्याख्याने प्राप्ते तत्रैकैकं पदं बहुतरेष्वर्थेषु व्याख्येयम्। तथा उपरितना ऋचो दशपद-सम्बन्धिन्यः प्रश्नोत्तरान्तरालवर्त्ति-ब्राह्मणवर्त्तिन्यः 'तदेषाभ्युक्ता' इत्येवं ब्राह्मणोक्तार्थे साक्षित्वेनानुद्भाविता महाचक्रन्यस्तेद्दानिंग्रह्यूहे नृसिंहात्मके ब्रह्मण्येकैकमूलमन्त्रपद-व्याख्यान-परत्वेन वर्णनीयाः। तथा ब्राह्मणमेकैकमूलमन्त्रपद-व्याख्यानपरत्वेन महाचक्र-नाभि-क्षीरोदार्णव-सम्बन्धिमूलनृसिंहव्यूहे ब्रह्मणि प्रागुक्तगुणविशिष्टे व्याख्येयम्। अत एव तत्र साक्षित्वेनानुद्भावनम् ऋग्ब्राह्मणयोस्तत्तत्पद-व्याख्यानावसरे विभागं क्रमश्च स्पष्टं प्रदर्शयिष्यामः। तत्र तावदेकैकं पदं धातूपसर्गादियोगेन बहुतरमर्थजातं (४) कथं वदिष्यति प्रजापतिः

(४) क, ग, बहुतरसमर्थजातं

कथं व्याख्यास्यत्यस्मान् व्युत्पन्नान् प्रति, इत्येवं देवा विस्मयेन 'ह' हर्षिता वै प्रजापतिमब्रुवन्निति सर्व्वपदसाधारणं व्याख्यानम्। पृष्टा 'अथ' अनन्तरं 'कस्मात्' प्रकृति-प्रत्यय-विभागात् अनाख्यातं प्रथमं पदं, 'उच्यते' व्याख्यायते उभयत्रापि मूल-नृसिंह-व्यूहे द्वात्रिंशन्नृसिंहव्यूहे च 'उग्रमिति' इति शब्दः प्रश्नसमाप्तिं द्योतयति। स प्रजापतिस्तान् देवान् परमेश्वरोपासना-निष्ठान् विवक्षितार्थ-प्रष्टॄन् हृष्टोत्तरमुवाच। एवमुत्तरोत्तर-प्रश्नोत्तरेषु योज्यम्। यस्मात् 'स्वमहिम्ना' अस्वतन्त्र-शक्त्या माययात्मस्थत्वाद्देवास्वतन्त्रम्। स्वमहिम्नेति वदन् सर्व्व-शक्तिमत्तृतीय-पादाद्यपदानुषङ्गं दर्शयति। एवं तावत् तत्पद-व्याख्यानावसरे 'सर्वान् लोकान्' पृथिव्यादीन् पार्थिवत्वावान्तर-भेदभिन्नान् 'सर्वान् देवान्' अग्न्यादीन् प्रणवमात्रा-मिश्रणव्याख्यान-पक्षे ऋग्ब्रह्मादि-गार्हपत्यान्तान् प्रणव-प्रथममात्रा-प्रतिपादितान् 'सर्वानात्मनः' विश्वादीन् प्रणवव्याख्याने वक्ष्यमाणान्, सर्वाणि भूतानि 'उद्गृह्णाति' उदित्ययमुपसर्गः उ इत्येतस्य निपातस्य स्थाने वर्णसाम्यादन्वितुपसर्गस्यार्थे। ग्र इत्ययं गृह्णातीति भावकव्युत्पत्त्या अनुगृह्णातीत्यर्थः। 'अजस्रम्' अनवरतम्। तथा च उत्पूर्व्वको गृह्णातिशब्दः सृष्टि-विमोचन-वसतिषु वर्त्तते। उद्ग्राह्यते उद्गृह्यते इत्यात्मनेपदात् प्रयोजक-कर्तृत्वं साक्षात्-कर्तृत्वञ्च इत्युक्तमेवार्थमुद्गृह्णातेर्द्रढ़यति। ततश्चायमर्थः। पूर्वोक्तार्थानुग्राहकत्वं स्रष्टृत्वञ्च (१) विपूर्व्वकस्य सृजतेरुप-

(१) क, ख, प्रष्टृत्वञ्च।

संहारार्थत्वेन तदर्थं विमोचनार्थं वा स्थिति-कारयितृत्वमनुग्रहे प्रयोजकत्वमिति मूलनृसिंहव्यूह-हृदयात्सर्व्वर्त्त्विनोपास्यम् ।

एवं मूलनृसिंहव्यूह-हृदयोपासना-परत्वेनोग्रपदं व्याख्याय अथेदानीं तदेवपदं द्वात्रिंशद्व्यूहोपासना-परत्वेन व्याख्यातुमृच-माह । स्तुहीति । स्तोतारं प्रत्यक्षीकृत्याह परोक्षीकृत्य स्तुत्यं यो वै नृसिंह इत्यादि मन्त्रवर्णैरेव 'श्रुतं' द्वात्रिंशन्नृसिंहव्यूहं 'गर्त्त-सदं' गर्त्ते महाचक्रे गृणातेः स्तुतिकर्म्मणो गीर्यते(१)इति व्युत्पत्त्या, सीदतीति गर्त्तसदं 'युवानं' प्रसिद्धं 'मृगं' सिंहरूपं 'नभीमं' अभयङ्करं 'उपहर्त्तुम्' अनुग्रहार्थं सर्व्वेणोपगमशीलम् 'उग्रं' द्वात्रिंश-न्नृसिंहव्यूहरूपम् । अत्रापि सप्तात्मक-नृसिंह-पदस्यानुषङ्गः । स्तुहीत्येवं सम्बन्धः । एवं परोक्षतः स्तुते द्वात्रिंशन्नृसिंहव्यूहे तत्सामर्थ्याद्दृश्रवण-युक्तत्वाच्च तच्छ्रुत्वा प्रत्यक्षो ह्यभूत् स व्यूह उपा-सकायेति प्रत्यक्षीकृत्यायमुत्तरार्द्धः । हे 'सिंह' द्वात्रिंशद्रूप, 'स्तवानः' स्तूयमानः त्वं 'मृड़' सुखय 'जरित्रे' * स्तोत्रकर्त्त्रे । यद्वा चतुर्थी द्वितीयार्थे । 'ते' तव 'सेना' व्यूहरूपा 'अस्मत्' अस्मत्तः अन्यं 'निवपन्तु' विनाशयन्तु । यद्वा स्वानुग्रहं लब्ध्वा परानुग्रहं प्रार्थयते । ते तव सेना व्यूहरूपा अस्मदन्यं निपूर्वो वपतिरनुग्रहार्थे वर्त्तते, अनुगृह्णन्त्वित्यर्थः । यस्मादेव प्रागुक्तेन प्रकारेणोभयो-पास्ये उग्रपदं क्षमम् । तस्मादुच्यते उग्रमिति । इति शब्द उत्तरसमाप्तिं द्योतयति ॥ ४ ॥

---

(१) क, ख, ग, गीर्य्यते ।

* जरित्रे जरामरणादिमते स्तोत्रे इति नारायणी व्याख्या ।

अथ कस्मादुच्यते वीरमिति। यस्मात् स्वमहिम्ना सर्वान् लोकान् सर्वान् देवान् सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि विरमति, विरामयति, अजस्रं सृजति, विसृजति, वासयति। यतो वीरः कर्मण्यः सुदक्षो युक्तग्रावा जायते देवकामः। तस्मादुच्यते वीरमिति।

एवं प्रथमपदमुभयोपासने समममिति विज्ञाय अथेदानीं द्वितीयं पदमुभयोपास्ये व्याख्यातुं द्वितीयो देवप्रश्नः। स च प्रथम-देव-प्रश्नेन व्याख्यातः। अथ कस्मादुच्यते वीरमिति। स होवाच प्रजापतिरिति प्रागुक्तमनुषज्योत्तरम्। यस्मात् स्वमहिम्नेत्यादि सर्व्वाणि भूतानीत्यन्तमुक्तार्थम्। 'विरमति विरामयति' विविधप्रकारेण प्रागुक्तान् प्रति रमति। रमु क्रीड़ायाम्। तथैव तान् क्रीड़यति। कथं क्रीड़यतीत्यपेक्षिते आह। अजस्रमित्यादि वासयतीत्यन्तमुक्तार्थम्। एतदुक्तं भवति। सृष्टि-स्थिति-लय-विमोचन-वासन-कर्तृत्वरूपाः क्रीड़ाः। अतः प्रागुक्तार्थ-मूलनृसिंह-व्यूहहृदयं क्रीड़ासक्तमुपास्यम्। एवं मूलनृसिंहोपासना-परत्वेन द्वितीयं पदं व्याख्याय द्वात्रिंशन्नृसिंहव्यूहोपासनायां तदेव पदं व्याख्यातुमर्द्धर्चमाह। यत इति। 'देवकामः' तांस्ताम् ब्रह्मादिदेवान् स्वेन रूपेणावतारयितुं कामयते इति देवकामः। यद्वा नृसिंहव्यूहमेव धृत्वा ब्रह्मादिरूपं प्रकटयति। क्वचिदायुधैः क्वचिद्विश्वरूपोपपत्तिन्यायेन, 'यो वै नृसिंहो देवो भगवान् यश्च ब्रह्मा' इत्यादिषु, 'यो वै नृसिंहो देवो भगवान् ये चाष्टौ वसवः' इत्यादिषु

च पदेषु। एवं देवकामो जायते। यतः 'वीरः' शूरः। यद्वा वीरः विविधावताररूपेण रमणीयशीलः, 'कर्म्मण्यः' तत्तदवताररूपकर्म्मशीलः, उपासकानुग्रहणे 'सुदक्षः' पूजितबलः, यद्वा पूजितोत्साहः, 'युक्तग्रावा' युक्तो ग्रावभिः युक्तग्रावा सोमे अध्वर्य्यादिरूपः, यो वै नृसिंहो देवो भगवान् यश्च सर्व्वमित्यादिमन्त्रवर्णात्। यस्मादुक्तप्रकारेणोभयोपास्ये वीरपदं क्षमं तस्मादुच्यते वीरमिति। इति शब्द उत्तर-समाप्तिं द्योतयति॥

अथ कस्मादुच्यते महाविष्णुमिति। यः सर्वांल्लोकान् व्याप्नोति व्यापयति, स्नेहो यथा पललपिण्डमोतं प्रोतमनुप्राप्तं व्यतिषक्तो व्याप्यते व्यापयते।

अथेदानीं तृतीयपदं व्याख्यातुं देवप्रश्नः। स चोक्तार्थः। सर्व्वत्र प्रश्नवाक्येष्वथशब्दस्तत्तदानन्तर्य्यार्थः। अथ कस्मादुच्यते महाविष्णुमिति। इति शब्दोऽनुष्टुप्प्रथमपाद-प्रश्नसमाप्तिं द्योतयति। स होवाच प्रजापतिरित्यनुषज्योत्तरम्। य इत्यत्रापि स्वमहिम्नेत्यनुषङ्गात् शक्तिमन्नृसिंहपदानुषङ्गः। 'सर्व्वान् लोकान् व्याप्नोति व्यापयतीति'। अत्र सर्वलोकपदात् देवात्मभूतानां सङ्ग्रहः प्राग्बद्धक्रमकत्वेनावगतानां तदादिन्यायेन। विष्ऌ व्याप्ताविति धातोरूपम्। तच्च व्यापकत्वं निरुपपदत्वेन महत्वं प्राप्तमिति महच्छब्देन तदेव दृढ़ीकृतम्। यद्वा मह इति तेजो नाम, महोव्यापकम्। व्यापकत्वे दृष्टान्तमाह। 'स्नेहः' तैलादिः यथा 'पललपिण्डं' पललस्य पिण्डं पललपिण्डमामिषपिण्डम् 'ओतम्' अनु-

स्यूतम् 'प्रोतम्' प्रकर्षेणानुस्यूतम् 'अनुप्राप्तम्' अनुषक्तं तादृशं पिण्डं 'व्यतिषक्तः' अवयवसम्भिन्नः 'व्याप्यते व्यापयते' दृष्टान्ते आत्मनेपदोपादानात् व्याप्नोति व्यापयतीति दार्ष्टान्तिके च परस्मैपदोपादानादुभयपद्यं धातुरिति दर्शयति। एतदुक्तं भवति। प्रागुक्तसलोकादिसाधादरापकत्वं प्रयोजकव्यापकत्वञ्च मूलनृसिंह-हृदये उपास्यमिति।

**यस्मान्न जातः परोऽन्योऽस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा। यस्मादन्यं न परं किञ्च नास्ति प्रजापतिः प्रजया संविदानः। त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोड़शी॥ तस्मादुच्यते महाविष्णुमिति।**

एवं तावत् साङ्ग-मूलनृसिंह-व्यूहोपास्य-परत्वेन महाविष्णुपदं तृतीयं व्याख्याय अथेदानीं तदेव पदं द्वात्रिंशन्नृसिंह-व्यूहोपास्य-परत्वेन व्याख्यातुमृचमाह। 'यस्मात्' द्वात्रिंशन्नृसिंह-व्यूहात् 'पर' उत्कृष्टः 'न जातः' उत्पन्नोऽन्यो नास्ति सर्वस्यैवान्तर्भावात्। 'यः' व्यूहः सः 'आविवेश' प्रविष्टः 'विश्वा' सर्वाणि भुवनानि भूतानि व्याप्तुं तत्तद्रूपधारणेन विश्वरूपावतरणेन विभूत्या वा। प्रजया सह प्रजापतिरपि 'संविदानः' जानन् तमुपास्यतया, 'त्रीणि ज्योतींषि' गार्हपत्यादीनि 'सचते' सेवते। 'सः' प्रजापतिः उपासनं कुर्वन् 'षोड़शी' कला निराकारब्रह्मतया बभूव। तस्य चाद्यस्योपासकस्य प्रजापतेरन्यस्य वोपासकस्यायमुपासनाक्रमः। अत्र च प्रकरणे महाचक्र-नाभिवर्त्ति-क्षीरोदार्णव-

सम्बन्धुपास्यो मूलनृसिंह-व्यूह इति पूर्वाचार्य्याणां परिभाषा सम्प्रदायागता। तत्र प्रणव-पूर्वकशक्तिबीजोच्चारण-पूर्वकं सामाभिव्यक्त-द्वात्रिंशदक्षरेषु न्यस्तेषु चक्रे यथासङ्ख्यमेकैकस्मिन्नक्षरे प्रणव-सम्पुटिते तत्र व्यूहमन्त्रैस्तुतं व्यूहं स्तुत्वा तथैवोपास्य एवं द्वात्रिंशन्नृसिंह-व्यूहोपासनया स्वात्मानं महाविष्णुमुपास्य साङ्गसामाभिव्यक्त-साङ्गमूल-मन्त्रेण मूलनृसिंह-व्यूहप्रकरणे श्रुतत्वात् पञ्चाङ्गन्यासं विधाय सम्प्रदायानुसारेण स्वस्मिन् महाविष्णौ तथैव पञ्चाङ्गन्यासं विधाय ततः साङ्गोपासनामारभेत। तत्र प्रथमपादे पदत्रयात्मके प्रथमपाद-व्याख्यान-प्रतिपादित-गुणविशिष्टं शक्तिमन्नृसिंहपदपूर्वकं नमस्क्रिया-पदपूर्वकं सामाङ्ग-प्रणव-मन्त्र-व्याख्यात-हृदयमन्त्र-प्रतिपादित-गुणविशिष्टं मूलनृसिंहव्यूहमुपास्य द्वात्रिंशन्नृसिंहव्यूहमृक्-प्रतिपादितमुपासीत। एवं प्रतिपदं मूलनृसिंहव्यूहोपासनपूर्वकं द्वात्रिंशन्नृसिंहव्यूहोपासनम्। अत एव हृदयाद्यङ्ग-मन्त्राणामर्थं व्याचक्षाणैरस्माभिरुक्तं प्रपञ्चागमशास्त्रे। हृदयं बुद्धिगम्यत्वात् प्रणामः स्यान्नमः पदम्। क्रियते हृदयेनातो बुद्धिगम्या नमस्क्रिया इति। एवं द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पादेषु तत्तत्-पादोपासनां प्रागुक्तां कृत्स्नां विधाय महाविष्णुरूपे अन्त्यसाम-प्रतिपादितरूपे वा उपास्यरूपे वा, सायुज्यतया सच्चिदानन्द-रूपे वा, अथवा यथान्तःकरण-शुद्धियोग्यतया समाधिनावतिष्ठेतोपासकः। आद्यतृतीयोपासनयोः साम-मूलमन्त्र-प्रणवानां वैकल्पिक-जपपूर्वकत्वेनावस्थानम्। तथा यत्र यत्र मूलमन्त्र-स्मृतिः तत्र तत्र प्रणव-शक्ति-बीज-सम्पुटीकरणेन। तत्रापीष-

मूलमन्त्रजप-पूर्व्वकः प्रणवजपः श्रेयान्, तस्य सर्व्वोत्कृष्टत्वात्। सर्व्वमन्त्रजप-प्रत्याम्नायत्वेन विहितत्वात्। यः प्रणवमधीते स सर्व्वमधीते इति श्रुतेः। अन्ययोरुपासनयोरन्त्यसाम-निराकारयोरवस्थितौ न जपो नान्यचिन्तनं समाधावेवावस्थितिरिति-परम-रहस्य-विवेको न कस्यचित् प्रतिपादनीय इति स्थितम्। यस्मादिदं महाविष्णु-पदमुभयोपास्य-प्रतिपादनक्षमं तस्मादुच्यते महाविष्णुमिति। इति शब्दो व्याख्यातः॥

अथ कस्मादुच्यते ज्वलन्तमिति। यस्मात् महिम्ना सर्व्वाँल्लोकान् सर्व्वान् देवान् सर्व्वानात्मनः सर्व्वाणि भूतानि स्वतेजसा ज्वलति ज्वालयति ज्वाल्यते ज्वालयते सविता प्रसविता दीप्तो दीपयन् दीप्यमानो ज्वलन् ज्वलिता तपन् वितपन् सन्तपन् रोचनो रोचमानः शोभनः शोभमानः कल्याणः। तस्मादुच्यते ज्वलन्तमिति।

एवं प्रथमपादोपासनां साङ्गां विधाय तथैव द्वितीय-पादोपासनां विधातुं तदाद्यपदं मन्त्रापेक्षया चतुर्थञ्च पदं व्याख्यातुं प्रश्नोपक्रमः। स चोक्तार्थः। कस्मादुच्यते ज्वलन्तमिति। इति शब्दो व्याख्यातः। स होवाच प्रजापतिरित्यनुषज्योत्तरम्। यः 'स्वमहिम्ना' स्वाधीनमायया 'सर्व्वान् लोकान्' अन्तरिक्षगतान् पूर्व्वोक्तान् भाविनश्च तदन्तर्गतान् 'सर्व्वान् देवान्' यक्ष-गन्धर्व्वादीन् 'सर्व्वान् आत्मनः' ऋग्यजुः-सामाथर्व्वरूपान् पुरुषान् अन्यानृषीन्

सामाङ्ग-सावित्रमन्त्र-व्याख्यातांश्च, 'सर्व्वाणि भूतानि' एतान् पूर्व्वोक्तान् वक्ष्यमाणांश्च 'स्वतेजसा ज्वलति' स्वकीयप्रकाशेन एतानपि प्रति प्रकाशते। शिरोऽङ्गान्तर्गतं तेजो व्याख्यातं सर्व्वाङ्गाङ्गिव्यापितयाङ्गानामन्योऽन्य-सम्बन्ध-श्रवणात्, तस्माद्गतिषक्तान्यङ्गानि भवन्तीति श्रुतेः। 'ज्वालयतीति' एतान् प्रकाशयतीत्यर्थः। एवं साक्षात् प्रयोजकत्वेन च स्व-पर-सम्बन्धितया शिरोऽङ्गान्तर्गत-तेजःसम्बन्धे सिद्धेऽपि एतदेवावेदयितुमुभयपदित्वेन धातुं प्रयुङ्क्ते, प्राक् परस्मैपदमिदानीमात्मनेपदं ज्वाल्यते ज्वालयत इति।

एवं मूलनृसिंहव्यूहोपास्ये चतुर्थं पदं व्याख्याय द्वात्रिंशन्नृसिंहव्यूहे व्याख्यातुमृचमाह। 'सविता' सवितृ-मण्डलवद्वर्त्तुलतया स्थितत्वात् सवितायं व्यूहः। अतएव 'प्रसविता' सर्वकर्म्मानुष्ठानेऽभ्यनुज्ञाता। एतद्व्यूहोपासन-पूर्वकत्वादितरोपासनस्य। 'दीप्तो दीपयन् दीप्यमानः' यथाऽयं सविता रात्रितमो-विनाशनेन दीप्तः प्रकाशमानः कर्म्मानुष्ठानाभ्यनुज्ञाता, तथा द्वात्रिंशन्नृसिंहव्यूह उपासित उपासकाय मूलनृसिंह-व्यूहोपासनाऽज्ञान-रात्रितमो-विनाशनेन दीप्तः प्रकाशमानः प्रधानोपासनाभ्यनुज्ञाता। दीपयन् दीप्यमान इति शतृ-शानच्-प्रत्ययौ वर्त्तमानकालार्थावुक्तमेवार्थं द्रढ़यतः। 'ज्वलन् ज्वलिता' प्रकाशं कुर्व्वन् प्रकाशयिता। यद्वा, उभयत्रापि ज्वलनशब्दो दहनार्थे वर्त्तमानोऽप्यज्ञान-दाहकत्वेन व्याख्येयः। तत्र लोकाद्यज्ञानस्य प्रकाशयन् दाहकः। प्रकृते चोपासकाज्ञानदाहक इति। 'ज्वलन्' प्रकाशनेनाज्ञानदहनं कुर्वन् 'ज्वलिता' अज्ञान-दहनकर्त्ता, 'तपन्' तापं कुर्वन्नज्ञानस्य, 'वितपन्' स्वयं शान्तः, 'सन्तपन्' सन्तापं कुर्वन्न-

ज्ञानस्येत्येते शब्दप्रत्यया वर्त्तमानकालाः सन्तो यस्मिन् काले एतद्ब्रह्मोपासनं वर्त्तते तस्मिन्नेव महाविष्णौ रूपासकः प्रकाशात्मकोऽधिकारी वर्त्तते इति दर्शयन्ति। 'रोचनः' अनुद्वेगकरः 'रोचमानः' इच्छाकरः, अतएव शोभनः शोभमानः कल्याण इति। एतदुक्तं भवति। मूलनृसिंह-व्यूहस्य शिरोऽङ्गे उन्नते स्थितं तेजः सर्व्वप्रकाशात्मकं सर्व्वाज्ञानदाहकञ्चेति सामाङ्ग-सविद्यमन्त्रेण व्याख्यातमुपास्यमिति। यस्मादुभयोपास्य-प्रतिपादनक्षमं ज्वलन्तमिति पदं तस्मादुभयोपास्य-परत्वेनोपसंहरति, तस्मादुच्यते ज्वलन्तमिति। इति शब्दो व्याख्यातः॥

अथ कस्मादुच्यते सर्वतोमुखमिति। यस्मादनिन्द्रियोऽपि सर्वतः पश्यति, सर्वतः शृणोति, सर्वतो गच्छति, सर्वत आदत्ते, सर्वगः सर्वतस्तिष्ठति।

एकः पुरस्तात् य इदं बभूव यतो बभूव भुवनस्य गोप्ता।
यमप्येति भुवनं साम्पराये नमामि तमहं सर्वतोमुखम्॥

तस्मादुच्यते सर्वतोमुखमिति।

अथेदानीं क्रमप्राप्तं मूलमन्त्रापेक्षया पञ्चमं पदं पादापेक्षया द्वितीयमुभयोपास्ये व्याख्यातुं देवप्रश्नः। अथ कस्मादुच्यते सर्वतोमुखमिति। स चोक्तार्थः। स होवाच प्रजापतिरित्यनुषज्योत्तरम्। यस्मात् स्वमहिम्नेत्यनुषज्य व्याख्येयम्। 'अनिन्द्रियोऽपीति' सेन्द्रियस्य व्याख्यात-विग्रहस्य तदभिमान-राहित्यादनि-

न्द्रियत्वम् । अनिन्द्रियोऽप्ययं मूलनृसिंह-व्यूहः सर्व्वतः पश्यति सर्व्वतः शृणोतीति बुद्धीन्द्रियोपलक्षणम् । सर्व्वतो गच्छति सर्वत आदत्ते सर्वगः सर्वतस्तिष्ठतीति कर्मेन्द्रियोपलक्षणम् । एवमुभयेन्द्रियाभिमान-रहितोऽप्ययं व्यूह उभयेन्द्रियजन्य-कार्य्यकरण-शक्तिमान् शिरोऽङ्गे उपास्य इति दर्शयति ॥

एवमिदं सवतोमुखपदं मूलनृसिंहोपास्य-परत्वेन व्याख्याय अथेदानीं द्वात्रिंशन्नृसिंहोपासनापरत्वे तदेव पदमृचा व्याचष्टे । 'एकः पुरस्तात्' प्राक् ब्राह्मो नृसिंहावतारो बभूव । 'इदं' सर्वं यतो बभूव 'भुवनस्य' गोप्यस्य 'गोप्ता' नृसिंह एव विष्णुर्बभूव । 'यमप्येति, लयं गच्छति 'साम्पराये' प्रलयकाले 'भुवनं' सर्वं स एव महेश्वरो बभूवेति । ब्रह्मक्रमकाणां व्यूहानां त्रयाणां प्रथमत एवोपादानेन तदादिन्यायेनेतरेषामेकोनत्रिंशद्व्यूहानां ग्रहणम् । अस्मिन् मन्त्रे 'नमामि' नमस्करोमि 'तं' व्यूहम्, अहं नमामीत्येतत्पदद्वयमत्र वदन् सर्वपद-व्याख्यानेऽनुषक्तमिति दर्शयति । स्वमहिम्नेत्युपादानात् तत्र तत्र शक्तिमन्नृसिंह-पदमप्येतदनुषक्तम् ॥ 'सर्वतो मुखमिति' सर्वतो नृसिंहाकाराणि मुखानि यस्य स तथोक्तः तं नृसिंहं सर्वतोमुखं नमाम्यहमित्यर्थः । यस्मादिदं पदमुभय-प्रतिपादने शक्तं तदुभय-प्रतिपादकत्वेन तस्मादित्युपसंहरति, तस्मादुच्यते सर्वतोमुखमिति । एतदुक्तं भवति । द्वितीयपादे शिरोऽङ्ग-विशिष्टः प्रतिपादित-सर्वप्रकाशकत्व-सर्वाज्ञानदाहकत्वोभयेन्द्रियकार्य्य-करण-शक्ति-गुण-विशिष्टः सामाङ्ग-सविष्ट-मन्त्र-व्याख्यात-गुणविशिष्टो मूलनृसिंह-व्यूह उपास्यः, तत इतरो व्यूह इति । एवमाद्यादङ्गादुन्नत-प्रदेशे स्थितत्वाच्छिरसः शिर-

स्वम्। अत एव शिर आदित्यः सर्वोत्कृष्ट-प्रकाशः। तस्मै उन्नताय उन्नतस्थाय सर्वोत्कृष्ट-प्रकाशाय स्वाहेति प्रपञ्चस्तस्य। तस्मात् प्रपञ्चाकारात् तदाकारां बुद्धिं प्रत्याहृत्य नृसिंहाकारमेवोपासीतेत्येवं शिरोऽङ्गमन्त्रस्यार्थः। यो वै नृसिंहो देवो भगवान् यश्च सर्वमिति श्रुतेः। अतएवोक्तं शिरोऽङ्ग-मन्त्रार्थं व्याचचाणैरस्माभिः प्रपञ्चागमशास्त्रे। तुङ्गार्थत्वाच्छिरः स्वे स्वे विषयाहरणे स्थितः(१)। शिरोमन्त्रेण चोत्तुङ्ग-विषयाहृतिरीरिता इति॥

अथ कस्मादुच्यते नृसिंहमिति। यस्मात् सर्वेषां भूतानां ना वीर्य्यतमः श्रेष्ठतमश्च, सिंहो वीर्यतमः श्रेष्ठतमश्च। तस्मान्नृसिंह आसीत् परमेश्वरो जगद्धितं वा एतद्रूपमक्षरं भवति।

प्रतद्विष्णुस्तवते वीर्येण* मृगो नभीमः कुचरो गिरिष्ठः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥

तस्मादुच्यते नृसिंहमिति।

---

१ क, ख, द्विष्ठः।

* वीर्येण इत्यत्र वीर्य्यायेति चतुर्थ्यन्तः पाठो भाष्यसम्मतः, किन्तु बहुषु पुस्तकेषु तृतीयान्तपाठस्य दर्शनात् नारायणविहित-दीपिकासम्मतत्वाच्च तृतीयान्तपाठ एव मूले निवेशितः।

एवं द्वितीये पादे साङ्गोपासनामभिधाय तृतीयपादोपासनामभिधातुं तदाद्यपदं षष्ठञ्च मूलमन्त्रापेक्षयोक्तोपास्ये व्याख्यातुं देवप्रश्नः। अथ कस्मादुच्यते नृसिंहमिति। स चोक्तार्थः। स होवाच प्रजापतिरित्यनुषज्योत्तरम्। अत्र च यस्माच्छब्द-प्रयोगात् स्वमहिम्नेत्यस्यानुषङ्गं दर्शयति। यस्मात् सर्वेषां भूतानां मध्ये 'ना' पुरुषाकारः 'वीर्य्यतमः' तमप् सर्व्वातिशये' सर्व्वातिशायी श्रेष्ठतमश्च, सिंहो वीर्य्यतमः श्रेष्ठतमश्चेत्युक्तार्थम्। ततश्चोभया-त्मकरूप-प्रदर्शनेन यद्यद्रूपं कामयेऽहं तत्तद्धारणे लीलयैव शक्तोऽहमिति दर्शयति। यस्मादेवं तस्मान्नृसिंहः परमेश्वर आसीदित्यन्वयः। न च नृसिंहे परमेश्वर आसीदित्यन्वयः वैयधिकरण्यापत्तेः। सामानाधिकरण्यान्वयोपपत्तौ सत्यां वैयधि-करण्यानुपपत्तेः। तस्मान्नृसिंहः परमेश्वरस्त्रिनेत्रो नीलकण्ठः पिणाकीति सिद्धम्। ऋतं सत्यमिति प्राग्व्याख्यात-मन्त्रवर्णा-च्चोक्तं 'जगद्धितं' जगतो हितं जगद्धितमनिष्टनिरसनेन 'वै' प्रसि-द्धम् 'एतद्रूपं' प्रागुपास्यत्वेन यदुक्तम् 'अक्षरं भवति' यदक्षर-मविनाशं चिद्रूपं निराकारं तदेव साकारम् उपासकानुग्रहाय भवतीत्यन्वयः।

एवं नृसिंहपदं षष्ठं मूलनृसिंह-व्यूहे व्याख्याय तदेव पदं द्वात्रिं-शद्व्यूहे व्याचष्टे। 'विष्णुर्मृगः' सिंहः 'प्रस्तवते' स्तुतिं प्राप्नोति। स्तुतिमन्त्रैः। 'तद्वीर्य्याय' तत्तत्सामर्थ्याद* 'नभीमः' न भयङ्करः

---

* विष्णुर्वीर्य्येण 'तत्' विश्वं 'प्रस्तवते' प्रस्तुतं करोति 'मृगः' सिंहरूपः इति नारायणी व्याख्या।

'कुचरः' कुत्रापि(१)—न चरति सर्वदेव-विग्रहेषु लीलया स्वयं विचरति सर्वदेव-लीला-विग्रह-धारीत्यर्थः। 'गिरिष्ठः' गिरिः पर्वतः तत्स्थः ईश्वरात्मक इत्यर्थः। यद्वा, गिरि वाग्रूपासु स्तुतिषु यद्यद्रूपमभिलषन् स्तोता कामयते तत्तद्रूपं स्वस्मिन् स्थापयतीति गिरिष्ठः। यस्य 'त्रिषु विक्रमणेषु' विग्रहेषु विविधक्रमणं विक्रमणं तेषु ब्रह्म-विष्णु-महेश्वरात्मकेषु 'अधि' इत्युपरिभावे अध्युरुषु बहुषु लीलाविग्रहेषु 'भुवनानि' सर्व्वाणि 'क्षियन्ति' निवसन्ति स्वभावतः। तानि ध्यानपूर्वकाणि येऽभिवसन्ति एषु लीलाविग्रहेषु वयं तिष्ठाम इति, तर्हि क्षियतिरैश्वर्य्यकर्म्मा, ऐश्वर्य्यं प्राप्नुवन्तीति। एवं नानाविध-विक्रमणावतरणे 'वीर्य्याय' सामर्थ्याय तद्दर्शनाय विष्णुर्मृगः सिंहः 'प्रस्तवते' प्रकर्षेण स्तुतिं लभते इत्यर्थः। एवमुभयोपाख्ये नृसिंहपदं व्याख्यातं तस्मादित्युपसंहरति, तस्मादुच्यते नृसिंहमिति ॥ १० ॥

अथ कस्मादुच्यते भीषणमिति। यस्माद्-यस्य रूपं दृष्ट्वा सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि भीत्या पलायन्ते, स्वयं यतः कुतश्चिन्न बिभेति।

भीषास्माद्वातः पवते, भीषोदेति सूर्य्यः।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥

तस्मादुच्यते भीषणमिति।

---

१ ग, कुत्रायं न चरति।

एवमुभयापेक्षया षष्ठं नृसिंहपदमुभयोपास्ये व्याख्याय अथे-दानी-मुभयापेक्षया सप्तमं द्वितीयस्य पदं व्याख्यातुं देवप्रश्नः। अथ कस्मादुच्यते भीषणमिति। स चोक्तार्थः। स होवाच प्रजापतिरित्यनुषज्योत्तरम्। यस्माच्छब्दोपादानात् स्वमहिम्ने-त्यनुषङ्गः। 'यस्मात्' स्वमहिम्ना 'यस्य' मूलनृसिंहव्यूहस्य 'रूपं' साङ्गं शिखाङ्गयुक्तं मौलिप्रदेशे चान्द्र-तेजोराशि-युक्तं सामाङ्ग-यजु-र्लक्ष्मीमन्त्र-व्याख्यात-भू-र्भुवः-स्व-र्मह-र्लोक-चतुष्टय-सम्पिण्डित-तेजोराशियुक्तमप्रधृष्य-तेजोमयं रूपं दृष्ट्वा 'सर्व्वे देवाः' तदङ्गव्यू-निवासिनो वसु-रुद्रादित्याः 'सर्व्वाणि भूतानि' इमानि 'भीत्या' भयेन 'पलायन्ते' पलायनं कुर्व्वन्ति। 'स्वयं' देवः यस्मात् कस्मा-दपि न बिभेति, निरतिशयाभय-गुणविशिष्ट उपास्यः।

एवमुक्तोपास्ये भीषणपदं व्याख्याय तदेव पदं द्वितीये व्यूहे ऋचा व्याचष्टे। भीषेत्यादि। 'भीषा' भीत्या 'अस्मात्' मूलव्यूहात् 'वातः' वायुः 'पवते' वाति। वातपदोपादानात् पञ्च-महाभूतव्यूह उपलक्षितः। 'भीषोदेति सूर्य्य इति' सोम-सूर्य्यव्यूहावुपलक्षितौ। 'भीषास्मादग्निश्चेति' आग्नेयो व्यूहः। 'इन्द्रश्चेति' सर्व्वव्यूहः। 'मृत्युर्धावति पञ्चम इति' मृत्युव्यूहः। तत्रास्यामृचि यद्यपि पञ्चानां व्यूहानामुपादानेन तदादिन्यायेन सर्व्वसङ्कलनं तथापि भियो दर्शनात् वाय्वादीनां स्वस्वरूपेण भयगुणमुखेन सर्व्वेषां ब्रह्मादीनां सङ्ग्रहणात् तदुभय-भावरूप-नृसिंहव्यूहे प्रवेशनेन वा तद्रूपधारणेन वोभयरूपतेति द्विरूपत्व-मस्ति सर्व्वेषाम्। तत्रैकैकस्य देवस्य तत्तद्रूपधारणेनोभयरूपं प्रदर्शयन् बहूनां देवानां स्वात्मभावेनोभयरूपं प्रदर्शयतीति।

उभयरूपेण सर्व्वं द्वात्रिंशद्वर्णं सङ्ख्यातीयमृगिति तत्त्वार्थः। एवमुभयोपास्ये भीषणपदं व्याख्यातं तस्मादित्युपसंहरति, तस्मादुच्यते भीषणमिति।

अथ कस्मादुच्यते भद्रमिति। यः स्वयं भद्रो भूत्वा सर्वदा भद्रं ददाति रोचनो रोचमानः शोभनः शोभमानः कल्याणः।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
तस्मादुच्यते भद्रमिति।

एवमुक्तोपास्ये प्रागुक्तपदं व्याख्याय अथेदानीमुभयापेक्षया तृतीयमष्टमस्य पदमुभयोपास्ये व्याख्यातुं देवप्रश्नः। अथ कस्मादुच्यते भद्रमिति। स होवाच प्रजापतिरित्यनुषज्योत्तरम्। यः स्वमहिम्नेत्यनुषङ्गः। 'स्वयं भद्रो भूत्वा' भजनीयो माङ्गलिको भूत्वा सर्व्वदा 'भद्रं' माङ्गलिकं ददाति। भद्रदातृ-स्वरूपस्य मूलव्यूहे उपास्यमिति दर्शयति। 'रोचनः' दीप्तियुक्तः 'रोचमानः' शिखाङ्गेन रुचिं दीप्तिं कुर्व्वन्, शानच्-प्रत्ययान्तत्वात्। तदङ्गं द्वितीय-तेजोरूपादङ्गादधिकतरत्वेन तेजोरूपम्। अतश्च नानाभरणयुक्तं मौलिगतं तेजस्तदन्तर्गतानां देवानां स्वतेजसाभिभवतीत्येवमुपास्यम्। अतएवोक्तमस्माभिः शिखाङ्गमन्त्रं व्याचक्षाणैः प्रपञ्चागमशास्त्रे। शिखा तेजः समुद्दिष्टं वषड़ित्यङ्ग-

मुच्यते। तत्तेजोऽस्य ततः प्रोक्ता शिखामन्त्रेण मन्त्रितः। निरतिशय-तेजोऽवशत्वमिति-त्वर्थः। यस्य ज्ञानमयी शिखा इति-श्रुतेः। 'शोभनः' स्वरूपेण 'शोभमानः' शिखाङ्गतेजसा, अतएव 'कल्याणः' माङ्गलिको मूलनृसिंहव्यूहः।

एवमुक्तोपास्ये अष्टमपदं व्याख्याय अथेदानीं तेनैव पदेन द्वात्रिंशद्ग्रहमृचा व्याचष्टे। भद्रं कर्णेभिरिति। इयमृक् प्रारम्भे शान्तिपाठे व्याख्याता। 'तनूभिः' एभिस्तनुमन्त्रैरेव स्थिरै-रङ्गैरितिविशेषः, पञ्चमाङ्गान्तर्भावात् स्तुतिमन्त्राणाम्। एवमुभयो-पास्ये व्याख्यातं तस्मादित्युपसंहरति, तस्मादुच्यते भद्रमिति। इति शब्दो व्याख्यातः।

अथ कस्मादुच्यते मृत्युमृत्युमिति। यस्मात् स्वभक्तानां स्मृत एव मृत्युमपमृत्युञ्च मारयति। य आत्मदा बलदा, यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः, यस्य च्छायामृतं, यो मृत्युमृत्युः, कस्मै (१) देवाय हविषा विधेम। तस्मादुच्यते मृत्युमृत्युमिति॥

एवं तृतीयपादे तत्तत्पद-व्याख्यानेन साङ्गोपासनामभिधाय तथैव चतुर्थ-पादोपासनामभिधातुं तदाद्यपदं मूलमन्त्रापेक्षया नवमञ्च पदमुभयोपास्ये व्याख्यातुं देवप्रश्नः, अथ कस्मादुच्यते मृत्यु-

---

(१) कस्मै इत्यत्र कमिति द्वितीयान्तः पाठो भाष्यसम्मतः। परन्तु बहुषु पुस्तकेषु चतुर्थ्यन्तपाठस्य दर्शनात्, दीपिका-सम्मतत्वाच्च स एव मूले निवेशितः।

मृत्युमिति। स होवाच प्रजापतिरित्यनुषज्योत्तरम्। 'यस्मात्' स्वमहिम्नेत्यनुषङ्गः। 'स्वभक्तानां' भजसेवायाम्, स्वसेवकानाम् अनन्यभावेन 'स्मृत एव' उपासित एव 'मृत्युं' साक्षात्कालप्राप्तम् 'अपमृत्युं' अवान्तर-निमित्तप्राप्तम्, जातकर्म्मणि गणितशास्त्र-निर्णीतायुः-परिमाणे तदन्तरा मृत्युरपमृत्युः, तस्यानन्यभावे-नोपासकानामप्रार्थित एव 'मारयति' विनाशयतीत्येवं रूपं कवच-मङ्गमुपास्यम्। तस्य सामाङ्गमन्त्रेण नृसिंहगायत्र्या नृसिंह-रूपेण व्याख्यातत्वात् स्वानुपासकान् स्वस्वरूपान् सम्पाद्य मृत्युमपमृत्युञ्च मारयतीत्यर्थः। यो वै नृसिंहो देवो भगवान् यश्च जीव इति मन्त्रवर्णात्।

एवं प्रागुक्तं पदं मूल-नृसिंह-व्यूहोपास्य-परत्वेन व्याख्याय अथेदानीं तेनैव पदेन द्वात्रिंशद्व्यूहमृचा व्याचष्टे॥ 'यः' द्वात्रिंश-नृसिंहव्यूहः 'आत्मदा' आत्मानं ददातीत्यात्मदा स्वस्वरूपदाता सर्व्वेषां देवानां स्वस्वरूपमेव धारयतीत्यर्थः। 'बलदा' सामर्थ्य-दाता स्वोपासकानां देवानां स्वस्वरूपधारणे शक्तिं ददातीत्यर्थः। 'यस्य प्रशिषं' मूल-नृसिंह-व्यूहस्याङ्गचतुष्टयं प्रशिषं प्रकर्षेण शिष्यत इति प्रशिषं प्रोर्वरितं द्वात्रिंशद्व्यूहं 'विश्वे देवाः' सर्व्वे देवाः 'उपासते' उपास्तिं कुर्व्वन्तीत्यर्थः। 'यस्य च्छायामृतं' छाया इति गृहनाम, छायैवामृतं छायामृतं महाचक्रम्, तदन्त-र्भावादस्य व्यूहस्य,* 'यः' व्यूहः 'मृत्युमृत्युः' मृत्योरपि मृत्युः,

* यस्य 'विश्वे' सर्व्वे 'उपासते' यत्सम्बन्धिसर्व्वे उपासनं कुर्व्वन्तीति, जीवाश्चक्षुप-श्चक्षुरित्यादिश्रुतेः। तेषामात्मबलेनास्यैवेतिभावः। 'देवाः' ब्रह्माद्यः यस्य 'शिष' शिक्षा-मात्रां प्रोपासते, यस्य 'छाया' सन्निधानम् अमृतं वर्त्तते इति नारायणो व्याख्या।

मृत्युर्यस्योपसेचनम् इति श्रुतेः। ‘कं’ प्रजापतिं ब्रह्मणो व्यूहं तद्वादिन्यायेन बहुक्रमकत्वात् सर्व्वं सङ्गृह्णाति, देवा देवो दानाद्वा द्योतनाद्वा दीपनाद्वेति यास्कवचनात्। ‘हविषा’ हविः-प्रदानेन होमेन नैवेद्येन वाचनेन वा। अत एव वक्ष्यति महा-चक्र-प्रकरणे अनुष्टुभा होमं कुर्य्यात्, अनुष्टुभार्च्चनमिति। ‘विधेम’ परिचरेम। यद्वा, विधतिर्दानकर्म्मेति यास्कवचना-द्ब्रह्म-व्यूह-प्रभृति-व्यूहाय हविर्दद्म इति विभक्तिव्यत्ययः। कशब्दे देवशब्दे च तस्मिन् पक्षे विधतिः परिचरण-कर्म्मेति तत्त्वार्थः। एवं प्रागुक्तोपास्ये मृत्युमृत्युपदं व्याख्यातं तस्मादित्युपसंहरति, तस्मादुच्यते मृत्युमृत्युमिति।

अथ कस्मादुच्यते नमामीति। यस्माद्यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च। प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थम्,(१) यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रोऽर्य्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे। तस्मादुच्यते नमामीति।

एवं प्रागुक्तपदं प्रागुक्तोपास्ये व्याख्याय अथेदानीमुभयापेक्षया द्वितीयं दशमञ्च पदं व्याख्यातुं देवप्रश्नः। अथ कस्मादुच्यते नमामीति। स होवाच प्रजापतिरित्यनुषज्योत्तरम्। यस्मात् त्वमहमित्यनुषङ्गः। नमामीत्यस्याख्यातपदत्वादस्मदर्थ-प्रत्ययार्थं विहाय प्रकृत्यर्थं व्याचष्टे। तथा चास्य प्राक्तनसर्व्व-पदार्थ-सम्ब-

(१) ख, ग, घ, नमत्युक्थं।

श्विन: सर्व्वत्रानुषङ्गः। यस्मात् शब्दोपादानात् स्वमहिम्नेत्यनुषङ्गः प्रकृत्यर्थेन यस्मात् 'यं' प्रागुक्त-विशेषणं मूल-नृसिंह-व्यूहं 'सर्व्वे देवाः' पृथिव्यन्तरिक्ष-द्यु-ब्रह्मलोक-निवासिनो महाचक्रोपासकाश्च 'नमन्ति' नमस्कुर्व्वन्तीति सर्व्व-नमस्कार्य्य-गुण-विशिष्ट उपास्य इति दर्शयति। तथाच द्विविधोपासकानां देवानामधिकारि-विशेषणमाह। 'मुमुक्षवोऽब्रह्मवादिनश्च' इति। अब्रह्मवादिन इति, अन्यथा द्वैविध्यासम्भवात्। यद्वा, मुमुक्षवः ब्रह्मवादिनो मुक्ताश्च लीलया विग्रहं कृत्वा नमन्तीत्यनुषङ्गः। एतदुक्तं भवति। ब्रह्मलोके स ब्रह्मा स शिव स हरिरित्यादि-मन्त्रवर्णोपात्त-सामाङ्ग-नृसिंहगायत्र्या व्याख्यात-नृसिंह-व्यूहश्चतुर्थ-कवचाङ्गाश्रयत्वेनो-पास्यः। ततश्च कवचं सर्व्वानेतानुपास्यान् सङ्गृह्णातीत्यङ्ग-चतुष्टयान्तर्गतानन्यांश्च। अत एवोक्तमस्माभिः कवचाङ्गमन्त्रार्थं व्याचक्षाणैः प्रपञ्चसारे। "कवचग्रह इत्यस्माद्धातोः कवचसम्भवः। हुं तेजस्तेजसा तेन गृह्यते कवचं तत" इति।

एवं प्रकृत्यर्थसहितं नवपदार्थं प्रतिपाद्य साधारणरूपं नम-स्कार्य्यमभिधाय अथेदानीं सामादि-मन्त्र-साधारणत्वेन पुनः प्रकृ-त्यर्थमृचा व्याचष्टे प्र नूनमिति। 'उक्थं'(१) प्रशस्तं 'ब्रह्मणस्पतिः' ब्रह्मणः साकारस्य निराकारस्य च उपदेशद्वारा पाता पाल-यिता 'नूनं' निश्चितं 'मन्त्र' सामराजं स्तुहीत्यादि य आत्मदा इत्यन्तं द्वात्रिंशद्वर्ण-प्रतिपादकं मन्त्रराजं प्रवदति नमति। 'यस्मिन्' प्रागुक्ते मन्त्रे इन्द्रो वरुणो मित्रोऽर्य्यमा देवाः 'ओकांसि'

(१) क, उक्तश्च।

गृह्याणि उपासनाय 'चक्रिरे' कृतवन्त इत्यर्थः । अनेनैतद्दर्शयति । यथा देवे उपास्ये गुरौ च भक्तिः तथा मन्त्रेऽपीति । तदुक्तम् । "गुरौ देवे च मन्त्रे च सदृशी भक्तिरिष्यत" इति । अत्र च मन्त्रस्य नमस्कार्य्यत्वश्रवणात् । एवं नमामीत्येतदाख्यातपदमुक्तापास्ये व्याख्यातं तस्मादित्युपसंहरति तस्मादुच्यते नमामीति ॥

अथ कस्मादुच्यते अहमिति । अहमस्मि प्रथमजा ऋत-२३ स्य १२३४ (१) पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना २३ भा ३३४५ यि(२), यो माददाति स इ देव मा २३ व १२४५६ त्, (३) अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि १२३४५६ (४), अहं विश्वं भुवनमभ्यभवां (५), स्वर्णज्योतिः, १२३४५ य एवं वेदेति महोपनिषत् ॥ चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

इत्यथर्ववेदे नृसिंह-पूर्वतापनीये महोपनिषद्-
द्वितीया समाप्ता ॥ २ ॥

एवं नमामीति पदं नवपदसम्बद्धत्वेन व्याख्याय अथेदानीमहमिति कर्त्तृपदं सर्व्वसाधारण्येन व्याख्यातुं देवप्रश्नः । अथ कस्मादुच्यते अहमिति । नन्वाख्यातोत्तम-पुरुष-प्रयोगा-दर्था-

(१) ग, ऋत । १२१२ । १४५३ । स्य ॥ घ, ऋतस्य । २२४ ।

(२) ग, नाभा । २२ । मदद ४५ । घ, नाभौ । २२४५ ।

(३) ग, मा ।२२ । व १२३ ४५६ । घ, मायं ।२३४५६ ।

(४) ग, मद्मि १२३ । ४५६ । घ, मद्मि २३४५ ।

(५) घ, मभ्यभुवां ।२३४५ ।

देवाहमिति प्राप्ते पृथक् प्रयोगः कस्मादिति चोद्याभिप्रायेण देव-प्रश्नः, अथ कस्मादुच्यते अहमिति। स होवाच प्रजापतिरित्यनु-वच्योत्तरम्। पञ्चाङ्गोपासनाकर्तुः फलं निर्द्दिश्यते तादात्म्य-लक्षणम्। न चामुमुक्षोरेतदनिष्टमिति वाच्यम्, ऐश्वर्य्योत्तर-मेतत् फलावाप्तेः, य इह स्थातुमपेक्षते तस्य सर्वैश्वर्य्यं ददाति देहान्ते देवः परं ब्रह्मतारकमिति श्रुतेः, फलपदमिदं न तूपा-सकपदम्, तच्च पृथक् सामाभिव्यक्तमन्त्रेण व्याचष्टे, तच्च सर्व्वपदे-ष्वनुषज्यमानं सर्व्वं पदजातं सामाभिव्यक्तमेव व्याख्यातमिति नियमं दर्शयति। तथाच प्रागुक्ता सर्व्वोपासना सामपूर्व्विकैवेति। ततश्च प्रागुक्तायामुपासनायामुपास्योपासकभावेन प्रवृत्त उपासक उपासनातः शुद्धान्तःकरणः प्रत्यगात्मतयैवोपास्यं साक्षात् कृत्वाह अनेन साम्ना अन्येषामुपासनफलं दर्शयितुम्। 'अहमस्मि' प्रागुक्त-मुपास्यमहं भवामि 'प्रथमजा' पुरश्चरणोपासनायाः प्रथमोत्पन्नः(१)। 'ऋतस्य' सत्यस्य मूर्त्तामूर्त्तस्य जगतः 'पूर्वं' पूर्वः स्यां देवेभ्यः 'अमृतस्य' क्षीरस्य 'नाभायि' नाभ्यां 'यो माददाति' स्वीकरोति धारयति वा,'स इ देव' इत्थमेव 'मा' माम् 'आवत्'(२)रक्षितवान्,अवत् अवति रक्षति। तथाचावस्तावकेन मन्त्रेण सामाभिव्यक्तेन फल-निर्द्देशं कुर्व्वन् क्षीरोदार्णव-सम्बन्धिनीयमुपासनेति दर्शयति। अहम् 'अन्नम्' क्षीरम् उपास्याधारमहमेव भवामि, अन्नमदन्त्ता योऽस्ति तम् 'अन्नमदन्तं' देव-ब्राह्मणेभ्योऽन्नस्यादातारम् 'अद्मि' अहं भक्ष-यामि। यद्वा, 'अन्नमदन्तम्' अन्नादनकर्त्तारं जीवभावं पञ्चाङ्गोपा-

---

(१) क, ख, प्रथमोपपन्नः। (२) क, ख, ग, मामा वंवा:

सनातः 'अग्नि' भक्षयामि संसाररूपं विनाशयामीत्यर्थः। यत एवम् अतोऽहं 'विश्वं' सर्वं भुवनम् 'अभ्यभवां' अभिभवामि 'सुवर्णज्योतिः' सूर्य्यज्योतिरिव। यद्वा, सुवर्णाकारस्योपास्यस्य 'ज्योतिः' प्रकाशः अहमेव भवामीति फलनिर्द्देशः। इदञ्च फलमनुषङ्गात् प्रतिपदं प्रतिपाद्यस्यानुसन्धेयम् असकृत् साकाराखण्ड-वाक्यार्थोपदेशे हि दार्ढ्यं स्यात् तत्त्वमसीति नवकृत्व उपदेशवत्। एवं साकारनिष्ठस्य यद्यन्तःकरणं शुद्धं ततोऽपीदमेव फलं व्याख्यातम्। अतएव नोत्तरोपसंहारः प्राक्तनवत्, तस्मादिदमुच्यते इति। उपासनाभ्यासादद्वैतापत्तेः। यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभून्, तत् केन कं पश्येदिति श्रुतेः। एतत् सर्वं सामाङ्ग-प्रणवेन हृदयमन्त्र-व्याख्यानावसरे स्पष्टीक्रियते। 'यः' उपासकः 'एवं' प्रागुक्तमुपास्यमहं ब्रह्मोपासनयाधिकारि-तरतमभावाद्वा उपास्योपासक-भावेन 'वेद' उपास्ते। 'इति' शब्दः प्रागुक्त-सकलोपासना-समाप्तिं दर्शयति। उपनिषदिति उपनिषच्छब्दो व्याख्यातः।

इदञ्च सामगीतं नैवेद्ये विनियुक्तम्। तच्चानुष्टुभं द्रष्टव्यम्, न तु षट्स्वरं साङ्गं वा। यतः प्रथमोपनिषदि यच्छब्दस्य तृतीय-व्याख्यानावसरे तथैव व्याख्यातत्वात्। आनुष्टुभञ्चानुष्टुप्-स्वराभ्यां गेयम्। तौ च प्रथमोत्तमौ। तथाचानुष्टुभा भूतोत्पत्ति-व्याख्यानावसरे साचिविनोङ्गावितायामृचि तस्यैषा भवतीति। अत्र अनुष्टुप् प्रथमा भवति अनुष्टुबुत्तमा भवतीति प्रथमोत्तमयोः स्वरयोरनुष्टुप्-शब्देन व्याख्यातत्वात्, वाग्वा अनुष्टुबिति गीति-मात्रेऽपि वाक्शब्दस्य प्रयुक्तत्वात् सैषा वाग्वनस्पतिषु वदति। या दुन्दुभौ या वेणवे या वीणायामिति श्रुतेः। 'वाचैव प्रयन्ति'

गीत्वैव प्रयन्ति प्रथमस्वरेण गायन्ति 'वाचैवोद्यन्ति' गीत्वैवोत्तम-स्वरेण गायन्त्यक्षराणीत्यर्थः। परमा वा एषा च्छन्दसां यदनुष्टु-बिति अनुष्टुप्छन्द इति। ततश्चास्मिन् प्रकरणे अनुष्टुप्शब्देन त्रयोऽर्था उच्यन्ते, क्वचित् प्रथमोत्तमौ स्वरौ, क्वचिद्गीतिः, क्वचिच्छन्द इति, यथा योग्यतया ग्राह्या इत्यनुष्टुप्-सामोद्धार इत्यतिरहस्यमिति ॥ इति श्रीगोविन्द-भगवत्-पूज्यपाद-शिष्य-परमहंस-परिव्राजकाचार्य्यस्य श्रीशङ्करभगवत आदिकृतावाथ-र्वणीये तापनीयोपनिषद्भाष्ये द्वितीयोपनिषत् ॥ ४ ॥

ओं देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्, आनुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य शक्तिं वीजञ्च नो ब्रूहि भगव इति। स होवाच प्रजापतिः, माया वा एषा नारसिंही सर्वमिदं सृजति, सर्वमिदं रक्षति, सर्व-मिदं संहरति; तस्मान्मायामेतां शक्तिं विद्यात्, य एतां मायां शक्तिं वेद स पाप्मानं तरति, स मृत्युं तरति,(१) सोऽमृतत्वञ्च गच्छति, महतीं श्रियमश्नुते, मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनः,(२) ह्रस्वा वा दीर्घा वा प्लुता वेति। यदि ह्रस्वा भवति सर्वं पाप्मानं दहत्यमृतत्वञ्च गच्छति। यदि दीर्घा भवति महतीं श्रिय-माप्नुयादमृतत्वञ्च गच्छति। यदि प्लुता भवति ज्ञानवान् भवत्यमृतत्वञ्च गच्छति; तदेतदृषिणोक्तं निदर्शनम् ॥

(१) ग, स संसारं तरति। (२) ग, ब्रह्मवादिनो वदन्ति।

एवं द्वितीयोपनिषदि साङ्गां सफलामुपासनामभिधाय अथेदानीं तस्याः शक्ति-बीज-निर्णय-पूर्वकत्वात्तन्निर्णयार्थं तृतीयोपनिषदारभ्यते प्रश्नोत्तराख्यायिकया। नन्वेवं तर्हि इयं पूर्वमेवारब्धव्या एतत्पूर्वकत्वात् प्रागुक्ताया उपासनायाः। सत्यम्। शक्तिबीजद्वयस्य सम्पुटीकरणेन विवक्षितत्वात्। अर्थात् प्राक्प्राप्तस्यार्थस्य पश्चात् सङ्कीर्त्तने सम्पुटीकरणं स्यात्। अन्यथा अर्थानुसारेण सङ्कीर्त्तने पूर्वमेव द्वयं स्यान्नोपरिष्टादिति सम्पुटीकरणासम्भवादिति। पाठत उपासनाया ऊर्द्ध्वं सम्बन्धः शक्तिबीजस्यार्थाख्यानेन प्रमाणेन प्राक् सम्बन्धः, न त्ववधृत-शक्तिकस्योपास्यस्याकारावधृतिः। तथाहि। कथमस्यायमाकार इति पर्य्यनुयुक्ते स्वसामर्थ्यादिति वाच्यम्। ततश्च सामर्थ्यावधारण-पूर्वकमेवास्याकारावधारणमित्यर्थात् प्राक् सम्बन्धः पाठतश्चानन्तरमिति कथन्तु सम्पुटीकरणं स्यादिति प्रजापतेर्हृदयम्। किञ्चोपासनानन्तरं पठितापीयमुपनिषत् शक्तिबीज-निर्णयात्मिका तत्र तत्र पद-पाद-साङ्गोपासनावतारणे यस्मात् स्वमहिम्ना यः स्वमहिम्नेति वीप्साशब्देन महिमशब्देन चापकृष्टा सती पूर्वं सम्बन्धं लभते महोपनिषदपकर्षणवत्। अतश्चात्रैवारम्भणीयेति सिद्धम्। देवा ह वा इत्यादि स होवाच प्रजापतिरित्यन्तं स्पष्टार्थम्। मायावि-पुरुषाधीना मायेत्युच्यते। लोके हि मायाप्रसारक-मायाव्यधीना दृष्टा, 'वै' प्रसिद्धम् 'एषा नारसिंही' नृसिंहाधीना, यस्मादियं नृसिंहाकारब्रह्माधीना सती सर्वमिदं सृजतीत्यादि संहरतीत्यन्तं स्पष्टार्थम्। जगज्जन्म-स्थिति-लय-कारणत्वमेतदधीनं, शुद्धस्य ब्रह्मणोऽकारणत्वात्। यस्मादेवं 'तस्मान्मायामेतां शक्तिं विद्यात्' नृसिंहाधीना-

मुपासीत। य एतां मायां शक्तिं 'वेद' उपास्ते। तदुपासना-फल-माह। स पाप्मानमित्यादि अमृत इत्यन्तं स्पष्टार्थम्। 'मीमांसन्ते' विचारयन्ति ब्रह्मवादिनः। ह्रस्वा वा दीर्घा वा प्लुता वेति, सामान्याभावात् प्लुतैवेति प्राप्ते ह्रस्व-दीर्घयोः फलविशेष-सम्बन्धार्थमियं मीमांसा, तामाह। यदि ह्रस्वेत्यादि गच्छतीत्यन्तं स्पष्टार्थम्। ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत-सम्बन्धः सव्यञ्जनस्य स्वरस्य उत सकाराख्यं व्यञ्जनं विहाय स्वरस्य सम्बन्ध इति सन्देहः, तस्मिन् सन्देहे निर्णयाय 'एतत्' वक्ष्यमाणं 'निदर्शनम्' उदाहरणमृषिणोक्तम्।

**स ईं पाहि य ऋजीषी तरुत्रः श्रियं लक्ष्मीमौपलामम्बिकां गाम्। षष्ठीञ्च यामिन्द्रसेनेत्युत आहुस्तां विद्यां ब्रह्मयोनिं सरूपाम्। तामिहायुषे शरणं प्रपद्ये।**

स ईमिति। सकारव्यञ्जनात् पृथक्करणं सविन्दुकस्वरस्य। अतः सविन्दुके स्वरे ह्रस्वादिसम्बन्धो मायाबुद्ध्योपासनञ्च। सईमिति समासः। सकारश्च ई च सई, तस्याः सम्बोधनम्, ईमिति निपातत्वाद्दोषः। हे ई हे सविन्दुकस्वर त्वदालम्बनेन एता वक्ष्यमाणाः शक्तीः उपासिताः 'पाहि' रक्ष। यद्वा, स इति व्यस्तम्। यत्तदोर्नित्यःसम्बन्धः। 'य ऋजीषी' ऋजुभावेच्छुः, 'तरुत्रः' तरणशीलः स 'ईं' शक्तिं सविन्दुकं स्वरं श्रियादिबुद्ध्योपासितं 'पाः' पालितवान्। पा पालने। पालकाधीनत्वात् पालनीयशक्तेः। 'हि' इति निश्चितम्। सविन्दुकस्वरालम्बनत्वेनोपास्यास्तत्तद्ग्रह-सम्बन्धिनीः शक्तीराह, 'श्रियं' विष्णुशक्तिं पाः पालितवान्। यद्वा, पाहि, एवमुत्तरत्रापि द्विधा सम्बन्धः। 'लक्ष्मीं' नृसिंह-

शक्तिम्, 'श्रीपलामम्बिकां' गौरीं महेश्वरशक्तिम्, 'गां' सरस्वतीं ब्रह्मशक्तिम्, 'षष्ठीं' स्कन्दशक्तिम्, 'यामिन्द्रसेनेत्याहुस्ताम्' इन्द्रशक्तिम् इन्द्राणीं 'विद्याम्' ईश्वरशक्तिं 'ब्रह्मयोनिं' ब्रह्मावामैव कारणभूतां 'सरूपां' साकारां 'तां' तां शक्तिम् 'इह' सविन्दुके स्वरे 'आयुषे' उपासनानुकूलायुरभिवर्धनाय शरणं प्रविशामि॥ १॥

सर्वेषां वा एतद्भूतानामाकाशः परायणम्, सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव जायन्ते, आकाशादेव जातानि जीवन्त्याकाशं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति]; तस्मादाकाशं बीजं विद्यात्; तदेतदृषिणोक्तं निदर्शनम्। हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्; य एवं वेदेति महोपनिषत्॥ प्रथमः खण्डः॥ १॥

इत्यथर्ववेदे नृसिंहपूर्वतापनीये महोपनिषत्तीया समाप्ता॥ २॥

एवं शक्त्यक्षरनिर्णयं तदाश्रितां सप्तविध-शक्त्युपासनां दीर्घादिमात्रोपासनां सफलामभिधाय अथेदानीं बीजाक्षरनिर्णयं तदाश्रितां सफलाञ्चोपासनामभिधातुं तन्निर्णयमाह। सर्वेषां वा इत्यादि अभिसंविशन्तीत्यन्तं स्पष्टार्थम्। आकाशशब्दो हकारं वक्ति सर्वागमशास्त्र-प्रसिद्धेरागमरूपोपनिषत्प्रसिद्धेश्च।

यस्मादेवं तस्मात् 'आकाशम्' आकाश-शब्दवाच्यं हकारं बीजं विद्यात्। 'बीजं' निदानं मूलकारणं तद्बुद्ध्योपासीत तद्वाचकं वा निपातरूपेण। स चायं वाच्य-वाचक-सम्बन्धी लोकेऽप्रसिद्ध इति सम्प्रदाय-शास्त्रैकगम्यः। एवं शक्त्यक्षरमपि शक्तिवाचकत्वाच्छक्तिः तद्बुद्ध्योपास्यत्वाद्वा। शक्ति-बीजयोस्तद्बुद्ध्योपास्यत्वं तद्वाचकत्वादेवेति रहस्यम्। यथा प्रणवाक्षरं ब्रह्मवाचकत्वाद्ब्रह्मबुद्ध्योपास्यमभूत्तच्छक्तिबीजम्, तच्च सस्वरं व्यञ्जनमात्रं वेति सन्देहे तद्वाप्त्यर्थमाह। तदेतदृषिणोक्तं निदर्शनम्। तच्चोक्तार्थम्। 'सः' परमात्मा 'हं' मूलकारणं सत् ब्रूहत्। यद्वा, सकारेण सम्बद्धम् अजपागायत्रीरूपेण वर्त्तमानं नासिकापुटाभ्यां निःसृतं ब्राह्मण-स्त्री-शूद्राद्यधिकारितया वर्त्तमानं सङ्कल्पादेव फलदं परमात्मवाचकं हंस इति। 'हंसः' परमात्मा वक्ष्यमाणं सर्वमभूदिति वाक्यशेषः। 'शुचौ' बुद्धौ सीदतीति शुचिषत्, हंस एव 'वसुः' देवः। सएव अन्तरिक्षे सीदतीत्यन्तरिक्षाश्रितो देवः, सएव होता, 'वेदिषत्' वेद्यां सीदतीति वेदिषत्। स एवातिथिः 'दुरोणसत्' दुरोण इति गृहनाम। दुरवा भवन्ति दुस्तर्थास्तस्मिन् सीदतीति दुरोणसत्। सएव 'नरि' जीवे सीदतीति नृषत्, य आत्मनि तिष्ठन्निति श्रुतेः। 'वरसत्' वरे वरिष्ठे स्थाने सीदतीति वरसत् सएव, ऋतेन सत्येन सीदतीति ऋतसत् सएव, 'व्योम्नि' हृदयाकाशे उपलभ्यतया सीदतीति व्योमसत्, 'अब्जाः' अप्सु शेष क्षीरोदार्णवे उपास्यतया जात इत्यब्जाः, 'गोषु' वाक्षु उपास्यतया प्रतिपाद्यत्वेन जात इति गोजाः, 'ऋतं' सत्यमिति मन्त्रवर्णादुपास्यतया जात इति ऋतजाः, 'अद्रौ' मेघे

जात इति अद्रिजाः। छन्दसि जनिरयं सुबन्तप्रयोगे सकारान्तो दृष्ट इति सोपपदो विसर्गान्तो दीर्घश्च सुतेजा इतिवत्। एवं परमात्मैव 'बृहत्' महानिति 'ऋतं' सत्यं ज्ञेयमितिशेषः। 'यः' उपासकः 'एवं' परमात्मतत्त्वं बीजाक्षरवाच्यं तद्बुद्ध्यावोपास्य 'वेद' जानाति। इति शब्दः शक्तिबीज-निर्णय-समाप्तिं द्योतयति। यद्वा, 'इति' एवं, निपातानामनेकार्थत्वात्, इत्येवं महोपनिषदिति महोपनिषदि पठितानां मन्त्राणामेवं शब्दादेतदेव शक्तिबीजं स बध्नाति। ततश्च मूलमन्त्रं षट्पदे अक्षरे नृकारं सकारञ्च विहाय यच्छिष्टमक्षरद्वयं यथापठितं शक्तिबीजं द्रष्टव्यं सामर्थ्यात् परमात्मवाचकम्। आथर्वणर्च्चि द्वितीयहंसर्च्चि प्रथमं यत् पठितं तदिति। एवं स्तुतिमन्त्रेषु सर्वेषु चतुर्थपदे नृकारं सकारं विहाय यच्छिष्टमक्षरद्वयं यथापठितं तच्छक्तिबीजमिति तत्त्वं रहस्यञ्चेति शक्तिबीजाक्षरनिर्णयः॥ १॥

इति श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्य्यस्य गोविन्दभगवत्-पूज्यपादशिष्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतावाथर्वण-पूर्वतापनीयोपनिषद्भाष्ये तृतीयोपनिषत् समाप्ता॥ ३॥

ओं देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्, आनुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्याङ्गमन्त्रान् नो ब्रूहि भगव इति। स होवाच प्रजापतिः, प्रणवं सावित्रीं यजुर्लक्ष्मीं नृसिंहगायत्रीमित्यङ्गानि जानीयात्, यो जानीते सोऽमृतत्वञ्च गच्छति। ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्।

भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव, यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव।

एवं तावच्छक्ति-बीज-सम्पुटितां साङ्गां नृसिंहब्रह्मोपासनामभिधाय अथेदानीं तदङ्ग-हृदयादि-मन्त्रव्याख्यानाय यथासङ्ख्यं सामाङ्ग-मन्त्रोपनिषत् प्रश्नोत्तररूपाख्यायिकया चतुर्थी आरभ्यते। ननु यदि मूलमन्त्राङ्गमन्त्र-व्याख्यानायोपनिषदियं प्रस्तुता तर्हि तदङ्ग-न्यासावसरे अस्याः प्रस्तावः स्यात्, नत्विदानीं प्रस्तावो युक्तः। किञ्च मूलमन्त्रपद-व्याख्यानावसरे तदुपासनायाः कृत्स्नाया एवोक्तत्वादन्ते तत्फलस्य चोक्तत्वात् किमवशिष्टं यदर्थमियमुपनिषदारभ्यते। अत्रोच्यते। सत्यम्। तदङ्ग-न्यासावसरे पञ्चमाङ्गन्यासे प्रत्यक्षरमुभयत ओङ्कारो भवतीति वचनात् मूलमन्त्राक्षराणां यथापठितानां व्यत्यासे कृते मूल-मन्त्र-तत्पदापरिज्ञाने प्राप्ते तत्परिज्ञानस्यैवान्तरङ्गत्वात् तदर्थं पदोद्धारः प्रस्तुतः। तदनन्तरं तदर्थज्ञाने प्रसृते शक्तिबीज-निर्णयः प्रस्तुतः। इत्येवं पञ्चाङ्गन्यास-पदोद्धार-तदर्थ-शक्तिबीज-निर्णयानामन्योऽन्य-बद्धक्रमकत्वाच्च तदन्तराले प्रवेशोऽस्या न युक्त इतीयमुपनिषत् शक्तिबीज-निर्णयानन्तरं पठिता। यथा गुरुमते अधिकारलक्षणं मध्य एव पठितं, तथेयमुपनिषदुपरिष्टा-न्महाचक्रोपासना-फल-कथनयोर्बद्धक्रमकत्वात् तदन्तराले प्रवेश-मलभमाना मध्यस्थैव शोभते। किञ्च सामाङ्गप्रणवेन शक्तिबीजा-क्षर-मिश्रितेन हृदयाद्यङ्गमन्त्रो व्याख्येय इति न तदङ्गन्यासाव-सरे अस्याः प्रवेशो युक्तः। तदानीं शक्तिबीजाक्षरस्याप्रस्तुत-त्वेनाशक्यत्वान्निरूपणस्य। तस्माच्छक्तिबीज-निर्णयानन्तरमस्याः

आरम्भो युक्तः। यदुक्तं कृत्स्नविद्याभिधानात् किमवशिष्ट-मिति, तन्न, अनत्य ये वानागतावेक्षण-न्यायेन व्याख्यातृभिरेव तत्रोपसंहृतं, नतु तन्नत्यशब्दोपात्तमिति। यदुक्तम्, अन्ते फलस्य चोक्तत्वात् किं शिष्टमिति, तद्युक्तमेव प्राक्तनन्यायेन कृत्स्नत्वात् विद्यायाः। तस्मात् सूक्तं शक्तिबीज-निर्णयानन्तरमस्या आरम्भः शोभत इति। देवा ह वा इत्यादि नारसिंहस्येत्यन्तं स्पष्टार्थम्। अङ्गमन्त्रान्नो ब्रूहि भगव इति। वेदे अकारादेशान्तो भग-वच्छब्द इति सम्बोधनान्तो भगव इति। 'अङ्गेषु' हृदयाद्यङ्गेषु व्याख्येयेषु तद्व्याख्यानमन्त्राः अङ्गमन्त्राः। यद्वा, अङ्गानि च मन्त्राश्च अङ्गमन्त्रा इत्युभयथापि समासो युक्तः। किन्तूभयथा-प्येषां मूलमन्त्राङ्गमन्त्रसम्बन्धः सङ्ख्यातः स्थानाच्च सामर्थ्याच्च प्रतीतो नूनं न निवारयितुं शक्यते। स होवाच प्रजापति-रित्यादि गच्छतीत्यन्तमुक्तार्थम्। येनैव क्रमेणाङ्गानामुद्देशः कृतस्तेनैव क्रमेण तद्व्याख्यामाह। ओमित्येतदक्षरमिति। कथं पुनरोङ्कारनिर्णयः साकारात्मतत्त्व-प्रतिपत्त्युपायत्वं प्रतिपद्यते इति। उच्यते। ओमित्येतदालम्बनमेतद्वै सत्यकामः, ओमित्यात्मानं प्रयुञ्जीत, ओमिति ब्रह्म, ओङ्कार एवेदं सर्वमित्यादिश्रुतिभ्यो रज्ज्वादिरिव सर्पादि-विकल्पस्याद्वयात्मा परमार्थः सन् प्राणादि-विकल्पास्पदो यथा, तथा सर्वो-वाक्प्रपञ्चः प्राणाद्यात्म-विषय ओङ्कार एव। स चानुष्टुबङ्गं सन्नात्मस्वरूपमेव तदभिधायकत्वात्। ओङ्कार-विकार-शब्दाभिधेयश्च सर्वः प्राणादिरात्मविकल्पोऽभिधान-व्यतिरे-केण नास्ति। वाचारम्भणं विकारो नाभिधेयं(१)तस्येदं वाचातन्त्या-

(१) क, ख, नामधेयं।

नामभिर्दामभिः सर्वं सितं सर्वं ह्योदं नामनीत्यादि श्रुतिभ्यः। अतश्चाह। ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमिति। यदिदमर्थजातमभिधानाभिधेयभूतं तस्याभिधानाव्यतिरेकादभिधानभेदस्योङ्कारा-व्यतिरेकादोङ्कार एवेदं सर्वं परञ्च ब्रह्माभिधानाभिधेयोपायपूर्वकमवगम्यते इत्योङ्कार एव। 'तस्य' एतस्य परापरब्रह्मरूपस्याक्षरस्य ओमित्येतस्य 'उपव्याख्यानं' ब्रह्मप्रतिपत्त्युपायत्वात् ब्रह्मसमीपतया विस्पष्टं प्रकथनमुपव्याख्यानं प्रस्तुतं जानीयादितिशेषः, नत्वनुषङ्गः। व्यवायान्नानुषज्यते इति न्यायात्। भूतं भवद्भविष्यदिति। कालत्रय-परिच्छेद्यं यत् तदोङ्कार एवोक्तन्यायतः। 'यच्चान्यत्त्रिकालातीतं' कार्य्याधिगम्यं कालत्रयापरिच्छेद्यमव्याकृतादि तदप्योङ्कार एव।

सर्वं ह्येतद्ब्रह्म अयमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पाज्जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशति-मुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः। स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशति-मुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः। यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति, तत्सुषुप्तं, सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञान-घन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः। एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।

अभिधानाभिधेययोरेकत्वेनाभिधान-प्राधान्येन निर्द्देश: कृत:। ओमित्येतदक्षरमिदं सर्व्वमित्यादि। अभिधानप्राधान्येन निर्द्दिष्टस्य पुनरभिधेयप्राधान्येन निर्द्देशोऽभिधानाभिधेययोरेकत्वप्रतिपत्त्यर्थम्, इतरथा ह्यभिधान-तन्त्राभिधेय-प्रतिपत्तिरित्यभिधेयस्याभिधानत्वं गौणमित्याशङ्का स्यात्। एकत्वप्रतिपत्तेश्च प्रयोजनमभिधानाभिधेययोरेकेनैव प्रयत्नेन प्रविलापयंस्तद्विलक्षणं ब्रह्म प्रतिपद्यते इति। तथाच वक्ष्यति। पादा मात्रा मात्राश्च पदा इति। तदाह। 'सर्व्वं ह्येतद्ब्रह्म' सर्व्वं यदुक्तमोङ्कारमात्रमिति तदेतद्ब्रह्म। तच्च ब्रह्म परोक्षाभिहितं प्रत्यक्षतो विशेषेण निर्द्दिशति, अयमात्मा ब्रह्मेति। अयमिति चतुष्पात्त्वेन प्रविभज्यमानं प्रत्यगात्मानं प्रत्यगात्मतयाभिनयेन निर्द्दिशति, अयमात्मेति। 'सोऽयमात्मा' ओङ्काराभिधेय: परापरत्वेन व्यवस्थित: 'चतुष्पात्' कार्षापणवत् न गौरिव चतुष्पात्, त्रयाणां विश्वादीनां पूर्व्वपूर्व्व-विलापनेन तुरीयस्य प्रतिपत्तिरिति करणसाधन: पादशब्द:। तुरीयस्य तु पद्यत इति कर्म्मसाधन: पादशब्द:। कथं चतुष्पात्त्वमित्यत्राह। जागरितं स्थानमस्येति जागरितस्थान: 'वहि:प्रज्ञ:' स्वात्मव्यतिरिक्ते विषये प्रज्ञा यस्य स वहि:प्रज्ञ:, वहिर्व्विषये यस्य प्रज्ञा ऽविद्याकृताऽवभासत इत्यर्थ:। तथा 'सप्ताङ्ग:' सप्त शक्तयो ऽङ्गे हृदयाख्ये यस्य स तथोक्त:। विष्णुशक्तीनां विष्णुवक्ष:स्थलाश्रयत्वप्रसिद्धे:, "विष्णोर्व्वक्ष:स्थलाश्रया" इति स्मृते:, "विष्णोर्व्वक्ष:स्थले स्थिताम्" इति, प्रविश्याशिपङ्कजां वक्ष:स्थलेन श्रियमुद्वहन्" इति च। तथा 'एकोनविंशतिमुख:' मूलमन्त्रापेक्षया एकोनविंशतितमम्

अक्षरं बीजं मुखं यस्य मूलनृसिंहव्यूहस्य स तथोक्तः । नाभे-रूर्द्धमूर्द्धतः प्राक् यतो हृदयाख्यमङ्गम्, अत उपास्योपासकयो-रैक्ये भेदे वा हृदयाङ्गन्यास-व्याख्यानमविरुद्धम् । नन्वेतत् सप्ताङ्गानि मूर्द्धैव सुतेजा इत्येवमादीनि यस्य स तथोक्तः, तथा एकोनविंशति मुखान्यस्य बुद्धीन्द्रिय-कर्म्मेन्द्रियाणि वायवः प्राणादयः पञ्च मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तमिति मुखानीव तान्युप-लब्धिद्वारत्वादित्येवं यथासङ्ख्यं विराड्-हिरण्यगर्भ-परत्वेन वाक्य-द्वयं माण्डूक्योपनिषत्-प्रणवविद्यायां व्याख्यातं, तथात्रापि कस्मान्न व्याख्यायते । उच्यते । अत्रापरविद्या-प्रकरणाश्रितत्वात् प्रणव-विद्यायास्तथाङ्गत्वेन विनियोगात् प्रणवमङ्गं जानीयादिति । तथा शक्तिबीज-विर्णयानन्तरमस्याङ्गस्य पाठात् माण्डूक्ये प्रणव-विद्यायाः अनारभ्याधीतत्वात् प्राधान्यम् अङ्गत्वेन विनियोगाभा-वाच्च तथा तत्र शक्तिबीजयोरप्रस्तुतत्वाच्च विद्याभेदाच्च तथा व्याख्यानभेदेनार्थभेदात् पृथगर्थप्रतीतिर्ज्ज्यायसी । ननु उभय-त्रापि अन्यूनानतिरिक्त-पाठप्रत्यभिज्ञानेन विद्यैक्यादङ्गविद्याया उत्कर्षः, प्रधानविद्यायामङ्गविद्यायाः प्रवेशः । अत्रोच्यते । अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्न । विशेषादितिन्यायेन विद्याभेदस्यैव युक्तत्वादाम्यु दयिक-काम्येष्टिवाक्यवच्च । ननु भेदेऽपि प्रधान-विद्याया एवाङ्गत्वेन विनियोगोऽस्तु प्रत्यभिज्ञानाच्च विद्यैक्यमिति । तन्न । प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वमिति न्यायेन नैयमिकाग्नि-होत्र-कौण्डपायिनामयनाग्निहोत्रवद्भेदस्यैव युक्तत्वात् । किञ्च उभयत्रापि बहुतरपाठसाम्येऽपि क्वचित् पाठभेदोऽपि दृश्यते । तुरीयमात्रा-निरूपणावसरे, एषोऽन्तर्याम्येष ईशान एष प्रभुरिति,

माण्डूक्ये पाठः। तापनीये तु, एषोऽन्तर्याम्येष योनिरिति, ईशान-प्रभुपदद्वयं विहाय पाठः; तस्मादिवता, यद्यत्र योग्यं प्रस्तुतञ्च तत्तथा व्याख्येयम्। तथा 'स्थूलभुक्' स्थूलां पृथिवीं ब्रह्माण्डान्तर्गतां भुङ्क्ते सेवते इति स्थूलभुक्। विश्वेषां नराणां तस्मिन्नेवानेकधा नयनात् 'वैश्वानरः' विश्वनर एव वैश्वानरः। ननु यथा माण्डूक्ये वैश्वानरशब्द-सामर्थ्यात् सप्ताङ्गैकोनविंशति-मुख-पदद्वयं यथासङ्ख्यं विराड्-हिरण्यगर्भ-परत्वेन व्याख्यातम्, तथात्रापि वैश्वानरशब्द-सामर्थ्यात् तदुभय-परत्वेन व्याख्यायतां किमिति शक्तिबीज-परत्वेन, प्रकरणसन्निधेर्वाक्यसन्निधेर्बलीयस्त्वात्। सत्यम्। यद्यत्र वैश्वानरशब्दो वैश्वानर-विद्यापरत्वेनैव वर्त्तेत तर्हि एवं स्यात् नत्वेतदस्ति, यौगिक्या वृत्त्यान्यपरत्वेन व्याख्यातत्वात्। किञ्च, तत्र तत्र विधेयार्थभेदेन वाक्यभेदेन वाक्यसन्निधिर्निश्चितः; अत्र उभयत्रापि प्रकरणसन्निधेरविशिष्टत्वात् प्रागव्याख्यैव ज्यायसी। 'प्रथमःपादः' तत्राकारोकार-मकाराश्रितत्वेन तद्वाचकत्वेन वा एवंविध-विशिष्ट-बुद्ध्युत्पत्तिरिति प्रथमः पादः, एतत्पूर्वकत्वादुत्तर-पादाधिगमस्येति-प्राथम्यम्।

नन्वयमात्मा ब्रह्मेति प्रत्यगात्मनोऽस्य चतुष्पात्त्वे प्रक्रान्ते कथं शक्तिबीजयोरङ्गमुखत्व-कीर्त्तनमिति। नैष दोषः। उपास्योपासकयोरभेदस्यात्र विवक्षितत्वात्। एवञ्च सति नृसिंहब्रह्माद्वैतसिद्धिः। सर्वभूतस्थमात्मैको दृष्टः स्यात्, सर्वभूतानि चात्मनि, यस्तु सर्व्वाणि भूतानीत्यादि-श्रुत्यर्थश्चैवमुपसंहृतः स्यात्। अन्यथा परिच्छिन्न एव प्रत्यगात्मा साङ्ख्यादिभिरिव दृष्टः स्यात्।

दृश्यते च सर्व्वोपनिषदां सर्व्वात्मैकत्व-प्रतिपादकत्वम्। अतो युक्तमेवा-स्योपासकस्यात्मन उपास्येनात्मनैकत्वमभिप्रेत्य सप्ताङ्गत्ववचनं मुखवचनञ्च। स्वप्नः स्थानमस्य तैजसस्य स 'स्वप्नस्थानः'। जाग्रत् प्रज्ञानेक-साधना बहिर्व्विषये ऽवभासमाना मनःस्पन्दन-मात्रा सती तथाभूतं संस्कारं मनस्याधत्ते, तन्मनस्तथा संस्कृतं चित्रित इव पटो बाह्यसाधनानपेक्षमविद्या-कर्म्मभ्यां प्रेर्य्यमाणं जाग्रद्वदवभासते। तथाचोक्तम्। अस्य लोकस्य सर्व्वावतो मात्रामुपादायेत्यादि, परे देवे मनस्येकीभवन्तीति प्रस्तुत्यात्रैव देवः स्वप्ने महिमानमनुभवतीत्याथर्व्वणे। इन्द्रिया-पेक्षयान्तःस्थत्वान्मनसस्तद्वासनारूपा त्वलब्धा स्वप्ने प्रज्ञायेतेति 'अन्तः प्रज्ञः', 'तेजसि' विषयशून्यायां प्रज्ञायां केवल-प्रकाश-रूपायां विषयित्वेन भवतीति 'तैजसः' विश्वस्य सविषयत्वेन प्रज्ञायाः स्थूलाया भोग्यत्वम्, इह पुनः केवला वासनामात्रा अस्फुटप्रज्ञा भोग्येति प्रविविक्तो भोग इत्युपकारमिश्रणं शक्ति-बीजयोः समानमन्यत्। द्वितीयः पादस्तैजसः। त्रिष्वपि स्थानेषु तत्त्वाप्रतिबोध-लक्षणः स्वापोऽविशिष्ट इति पूर्वाभ्यां सुषुप्तं विभजते। यत्र सुप्तो न कञ्चनेत्यादि। नहि सुषुप्ते पूर्व्वयो-रिवान्यथाग्रहण-लक्षणं स्वप्नदर्शनं कामो वा कश्चन विद्यते। तदेतत् सुषुप्तं स्थानमस्येति 'सुषुप्तस्थानः' स्थानद्वय-प्रविभक्तं मन-स्पन्दितं द्वैतजातं तथ्यथारूपापरिज्ञानेनाविवेकापन्नं नैशतमो-ग्रस्तमिवाहः अस्फुटप्रपञ्चमेकीभूतमुच्यते। अत एव स्वप्न-जाग्रन्मनस्पन्दनानि प्रज्ञानानि घनीभूतानि चेयमवस्थाऽविवेक-रूपत्वात् प्रज्ञानघन उच्यते। यथा रात्रौ नैशेन तमसाऽवि-

भज्यमानं सर्वं घनमिव, तद्वत् प्रज्ञानघनः। एवशब्दाज्जात्यन्तरं नास्तीत्यर्थः। मनसो विषय-विषय्याकार-स्पन्दनायास-दुःखाभावादानन्दप्रायोऽनानन्द एवानात्यन्तिकत्वात्। यथा लोके निरायासस्थितो सुख्यानन्दभुक् उच्यते। एषोऽस्य परमानन्द इति श्रुतेः। स्वप्नादिप्रतिबोधे चेतः प्रतिद्वारीभूतत्वात् 'चेतोमुखः' बोधलक्षणं वा चेतो 'मुखं' द्वारमस्य स्वप्नाद्यागमनं प्रतीति चेतोमुखः। भूत-भविष्यद्ज्ञातृत्वात् सर्वविषय-ज्ञातृत्वमस्यैवेति 'प्राज्ञः', सुप्तो हि भूतपूर्वगत्या प्राज्ञ इत्युच्यते। अथवा प्रज्ञप्तिमात्रमस्यैव साधारणं स्वरूपमिति प्राज्ञः। इतरयोर्विशिष्टमप्यस्ति विज्ञानमस्ति। सोऽयं प्राज्ञस्तृतीयः पादः। एष हि स्वरूपावस्थस्य साधिदैविकस्य भेदजातस्य सर्वस्येशिता नैतस्माज्जात्यन्तरभूतोऽन्येषामिव। प्राणबन्धनं हि सोम्यमन इति श्रुतेरयमेव हि 'सर्वस्येश्वरः' अयमेव हि सर्वभेदावस्थाज्ञातेत्येष 'सर्वज्ञः'। 'एषोऽन्तर्यामी' अन्तरनुप्रविश्य सर्वेषां भूतानां नियन्तापि एष एव। अत एव यथोक्तं सभेदं जगत् प्रसूयते इति 'एष योनिः', अत एव प्रभवश्चाप्ययश्च 'प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्' एष एव। एतावानुभयत्रापि समानः पाठः। अत ऊर्द्धं माण्डूक्ये उक्ता एवार्थे श्लोकान् पठित्वा तुरीयः पादः, तापनीये तु तान् विहाय तुरीयः पादः। एतस्मिन्नपि कियान् पाठभेदस्तद्व्याख्यानावसरे प्रदर्शित एव। तत्रोपयोगी श्लोकः पठ्यते। "दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तस्तु तैजसः। आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहे व्यवस्थितः"। जागरितावस्थायामेव विश्वादीनां त्रयाणामनुभव-प्रदर्शनार्थं

श्लोकः। दक्षिणाक्ष्येव मुखं यस्य स तथोक्तस्तस्मिन्। सर्वेषु करणेष्वविशेषेऽपि दक्षिणेऽक्षिण्युपलब्धिपाटवदर्शनात्तत्र विशेष-निर्देशो विश्वस्य। दक्षिणाक्षिगतो रूपं दृष्ट्वा निमीलिताक्ष-स्तदेव स्मरन् मनस्यन्तः स्वप्न इव वासनारूपमभिव्यक्तं पश्यति यथा, अत्र तथा स्वप्ने। अतो मनस्यन्तस्तु तैजसो विश्व एव। आकाशे वाह्यादिस्मरण-व्यापारोपरमे प्राज्ञ एकीभूतो घनप्रज्ञ एव भवति मनोव्यापाराभावात्। दर्शन-स्पर्शने एव हि मनस्पन्दितं तदभावे हृद्येवाविशेषेण प्राणात्मनावस्थानात् प्राणः। प्राणो ह्येवैतान् सर्वान् संवृङ्क्ते(१) इति श्रुतेः। तैजसो हिरण्यगर्भो मन-स्यवस्थितत्वात् लिङ्गं मनो यत्र मनोमयोऽयं पुरुष इत्यादि श्रुतिभ्यः। ननु व्याकृतः प्राणः सुषुप्ते तदात्मिकानि करणानि भवन्ति कथ-मव्याकृतता। नैष दोषः। अव्याकृतस्य देश-काल-विशेषा-भावात्, यद्यपि प्राणाभिमाने सति व्याकृततैव प्राणस्य तथापि पिण्डपरिच्छिन्न-विशेषाभिमान-निरोधः प्राणो भवतीत्यव्याकृत एव प्राणः परिच्छिन्नाभिमानवताम्। यथा प्राणलये परिच्छिन्ना-भिमानिनां प्राणोऽव्याकृतस्तथा प्राणाभिमानिनोऽप्यविशेषापन्न-त्वादव्याकृतता समाना प्रसववीजात्मकत्वञ्च। तदध्यक्षश्चैको ऽव्याकृतावस्थः परिच्छिन्नाभिमानाध्यक्षाणाञ्च तेनैकत्वमिति पूर्वोक्तं विशेषणमेकीभूतप्रज्ञानघन इत्याद्युपपन्नं तस्मिन्। उक्तहेतुत्वात् प्राणशब्दत्वमव्याकृतस्य प्राणबन्धनं हि सौम्यमन इति श्रुतेः।

[१] क, ख, संवृङ्क्ते।

न वहिः प्रज्ञं, नान्तः प्रज्ञं, नोभयतः प्रज्ञं, न प्रज्ञं, नाप्रज्ञं, न प्रज्ञानघनम्, अदृष्टम्, अव्यवहार्यम्, अग्राह्यम्, अलक्षणम्,(१) अचिन्त्यम्, अव्यपदेश्यम्, एकात्मप्रत्ययसारं, प्रपञ्चोपशमं, शिवम्, अद्वैतं, चतुर्थं मन्यन्ते, स आत्मा विज्ञेयः॥ प्रथमः खण्डः॥ १॥

एवं तावत् प्रभवाप्ययौ हि भूतानामित्यनेन एकविज्ञानेन सर्वविज्ञान-प्रतिज्ञा दर्शिता। तथा माण्डूक्ये श्लोके जागरितावस्थायामेवावस्थात्रयमुक्तं तस्यामेवावस्थायाम्। तन्नैविध्ये मनोव्यापारं व्यावृत्य प्रागुक्तोपास्ये मनोव्यापारं प्रवर्त्तयितुमुपास्यस्वरूपमाह न वहिः प्रज्ञमिति। वहिर्विषय-व्यापारोपरमात् जागरितावस्था-प्रतिषेधान्मनसो हि स्वस्मिन् व्यापारेणान्तः प्रज्ञत्वे तैजसत्वे च प्रत्यगात्मनः प्राप्ते तन्निषेधति, नान्तःप्रज्ञमिति। उभयत्र व्यापार-प्रतिषेधेन तदन्तरालव्यापारे प्राप्ते तन्निषेधति, नोभयतः प्रज्ञमिति। जाग्रत्स्वप्नान्तराले मनोव्यापारं प्रज्ञार्थं न कुर्य्यादित्यर्थः। अन्तराल-प्रतिषेधेनोभयत्र युगपत् प्रज्ञार्थं व्यापारे प्राप्ते तन्निषेधति, न प्रज्ञमिति। एवं सर्वमनोव्यापार-प्रतिषेधादव्यापृतं मनोऽविद्यात्मकं समवतिष्ठेत तत्स्थितिं प्रतिषेधति नाप्रज्ञमिति। तत्स्थिति-प्रतिषेधादज्ञान-साक्षिके स्वापे प्राप्ते तन्निषेधति, न प्रज्ञानघनमिति। एवं षट्प्रतिषेधैः प्रणवविद्या-

१ क, च, चिह्नितपुस्तकद्वये 'अलिङ्गम्' इत्यतिरिक्तं पदं विद्यते।

ङ्गभूतैरुपास्य प्रतिकूलं प्रतिषिध्य व्यावृत्य यदुपास्ये मनो व्यापृतं कार्य्यं तदुपास्यं निर्द्दिशति, अदृष्टमिति। नहि दृष्टमुपास्यं क्वचिद्दृष्टं पुरुषाकारमेव वा तिर्य्यगाकारमेव वा, यथा गोपाल-कूर्म्मादि नतूभयरूपं नृसिंहात्मकं त्रिनेत्रं पिनाकहस्तमिति। अत एव 'अव्यवहार्य्यम्' अतएव 'अलक्षणमिति'। न 'लक्षणं' लिङ्गं विद्यते यस्य तत् अलक्षणम्, अतएव 'अचिन्त्यम्' अनुमानेन तर्केण वा। अतएव 'अव्यपदेश्यम्' नियताकारोपास्य-प्रतिपादकैः शब्दैः। अतएव 'एकात्म-प्रत्ययसारं' एकस्मिन् सर्व्वेषामात्मनां प्रत्यय एकात्मप्रत्ययः स एव सारं प्राप्तिसाधनं यस्य तत् तथोक्तम्। अथवा, एकएवात्मा उपास्योपासकयोरित्येवं प्रत्ययः, शेषं पूर्व्ववत्। अतएव 'प्रपञ्चोपशमं' प्रागुक्तेन न्यायेन मनसोहि वाह्य-दर्शन-स्मरण-व्यापाराभावादव्यापृतत्वाच्च स्वापाभावादुपास्य-व्यतिरेकेण प्रपञ्चाप्रतीतेः प्रपञ्चोपशममिति। 'शिवं' शङ्करं 'चतुर्थं' तुरीयं पादं मन्यन्ते अर्द्धमात्रानादात्मकमिति। तच्चोपास्यं प्रत्ययात्मत-योपास्यमाह, 'सः' उपास्यः 'आत्मा' प्रत्यगात्मा इत्येवं 'विज्ञेयः' द्रष्टव्यः। एवमियं प्रणवविद्या षट्-प्रतिषेधवती सप्तशक्तिक-हृद-याद्यङ्गवीजमुखवत्यङ्गिनि मनोव्यापारं स्थिरं कुर्व्वत्यस्यां विद्यायामुप-कारवती असकृदावर्त्तनीयोपासकेनेति तात्पर्य्यम्। १॥

अथ सावित्री गायत्री, या यजुषा प्रोक्ता, तया सर्व्वमिदं व्याप्तम्। घृणिरिति द्वे अक्षरे, सूर्य्य इति त्रीणि, आदित्य इति त्रीणि, एतद्वै सावित्रस्याष्टाक्षरं पदं श्रियाभिषिक्तं, य एवं वेद, श्रिया हैवाभिषिच्यते; तदेतदृचाभ्युक्तम्।

ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति। य इत्तद्विदु (१) स्त इमे समासते इति। न ह वा एतस्य ऋचा न यजुषा न साम्नार्थोऽस्ति, यः सावित्रीं वेदेति।

एवं तावत् सामाङ्ग-प्रणव-विद्यां नृसिंहब्रह्मविद्योपकारिणी-मभिधाय अथेदानीं तदुपकारिणीमेव शिरोऽङ्ग-व्याख्यात्रीं सामाङ्ग-सवितृमन्त्र-प्रतिपाद्यां विद्यां नृसिंह-ब्रह्मविद्याङ्गभूता-माह, अथ सावित्री गायत्रीति॥ 'अथ शब्दः' क्रमप्राप्तानन्तर्य्यार्थः। मन्त्रे सवितृपदाभावेऽपि सावित्रीति वदन् सवितृकालीन-प्रकाश-वत् सुषुम्ना प्रकाशवच्च बाह्याभ्यन्तरतमो-निवारक-प्रकाशवदयं शिरोऽङ्ग-प्रकाशो निविड़ाविद्या-निवर्त्तक इति दर्शयति। 'गायत्री' अष्टाक्षरत्वात्। तां गायत्रीं यजुषा व्याचष्टे॥ या यजुषा प्रोक्ता तया सर्वमिदं व्याप्तं शिरोऽङ्गमुपास्यञ्च। अक्षराणि गणयति। घृणिरिति द्वे अक्षरे, सूर्य्य इति त्रीणि पृथग्रेफगण-नात्, आदित्य इति त्रीणि, एतद्वै सावित्रस्याष्टाक्षरं पदं श्रियाभि-षिक्तमिति। 'श्रियादिभिः' तदादिन्यायेन सप्तभिः शक्तिभिर्विग्रह-वतीभिर्मणिगण-खचितैर्हेमकुम्भैरमृतपूर्णैः शिरोऽभिषिक्तमित्यर्थः। य उपासक एवमुपास्ते तस्य फलं निर्द्दिशति। श्रिया हैवाभिषि-च्यते। प्रागुक्ताभिः शक्तिभिः प्रागुक्तेन प्रकारेण सोऽप्यभिषिच्यते इत्यर्थः। 'तदेतदृचाभ्युक्तम्' उक्तार्थम्। 'ऋचो निषेदुः'

(१) क, य एतद्विदु।

न्तितरां सेवनं कृतवत्यः। ऋग्ग्रहणमुपलक्षणार्थम्। यद्वा, ऋच इति षष्ठी, 'ऋचः' सहमित्यादिकायाः, तया प्रतिपादिताः मन्त्रयो वेदा वा, न केवलं मन्त्रयः अपितु 'विश्वे देवाः' सर्वे देवाः 'अधि' इत्युपरि शिरसि, 'अक्षरे' न क्षरति न विलीनं भवति 'परमे व्योमन्' व्योमनि सर्वाभिषेकाधारत्वात् परमं, मोक्षद्वारत्वाच्च व्योम, 'यस्मिन्' शिरसि। 'यः' उपासकः 'तत्' शिरः वेद-देव-देवीभिः प्रागुक्तेन प्रकारेणाभिषिक्तं 'न वेद' न जानाति 'किमृचा' ऋग्वेदादिना करिष्यति। यद्वा, सहं पाहीत्यनयर्चा किं करिष्यति। 'ये इत्' इत्थमेव 'तत्' अभिषिक्तं शिरः 'विदुः' उपासते 'ते इमे' उपासकाः 'समासते' सम्यक् प्रकारेणासते सुखिन इत्यर्थः। ऋग्गतं ऋक्पदं व्याचष्टे। न ह वा एतस्यर्चा न यजुषा न साम्ना 'अर्थः' प्रयोजनमस्ति यः 'सावित्रीं' सशिख-शिरोऽभिषेक-साधनभूतां वेदेति। ततश्चायमर्थः। अष्टाक्षरां सावित्रीं पठित्वा प्रागुक्ताः सर्वे वेदा देवादयोऽभिषिञ्चन्तीति। 'सावित्र्याष्टाक्षरं पदं' अष्टावक्षराण्यभिषेचनाय यस्मिन् शिरसि तदष्टाक्षरं शिरः तदेव पदमाश्रय इति तत्त्वार्थः।

ओं भूर्लक्ष्मीर्भुवर्लक्ष्मीः स्वः कालकर्णी (१) तन्नो महालक्ष्मीः प्रचोदयात्। इत्येषा ह वै महालक्ष्मी-र्यजुर्गायत्री चतुर्विंशदक्षरा भवति। गायत्री वा इदं सर्वं यदिदं किञ्च; तस्मात् य एतां महालक्ष्मीं याजुषीं वेद महतीं श्रियमश्नुते।

१ क, ख, ग, सुवःकालकर्णी।

एवं तावन्नृसिंहब्रह्मविद्या-शिरोऽङ्गोपकारिणीं साविन्त्राभिषेचनीं विद्यामभिधाय अथेदानीं तदुपकारिणीं शिखाङ्गद्वारां सामाङ्ग-महालक्ष्मी-विद्यामाह, ओं भूर्लक्ष्मीरिति। प्रणवविद्या-पुरःसरा एताः शक्तयो भूरित्याद्या व्याहृतयः। 'भूः' भूसत्तायामिति सत्तायामत्र वर्त्तते। अत एवोक्तमस्माभिः सप्त व्याहृतीर्व्याचक्षाणैः प्रपञ्चसारे। "भूः पदाद्या व्याहृतयो भूः शब्दः सति वर्त्तते। तत् पदं सदिति प्रोक्तं सन्मात्रत्वाच्च भूरतः। भूतत्वात् कारणत्वाच्च भुवः शब्दस्य सङ्गतिः। सर्वस्य स्वीकरणात् स्वात्मतया स्वरितीरितम्। महत्त्वाच्च महस्त्वाच्च महः शब्दः समीरितः" इति। ततश्च यथासङ्ख्यं भूर्लक्ष्मीरिति सन्मात्र-ब्रह्मणो व्यापिका शक्तिर्भूर्लक्ष्मीरित्युच्यते। कारणमात्ररूपस्य ब्रह्मणः शक्तिर्भुवर्लक्ष्मीरिति। सर्वत्र स्वात्मतयावस्थितस्य ब्रह्मणः शक्तिः स्वः कालकर्णी(१) इत्युच्यते। महतः प्रकाशात्मकस्य ब्रह्मणः शक्तिर्महालक्ष्मीरिति। सैकैका शक्तिस्तदङ्ग-शिखाख्यं तेजोमयं सुषुम्नामृतमयं सोमरूपेणोपास्यत्वात् तस्य पादस्य। य ओषधीनां प्रभवति तारापतिः सोमस्तत् साम्नस्तृतीयं पादं जानीयादिति श्रुतेः। सोमश्चन्द्रः सुषुम्नः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा इति श्रुतेः। 'नः' अस्मान् प्रति 'प्रचोदयादिति', चुद प्रेरणे, प्रेरयेत्। तदङ्गमेकैका विग्रहवती शक्तिरमृतस्रावणाय प्रेरयतु। अभिषिक्तानां शक्तीनां शिखाधिष्ठात्रीः शक्तीः प्रति अनयर्चा गायत्र्या यजुर्महालक्ष्म्या प्रार्थनारूपं वचनम्। ततश्च तदङ्गममृतस्राव्यमृतरूपमुपास्यमिति। अथवा, सैकैका शक्तिस्तदङ्गं नो प्रचोदयादिति न प्रेरयतु, अस-

(१) ख, सुवः कालकर्णी।

विवादमेवाङ्गं कुर्य्यात्। इत्येषा वै 'महालक्ष्मीर्यजुर्गायत्री' महतीनां लक्ष्म्यादीनां प्रतिपादकत्वात् महालक्ष्मीः। सावित्रमन्त्रे अत्र च यजुरिति वदन् सामाङ्गत्वेऽपि गीतिरहितमङ्गद्वयमिति दर्शयति। प्रणवान्तर्भावायाक्षराणि गणयति, चतुर्विंशदक्षरा भवतीति। चतुर्विंशदिति च्छान्दसम्। गायत्री वा 'इदं' तृतीयमङ्गं 'सर्व्वं' कृत्स्नं 'यदिदं किञ्च' यस्मादेवं तस्माद्यः 'एतां' शिवां पारमेश्वरीं 'महालक्ष्मीं याजुषीं' प्रागुक्तां सविग्रहशक्त्युपास्यां 'वेद' उपास्ते। तस्य फलं निर्द्दिशति, 'महतीं श्रियमश्नुते' इति महतीं श्रियं प्राप्नोतीत्यर्थः। ततश्चैतद्गायत्र्युक्ताः शक्तयो विग्रहवत्योऽभिषेचन-शक्तीनामुपकाराय अमृतमयीं शिखाममृत-स्रावणाय तद्बन्धनाय चोपासते इति तत्त्वार्थः।

ओं नृसिंहाय विद्महे वज्रनखाय धीमहि तन्नः सिंहः प्रचोदयात्। इत्येषा ह वै नृसिंहगायत्री देवानां वेदानां निदानं भवति, य एवं वेद स निदानवान् भवति॥

द्वितीयः खण्डः॥ २॥

एवं तावन्नृसिंह-ब्रह्मविद्योपकारिणीं सामाङ्ग-तृतीयाङ्ग-विद्यामभिधाय अथेदानीं सामाङ्ग-चतुर्थाङ्गविद्यां नृसिंहगायत्रीमाह। ओं प्रणवो व्याख्यातः। 'तत्' अङ्गं कवचाख्यं पारमेश्वरं 'धीमहीति' ध्यायेमहि। किमर्थम्। 'वज्रनखाय' नृसिंहाय, तादर्थ्ये चतुर्थी, तदर्थं 'विद्महे' जानीमः यतः, तदेवाङ्गं 'नः' अस्मान् प्रति सिंहः प्रचोदयात् इत्युक्तार्थम्। नरश्चर्व्वं

विहाय सिंह इति वदन्नस्यां विद्यायां सिंहाकारस्य प्राधान्यं दर्शयति। इति शब्दो मन्त्रसमाप्तिं द्योतयति। एषा वै नृसिंहगायत्री नृसिंहार्थ-कवच-प्रतिपादकत्वात्। गायत्रीति प्रणवान्तर्भावं दर्शयति। कवचाश्रित-तदावृत-हृदयान्तर्गतानां वेदानां देवानां यथायोग्यतया 'निदानं' मूलकारणं भवति। उपासकस्य फलं निर्द्दिशति, य एवं वेद स निदानवान् भवतीति मूलकारणं भवतीति। तत्रायमर्थः। पारमेश्वरं कवचाख्यमङ्गं हृत्सम्बन्धि-सर्ववेद-देव-निदानत्वेनोपास्यम्। तत्प्रतिपादकत्वात् हृत्सम्बन्धि-सर्ववेद-देव-निदानं गायत्र्युच्यते इति तत्त्वार्थः॥ २॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्, अथ कैर्मन्त्रैर्देवः स्तुतः प्रीतो भवति, स्वात्मानं दर्शयति, तन्नो ब्रूहि भगव इति, स होवाच प्रजापतिः।

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् यश्च ब्रह्मा तस्मै वै नमोनमः।

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् यश्च विष्णुस्तस्मै वै नमोनमः।

ओं यो वै नृसिंहो देवोभगवान् यश्च महेश्वरस्तस्मै वै नमोनमः।

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् यश्च पुरुषस्तस्मै वै नमोनमः।

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् यश्चेश्वरस्तस्मै वै नमोनमः।

ओं यो वै नृसिंहोदेवो भगवान् या सरस्वती तस्मै वै नमोनमः।

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् या श्रीस्तस्मै वै नमोनमः ।

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् या गौरी तस्मै वै नमोनमः ।

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् या प्रकृतिस्तस्मै वै नमोनमः ।

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् या विद्या तस्मै वै नमोनमः ।

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् यश्चोङ्कारस्तस्मै वै नमोनमः ।*

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् ये वेदाः साङ्गाः सशाखास्तस्मै वै नमोनमः ।

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् ये पञ्चाग्नयस्तस्मै वै नमोनमः ।

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् याः सप्त व्याहृतयस्तस्मै वै नमोनमः ।

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् ये चाष्टौ लोकपालास्तस्मै वै नमोनमः ।

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् ये चाष्टौ वसवस्तस्मै वै नमोनमः ।

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् ये च रुद्रास्तस्मै वै नमोनमः ।

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् ये चादित्यास्तस्मै वै नमोनमः ।

---

* एतत्परं ख, ग, चिह्नितपुस्तकद्वये ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् याश्चतस्रोऽर्द्धमात्रास्तस्मै वै नमोनमः इत्यतिरिक्तःपाठः ।

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् ये चाष्टौ ग्रहास्तस्मै वै नमोनमः।*

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् यानि पञ्च महाभूतानि तस्मै वै नमोनमः।

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् यच्च त्रैलोक्य तस्मै वै नमोनमः।

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् यश्च कालस्तस्मै वै नमोनमः।

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् यश्च मनुस्तस्मै वै नमोनमः।

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् यश्च मृत्युस्तस्मै वै नमोनमः।

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् यश्च यमस्तस्मै वै नमोनमः।

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् यश्चान्तकस्तस्मै वै नमोनमः।

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् यश्च प्राणस्तस्मै वै नमोनमः।

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् यश्च सूर्यस्तस्मै वै नमोनमः।

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् यश्च सोमस्तस्मै वै नमोनमः।

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् यश्च जीवस्तस्मै वै नमोनमः।

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् यश्च विराट् तस्मै वै नमोनमः।

ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् यच्च सर्व्वं तस्मै वै नमोनमः।

इति तान् प्रजापतिरब्रवीदेतैर्द्वात्रिंशन्मन्त्रैर्नित्यं देवं

---

* एतत्परं ग, चिह्नितपुस्तके ओं यो वै नृसिंहो देवो भगवान् ये चाष्टौ प्रतिग्रहास्तस्मै वै नमोनमः इत्यधिकःपाठः।

स्तुवध्वं, ततो देवः प्रीतो भवति, स्वात्मानं दर्शयति; तस्माद्य एतैर्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तौति स देवं पश्यति, सोऽमृतत्वञ्च गच्छति सोऽमृतत्वञ्च गच्छति, य एवं वेदेति महोपनिषत् ॥

तृतीयः खण्डः ॥ ३ ॥

इत्यथर्व्ववेदे नृसिंहपूर्व्वतापनीये महोपनिषच्चतुर्थी समाप्ता ॥

एवं तावन्नृसिंह-ब्रह्मविद्योपकारिणीं सामाङ्ग-चतुर्थाङ्ग-विद्यां नृसिंहगायत्र्युक्तामभिधाय अथेदानीं पञ्चमाङ्गविद्यां तदुपकारिणीमङ्गचतुष्टय-व्यापिनीं महाचक्राख्यामभिधातुं तस्मिंश्चक्रे द्वात्रिंशत्पत्रे यथासङ्ख्य कृतप्रणव-सम्पुट-न्यस्त-मूलमन्त्राक्षरे एकैकस्मिन् तत्तद्देवता-नृसिंह-व्यूहं स्तुतिमन्त्रवर्ण-सामर्थ्य-लभ्यञ्च प्रदर्शयितुं तान् मन्त्रान् प्रश्नोत्तररूपाख्यायिकयारभते। देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नित्यादि स होवाच प्रजापतिरित्यन्तं स्पष्टार्थम्। अत्र हि सर्व्वे मन्त्राः प्रणवादिकास्तदादिन्यायेन प्रणवं मूलमन्त्राक्षरं पुनः प्रणवं सर्व्वेषु मन्त्रेषु दर्शयन्ति। अत्र हि मन्त्रेषु यच्छब्दद्वयेनान्यतः सिद्धमनूद्य कुत्रचिच्च शब्दसामर्थ्यात् कुत्रचित्तस्मा इत्येकवचन-सामर्थ्यादेक एव व्यूहः प्रतीयते। स च द्विविधः। क्वचिदसाधारणायुधैस्तत्तद्देवतागम्यः प्रतीयते, क्वचिच्च विश्वरूपस्तेनैव न्यायेन। उभयत्रापि नृसिंहाकारो योगारूढोऽधस्तन-हस्ताभ्यां वरदाभयहस्त उपरितनाभ्यां तत्तद्देवतायुधधारी क्वचिच्छङ्ख-चक्र-गदाधारी चैतत् सर्व्वं स्पष्टं करिष्यामः। यथा अत्रैव नृसिंहाकारा व्यूहा ब्रह्म-विष्णु-महे-

श्वरात्मकाः स्रुक्-स्रुव-शङ्ख-चक्र-पिनाक-त्रिशूलैरायुधैर्गम्यन्ते। नृसिंहात्मकः पुरुषव्यूहो द्विभुजः। दशहस्त्या अङ्गुलयो दश-पाद्या यावानेष पुरुष इति श्रुतेः। अत ऊर्द्ध्वं नृसिंह-व्यूहाश्चतु-र्भुजा नृसिंहात्मकाश्च, ईश्वर-व्यूह ईश्वरायुधगम्यः, पूर्व्वेषां पञ्चानां यथासङ्ख्यं पञ्च शक्तिव्यूहाः। सरस्वती-श्री-गौरी-प्रकृति-विद्यात्मिकाः स्त्रियः स्वायुधैर्गम्याः। एवं मूलमन्त्राक्षरेषु दशसु ऐशानीं दिशमारभ्य प्रणव-सम्पुटितेषु सर्वाभरणयुक्ताः श्वेतरूपा उपास्याः। एवं वक्ष्यमाणाः सर्व्वे व्यूहा यथासङ्ख्यं मूलमन्त्रा-क्षरेषूपास्याः। प्रणवव्यूहः एकेन प्रणवाक्षरेण वक्षसि चिह्नितः प्रणवचतुष्टय-मात्रोपास्य-देवविग्रहः सशाखवेद-विग्रहः पञ्चाग्नि-विग्रहः सप्तव्याहृति-विग्रहः अष्टलोकपालविग्रहः, वसु-रुद्रादि-त्याष्टग्रह-पञ्चमहाभूत-विग्रहा एकैकस्मिन् नृसिंहव्यूहे यथा-सङ्ख्यमन्तर्भूता उपास्याः, इति दशव्यूहा विश्वरूपा उपास्याः। काल-मनु-मृत्यु-यमान्तक-प्राण-सूर्य्य-सोम-विराट्-पुरुष-जीव-रूप-चेतनाचेतन-सर्व्वात्मका इत्येते व्यूहाः अविश्वरूपास्तत्तद-साधारण-रूपा गम्याः। एवमेकैक उपास्यः तेन तेन च मन्त्रेणो-पास्य स्तुत्यः। ततो देवः 'स्वात्मानं' स्वकीयं रूपं विश्वरूपमविश्व-रूपञ्च यथायोग्यं दर्शयति। यस्मादेवं तस्मात् 'यः' उपासकः 'एतैः' मन्त्रैः 'नित्यं' नियमेन स्तौति स 'देवं' विश्वरूपमविश्वरूपञ्च 'पश्यति' साक्षात् करोति। सोऽमृतत्वमित्यादि महोपनिषदि-त्यन्तं स्पष्टार्थम्। तत्रामृतत्वञ्च गच्छतीति फलस्य द्विरभ्यास-स्तुतिमात्रादेव परमफलावाप्तिं मन्त्राणाञ्च सामर्थ्यं दर्शयति। महोपनिषच्छब्दः प्रणवबाहुल्यमिति सर्वं निर्म्मलम् ॥ ३ ॥

इति श्रीगोविन्द-भगवत्-पूज्यपादशिष्यस्य परमहंस-परिव्राजकाचार्य्यस्य श्रीशङ्कर-भगवतः कृतावाथर्वण-तापनीयोपनिषद्भाष्ये चतुर्थोपनिषत् समाप्ता ॥४॥

---

ओं देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्, महाचक्रं नाम चक्रं नो ब्रूहि भगव इति सार्वकामिकं मोक्षद्वारं यद्योगिन उपदिशन्ति। स होवाच प्रजापतिः, षड़रं(१) वा एतत् सुदर्शनं महाचक्रं ; तस्मात् षड़रं भवति, षट्पत्रं भवति, षड़्वा ऋतव ऋतुभिः सम्मितं भवति, मध्ये नाभिर्भवति, नाभ्यां वा एते अराः प्रतिष्ठिता भवन्ति, मायया वा एतत् सर्वं वेष्टितं भवति, नात्मानं माया स्पृशति; तस्मान्मायया वहिर्वेष्टितं भवति।

एवं तावच्चतुर्थोपनिषदन्ते स्तुत्युपनिषदा महाचक्रस्य-द्वात्रिंशत्पत्रेषु यथासङ्ख्यं द्वात्रिंशन्नृसिंहान् स्तुत्योपास्यानभिधाय अथेदानीमहाचक्र-विद्यामभिधातुं महाचक्रस्य रूपं निरूपयितुं प्रश्नोत्तररूपाख्यायिकया पञ्चोपनिषदारभ्यते । देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्निति । नन्वेवं तर्हि स्तुत्युपनिषद्विद्यातो महाचक्रविद्यया प्राक् भवितव्यम्। अत्रोच्यते। सत्यम्, यदीयं प्राक्तत्यात् पुरश्चरणार्थं पञ्चमाङ्गन्यासार्थञ्च कृत्स्नैव प्रतीयेत ननु द्वात्रिंशद्दूहोपासन-मात्रं पुरश्चरणार्थम् इतरत् सुदर्शनादि महाचक्रं सद्वात्रिंशद्दूहकं पञ्चमाङ्गमित्येवं विभागः प्रतीयेत । अतस्तद्विभागज्ञापनार्थं न

प्रागभिहितेति। नन्वेवमपि तदादिन्यायेन महाचक्र-विद्यापुरश्चरणार्थं कृत्स्नैव कस्मान्न गृह्येत। तन्न। तदादिन्यायवैषम्यात्। नहि महाचक्रस्यायमादिर्हार्चिर्महाहो नाम, अपि तु नाभिवर्त्ति-चीरोदार्णव-सम्बन्धी नृसिंहव्यूहः। तस्मात् सूक्तं न स्तुत्युपनिषद्विद्यातः प्रागभिधानमस्या इति। 'देवाः' प्राक् स्तुतिश्रवणेनात्यन्तहर्षिताः प्रजापतिमब्रुवन् 'महाचक्रं नाम' तन्नामधेययुक्तं चक्रम्। यद्वा, एतन्नामधेययुक्तमेव चक्रं वर्त्तुलमुत्तराधरभावेन स्थितं यच्चतुष्टयाङ्ग-व्यापकमस्याख्यम् अङ्ग 'नः' अस्मभ्यम् ब्रूहि 'भगव' भगवन्निति सम्बोधनम्। 'सार्वकामिकं' सर्वकामसाधनत्वात् सार्वकामिकम्। अथवा, सर्वेषां देवानां ब्रह्मादीनां व्यूहाः स्वात्मतयैव स्वभवनतयैव कामिता यस्मिंश्चक्रे नाभिवर्त्त्याद्यव्यूहेन तत् सार्वकामिकम्, अत एव 'मोक्षद्वारं' प्रणवबहुलत्वात् मूलमन्त्राक्षरसङ्ख्यातः प्रणवसम्पुटीकरणात् प्रणवाक्षरसङ्ख्या द्विगुणा चतुःषष्टिः। अस्याञ्च विद्यायां मोक्षः प्रणवद्वारक एव, देहान्ते देवः परं ब्रह्मतारकं व्याचष्टे इतिश्रुतेः। ततश्चायमर्थः। मोक्षस्य प्रणवाख्यं द्वारं यस्मिन् तत् तथोक्तं 'यत्' चक्रं योगिन उपदिशन्ति उपासकेभ्यः। स होवाच प्रजापतिरित्युक्तार्थम्। षड़रं (१) वा एतत् सुदर्शनं महाचक्रं महाचक्रस्यैव नामान्तरम्, सुदर्शनमन्त्रयोगात् सुदर्शनम्। यद्वा, सुष्टु दर्शनं विद्यते यस्मिन् तत् तथोक्तम्। षड़रं वा एतत् पत्राधोभागो नालरूपोऽर-शब्दवाच्यः, षट् अरा विद्यन्ते यस्मिन् तत्षड़रं, यस्मादेवं तस्मात् षड़रं भवति षट्पत्रं भवति,

(१) क, ख, षड़क्षरं।

अरादुपरिभागःकोणत्रययुक्तः पत्राकृतिः पत्रं, षट् पत्राणि विद्यन्ते यस्मिन् तत् तथोक्तम्, एतदेव स्तौति, षड्वा ऋतवः ऋतुभिः सम्मितं भवति। एतस्मादर्थवादादराः पत्राणि ऋतुव्युद्ध्योपास्यानि भवन्ति। अराणां प्रतिष्ठार्थं स्थानमाह, 'मध्ये' चक्रस्य मध्ये 'नाभिः' वर्त्तुलाकारा भवति। नाभ्यां वा एते अराः प्रतिष्ठिताः प्रागुक्ता अरास्तदादिन्यायेन पत्राणि च। 'मायया' प्रागुक्तेन मूलमन्त्रप्रकृत्यक्षरेण षड़रं षट्पत्रं सर्वं वेष्टितं भवति। यस्मात् 'नात्मानं' चक्रस्य स्वरूपमरपत्रात्मकं माया स्पृशति तस्मान्मायया वहिर्वेष्टितं भवति। यद्वा, प्रत्यक्चैतन्यमेव केवलं शुद्धं चक्रबुद्ध्योपास्यं यस्मादात्मनि (१) प्रत्यक् चैतन्यं न माया स्पृशति मायाविनमिव तस्मान्मायया वहिर्वेष्टितं भवति।

अथाष्टारमष्टपत्रं चक्रं भवति, अष्टाक्षरा वै गायत्री, गायत्र्या सम्मितं भवति; तस्मान्मायया वहिर्वेष्टितं भवति, क्षेत्रं क्षेत्रं वा मायैषा सम्पद्यते। अथ द्वादशारं द्वादशपत्रं चक्रं भवति, द्वादशाक्षरा वै जगती, जगत्या सम्मितं भवति, वहिर्मायया वेष्टितं भवति। अथ षोड़शारं षोड़शपत्रं चक्रं भवति, षोड़शकलो वै पुरुषः, पुरुष एवेदं सर्वं पुरुषेण सम्मितं भवति, वहिर्मायया वेष्टितं भवति। अथ द्वात्रिंशदरं द्वात्रिंशत् पत्रं चक्रं भवति, द्वात्रिंशदक्षरा वा अनुष्टुप्,

(१) क, यस्मादात्मानं।

अनुष्टुभा सम्मितं भवति, बहिर्मायया वेष्टितं भवति। अरैर्वा एतत् सुदर्शनं भवति, वेदा वा एते अराः, पत्रैर्वा एतत् सर्वतः परिक्रामति, छन्दांसि वै पत्राणि ॥ १ ॥

अष्टारम् अष्टपत्रं चक्रं, द्वादशारं द्वादशपत्रं चक्रं, षोड़शारं षोड़शपत्रं चक्रं, द्वात्रिंशदरं द्वात्रिंशत्पत्रं चक्रमिति चक्रचतुष्टयं षड़र-षट्पत्र-चक्रेण व्याख्यातम्। तत्रायं विशेषः। आद्यचक्रे अराः पत्राणि च ऋतु-बुद्ध्योपास्यानि। द्वितीय-तृतीय-पञ्चमेष्वरा वेदबुद्ध्योपास्याः, पत्राणि गायत्री-जगत्यनुष्टुप्-छन्दोबुद्ध्या यथासङ्ख्यमुपास्यानि, वेदा वा एते अरास्छन्दांसि वै पत्राणीत्यर्थवादात्। चतुर्थे चक्रे षोड़शाराः षोड़शपत्राणि च षोड़शकलाबुद्ध्योपास्यानि। चैत्रं चैत्रं वा मायैषां सम्पद्यते। पुरुष एवेदं पुरुषेण सम्मितं भवतीति प्रत्यक्चैतन्यं शुद्धं मायया असंस्पृष्टं वहिःशब्दात् तादृशं चक्रं स्वस्मिन् प्रकल्प्य तदुपास्यमित्यर्थः। तथाच अर-पत्र-शब्दाद्बहिःशब्दाच्च सविन्दुकेण शक्त्यक्षरेण यद्वेष्टनं तद्यथासङ्ख्यं पूर्व-पूर्व-चक्रार-पत्रासंस्पृष्टमुत्तरोत्तर-चक्राणामाश्रयत्वेन नाभिरूपमिति। एवं सुदर्शन-चक्रार-पत्रासंस्पृष्टं यद्वेष्टनं मायया तदुपरितनाष्टाक्षर-नारायण-चक्राराश्रयत्वेन नाभिरूपम्। एवमष्टाक्षरवेष्टनं द्वादशाक्षरस्य नाभिरूपम्, द्वादशाक्षरवेष्टनं सविन्दुकं मातृकाद्य-षोड़शाक्षरस्य नाभिरूपम्, सविन्दुकाद्यमातृकाषोड़शाक्षरवेष्टनं द्वात्रिंशदक्षरस्य नाभिः, ततो द्वात्रिंशदक्षरवेष्टनमसंस्पृष्टं नाभिरूपमित्येवं सुदर्शन-नारायण-वासुदेव-षोड़शार-द्वात्रिंशदर-

चक्राणां यथासङ्ख्यं पञ्च नाभयः, नाभीनामेवापेक्षया वेष्टनरूपता इत्याद्या नाभिर्मायाक्षररचिता। उपरितना नाभयोऽन्यच्च वेष्टनं मायाक्षरेणेति तत्त्वार्थः। नन्वेवं तर्हि अथशब्दस्य तत्र तत्र प्रयोगात् पूर्वपूर्वचक्रासंस्पर्शात् पञ्चनाभिकानि पञ्च चक्राणि पृथक् पृथक् प्रयोज्यानि कस्मान्न परिगृह्यन्ते, तथाचैक-चक्रत्वेऽपि अराविनाभूतनाभिकल्पनायां वेष्टन-व्यतिरिक्त-पञ्चनाभिकल्पनाः कस्मान्न भवन्ति। अत्रोच्यते। महाचक्रं नाम चक्रं नो ब्रूहीत्युपक्रम्य तद्वा एतन्महाचक्रमित्युपसंहारात् महाचक्रैकतावगमाच्चक्रचतुष्टयं तदन्तर्गतमेवेत्यवगम्यते,। तत्र तत्र अथशब्दप्रयोगस्तु तत्तच्चक्रोद्धारे माङ्गलिक-प्रदर्शनार्थः। तथा तथा वेष्टनानां नाभित्वकल्पनायां प्रतिषेधाभावादयोग्यत्वाच्च कल्पनालाघवाच्च न पृथक् नाभिकल्पनेति। अत्र च क्वचिद्वहिः-शब्दपूर्वको मायाशब्दः पठ्यते, क्वचिद्विपरीतः। तत्रायमभिप्रायः। यत्र मायाशब्दाद्वहिःशब्दः पूर्वः तत्र मायाविशेषणं, वहिर्भूतया मायया वहिर्मायया। यत्र च मायाशब्दात् परो वेष्टन-शब्दात् पूर्वो वहिःशब्दः तत्राविशिष्टया मायया तत्र वहिःशब्दो न मायाविशेषणं किन्तु वेष्टन-विशेषणम्। माया हि द्विविधा, नारसिंह-मूलमन्त्रगता सविन्द्वेकाररूपा निरुपपदान्मायाशब्दात् प्रतीयते। अन्या तु रेफ-हकाराभ्यां मिलित-सविन्दुके-काररूपा सोपपदान्मायाशब्दात् प्रतीयते। ततश्च मूलमन्त्राद्वहि-र्भूतमायया ह्रींमित्येवं रूपया वेष्टितं भवतीति तत्त्वार्थः। ततः सुदर्शनचक्रे मूलमन्त्रगत मायया वेष्टनं षोड़शचक्रेऽप्येवमेव वहिःशब्दस्य वेष्टनात् पूर्वमुपादानात्। वेष्टनविशेषण-वहिः-

शब्दो मध्यवेष्टनव्याप्तस्त्यर्थः। नारायण-वासुदेव-नारसिंह-चक्रेषु व्याख्यात-वह्निर्मायया वेष्टनमिति वेष्टन-चक्रोद्धार-विवेकः ।१॥

तदेव चक्रं सुदर्शनं महाचक्रं, तस्य मध्ये नाभ्यां तारकं भवति। यदक्षरं नारसिंहमेकाक्षरं तद्भवति, षट्सु पत्रेषु षड़क्षरं सुदर्शनं भवति, अष्टसु पत्रेष्वष्टाक्षरं नारायणं भवति, द्वादशसु पत्रेषु द्वादशाक्षरं वासुदेवं भवति, षोड़शसु पत्रेषु मातृकाद्याः सविन्दुकाः षोड़श कला भवन्ति, द्वात्रिंशत्सु पत्रेषु द्वात्रिंशदक्षरं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं भवति, तद्वा एतन्महाचक्रं सार्वकामिकं मोक्षद्वारमृग्मयं यजुर्मयं साममयं ब्रह्ममयममृतमयं भवति, तस्य पुरस्ताद्वसव आसते, रुद्रा दक्षिणतः, आदित्याः पश्चात् विश्वे देवा उत्तरतः, ब्रह्म-विष्णु-महेश्वरा नाभ्याम्।

एवं महाचक्रस्य संवेष्टनमुद्धारञ्चाभिधाय अथेदानीमुद्धृतचक्रे यथाविहितान् मन्त्रान् न्यसितुं तन्नाभ्यामक्षरन्यासमाह। तदेव चक्रं सुदर्शनं महाचक्रमिति। तच्छब्देन द्वात्रिंशदर-द्वात्रिंशत्-पत्रं चक्रम्। एवशब्देन तदेवावधृत्य 'तदेव चक्रं' तदादिन्यायेन

सुदर्शनादिशब्दैरूर्द्धं चक्रचतुष्टयमपि महाचक्रात्मकमिति दर्श-यति। महाचक्रमिति। सामानाधिकरण्याच्च। 'तस्य मध्ये' महाचक्रस्य मध्ये मध्यवर्त्तिनाभ्यां वेष्टनरूपा हि नाभयो मध्याः,ता व्यावर्त्तयितुं मध्ये नाभ्यामित्युक्तम्। 'तारकं भवति' संसारतारक-त्वात् तारकं प्रणवाक्षरं भवति। यदक्षरं नारसिंहमेकाक्षरं तद्भवतीति। अक्षरं जगद्धितं वा एतद्रूपमक्षरमिति नृसिंह-पदव्याख्यानावसरे व्याख्यातं तदक्षर-शब्दात् प्रत्यभिज्ञायते। तथा नारसिंहमिति तद्धितात् सामप्रभृत्युपास्यं सर्व्वं प्रतीयते। ततः सर्व्वस्मिन्नुपास्ये प्रतीते एकमेवोपास्यं मूलनृसिंह-व्यूहाख्यं वक्तुं विशिनष्टि, एकाक्षरं तद्भवतीति यदक्षरं नारसिंहमुपास्यमित्यनूद्य तदेकं भवतीत्यक्षरञ्चेति महा-चक्रमध्ये नाभिवर्त्तित्वेन क्षीरोदार्णव-सम्बन्धितयोपासनं विधीयते इत्यर्थः। अत्र केचित् नारसिंहमेकाक्षरमिति विशेषणोपादानादेकाक्षर-नृसिंहमन्त्र-मिश्रितः प्रणवो नाभ्यां न्यसनीय इत्याचक्षते, तदपि साम्प्रदायिकत्वात् न विरुद्धम्। तस्मिन्नपि पक्षे नारसिंहमिति तद्धितादेकाक्षरो नृसिंह-मन्त्रः प्रणव-मिश्रितो द्वात्रिंशन्नृसिंह-व्यूहं विहाय यावत्-प्राकरणिक-मूलनृसिंहगतमुपास्यं प्रतीयत एव। ततस्तैत-द्विद्याङ्ग-मेकाक्षरो नृसिंहमन्त्रः। यथोक्तोपास्याभिधाय-कत्वात् तस्य। केवलः प्रणवो वेति विकल्प एवाक्षर नृसिंह-मन्त्रस्य प्रणवस्तु नियत एवेति तत्त्वार्थः। अत ऊर्द्धं तत्त-न्मन्त्रन्यासे तत्तच्चक्रेषु पत्रग्रहणम् अर-तदन्तराल-पत्रान्तराल-व्याप्त्यर्थं द्रष्टव्यम्। षट्पत्रेषु सुदर्शनं भवति। ऐशानं

पत्नमारभ्य षडक्षरः सुदर्शनमन्त्रो न्यसनीय इत्यर्थः। एव—मुत्तरेषु पत्रेषु योज्यम्। अष्टसु पत्रेष्वष्टाक्षरं नारायणं भवतीति। प्रणवान्तर्भावेनाष्टाक्षरतेति केचित्, तं विहायेति केचित्। तद्द्वादशसु पत्रेषु द्वादशाक्षरं वासुदेवं भवतीति। अत्रापि द्वादशाक्षरता पूर्ववत्। षोड़शसु पत्रेषु मातृकामन्त्रस्याद्या वर्णमातृकाद्याः 'सबिन्दुकाः' बिन्दुसहिताः षोड़श भवन्ति। द्वात्रिंशत्सु पत्रेषु द्वात्रिंशदक्षरं सामाभिव्यक्त-मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं भवति। मूलमन्त्रस्यैवैकैकमक्षरमेकैकस्मिन् पत्रे प्रणव-सम्पुटितं कार्य्यम्, प्रत्यक्षरमुभयत ओङ्कारो भवतीति श्रुतेः। 'तत्' अस्त्राख्यमङ्गं महाचक्रम् 'उपासितं' ध्यानविषयीकृतम् अनिष्टे वस्तुनि त्रासकारित्वात्, तदस्त्रं पञ्चममङ्गम्। अत एवास्त्राङ्गमन्त्रं व्याचक्षाणैरस्माभिरुक्तं प्रपञ्चसारे। "असुक्षसादिको धातू स्तः क्षेपचलनार्थकौ। ताभ्यामनिष्टमाक्षिप्य क्षिप्यते फट्-पदाग्निना" इति। सार्वकामिकं मोक्षद्वारम् इत्युक्तार्थम्। ऋङ्मयं यजुर्म्मयं साममयं ब्रह्ममयममृतमयं भवतीति पञ्च मयट्-प्रत्ययाः प्राचुर्य्यार्था ग्राह्याः। ऋग्यजुः-सामाथर्व-प्रचुरं ब्रह्ममयमिति ब्रह्मशब्देनाथर्ववेदः, सोऽयं ब्रह्मवेदः सोऽयं ब्रह्मवेद इत्यसकृद्ब्राह्मणाभिधानात् वेदप्रचुरता अराणां वेदमुख्योपास्यत्वात्। विकारार्थो वा मयट्, वेदविकारात्मका अरा इत्यर्थः। 'अमृतमयं' क्षीरप्रचुर-नाभिकं क्षीर-विकार-नाभिकं वेति। तस्येति तच्छब्दात् नाभिस्थो मूलनृसिंह-व्यूहः परामृश्यते। तत्परिचारकान् देवानाह, पुरस्तात् 'वसवः' तत्परिचारका आसते, रुद्रा दक्षिणतः, आदित्याः पश्चात्, विश्वे देवा उत्तरतः, ब्रह्म-विष्णु-महेश्वरा नाभ्यामिति।

सूर्याचन्द्रमसौ पार्श्वयोः; तदेतदृचाभ्युक्तम्। ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः, यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति, य इत्तद्विदुस्त इमे समासत इति; तदेतन्महाचक्रं बालो वा युवा वा वेद स महान् भवति, स गुरुर्भवति, स सर्वेषां मन्त्राणामुपदेष्टा भवति, अनुष्टुभा होमं कुर्यादनुष्टुभार्चनम्; तदेतद्रक्षोघ्नं मृत्युतारकं गुरुतो लब्धं कण्ठे बाहौ वा शिखायां वा बध्नीयात्। स, सप्तद्वीपावती भूमिर्दक्षिणार्थं तावत् कल्पते, तस्माछ्रद्धया यां काञ्चिद्दद्यात् सा दक्षिणा भवति॥ २॥

एवं दिग्-नाभि-परिचारकानुक्त्वा अथेदानीं पार्श्वपरिचारकानाह, सूर्याचन्द्रमसौ 'पार्श्वयोः' कुक्षिप्रदेशयोरिति यावत्। 'तदेतत्' महाचक्रम् ऋचाभ्युक्तम्। 'यस्मिन्' महाचक्रे 'अक्षरे' अशूङ् व्याप्ताविलस्य रूपम् अक्षः, रो मत्वर्थे, तस्मिन् व्याप्तिमति 'परमे' उत्कृष्टे 'व्योमन्' व्योमवत् सर्व्वव्यापकत्वेन स्थिते 'अधि' इत्युपरिभावे, ऋच इति ऋग्ग्रहणमुपलक्षणार्थम्। ऋचः 'निषेदुः' स्थिताः 'यस्मिन्' चक्रे सर्व्वे देवा नृसिंहावतार-रूपेण स्थिताः। यदि वा, ऋच इति षष्ठी, अनुष्टुप्-सम्बन्धिन्यक्षरे व्याप्तिमति चक्रे सर्व्वे देवाः स्थिताः, न तु सुदर्शनमन्त्रादि-सम्बन्धिनि चक्रे इत्यर्थः। 'यः' उपासकः 'तत्' महाचक्रं 'न वेद' नोपास्ते, किम् 'ऋचा' ऋग्वेदादिना। यदि वा, ऋचा अनुष्टुप्-छन्दस्कया

ऋचेति । अनेनैतद्दर्शयति । महाचक्रोपासन-गर्भितमेवानुष्टु-बुपासनं कुर्य्यात्, न तु तद्रहितमिति । य इत्यादिदुस्त इमे समा-सते इत्युक्तार्थम् । इति शब्द ऋक्समाप्तिं द्योतयति । तदेत-न्महाचक्रं बालो वा युवा वा 'वेद' उपास्ते, 'तस्येदं फलं, स 'महान् भवति' महतीं प्रतिष्ठां जने प्राप्नोति । यदि वा, 'महान्' महा-विष्णुरिति । 'स गुरुः' सर्व्वैर्देववदाराध्यः । स सर्व्वेषां मन्त्रा-णाम् 'उपदेष्टा' उपदेशको भवति । सामाभिव्यक्तानुष्टुभा होमं कुर्य्यादिति विद्याङ्गोऽयं होमः, तस्मिन् द्रव्यानुपादानात् प्रतिदिनं हविष्यमन्नं भोज्यमाज्यं वा जुहुयादिति । तथा सङ्ख्यानुपादानात् सकृत् द्वादशवारं वा । यदि वा मूलमन्त्रगत-दशपदानां मूल-नृसिंहव्यूहे द्वात्रिंशद्व्यूहे च व्याख्यातत्वादुभयोद्देशेन होमं कुर्य्यात् । ततश्च घोरोदार्णवशायिने नृसिंहाय त्रिनेत्राय पिनाक-हस्तायोशायेदमिति हुत्वा ब्रह्मादिद्वात्रिंशदात्मकाय नृसिंहायो-शायेति जुहुयात्, इत्येवं प्रतिपदं मूलमन्त्रावृत्तिः । यद्वा, अनुष्टुभेत्येकवचनात् सकृन्मूलमन्त्रमुच्चार्य्य स्वाहाकारान्तं जुहुयात् प्रतिपदमुद्दिश्य त्यागः कार्य्यः । तथा सामाभिव्यक्तानुष्टुभार्च्चनं षोड़शोपचारादिना कुर्य्यादित्यनुषङ्गः । अत्रापि होममन्त्रवन्मन्त्रा-वृत्त्यनावृत्ती द्रष्टव्ये । 'तदेतत्' महाचक्रं रक्षोघ्नं मृत्युतारकं गुरु-प्रसादाल्लब्धं कण्ठे बाह्वौ शिखायां वा बध्नीयात् । तस्मै गुरवे, यस्मात् सप्तद्वीपवती द्विगुणावृत्तापि पृथ्वी दक्षिणार्थं तावत् कल्पते, तस्मात् 'श्रद्धया' परया भक्त्या यां काञ्चिद्भूमिं यथाशक्त्यनुरूपां दद्यात्, सा दक्षिणा भवति । एवं प्रागुक्तं श्रुतित उपासनमवगतं पञ्चाङ्गन्यासे उपसंहृतमेकस्मान्मतात् । अथ मतान्तर-पर्य्यालो-

चनान्महाचक्रे एवोपसंहृतम्, तस्मात् प्रत्यक्षरमुभयत ओङ्कारो भवतीत्यत्र मूलमन्त्राक्षराणां प्रणवे उपसंहृतत्वात् प्रणव-प्रधानमेवेदं महाचक्रम्, तस्मिन् शक्तिबाहुल्यश्रवणात्। मायया बहिर्वेष्टनं भवति, बहिर्मायया वेष्टितं भवतीत्यसकृच्छ्रवणात्। उद्धृतपद-व्याख्यानावसरे प्रतिपदं यस्मात् स्वमहिम्ना सर्व्वान् लोकान् सर्व्वान् देवान् सर्व्वानात्मनः सर्व्वाणि भूतानीत्यसकृन्महिमशब्द-वाच्याया मायायाः सर्व्वलोक-सर्व्वदेवात्म-भूतानां साधनत्वेन श्रवणात् तद्वेष्टितमाधारत्वेन यथासङ्ख्यं पृथिव्यादिलोक-ऋग्वेदादि-वेदाग्न्यादि-देव-भूतानामात्मनाञ्च साधनत्वश्रवणात् महाचक्रान्त-र्यंत-वेष्टित-मायाधारमेवेदमुपासनम्। ननु मूलनृसिंहगतं पञ्चाङ्ग-न्यासार्थञ्चान्तरङ्गत्वान्महाचक्रे एवेदमुपासनम्, तदपि सम्प्रदा-यागतमुपादेयमित्युपासनाविकल्पः। तत्रापि बहुतर-सम्प्रदा-यानुकूल्यागतत्वादस्यमेवोपासनमुपादेयमिति केचित्। तस्मिन् मते प्रणव-सावित्र-यजुर्लक्ष्मी-नृसिंहगायत्रीतिमन्त्रचतुष्टयमङ्ग-सामाभिव्यक्तं यथायोग्यतया महाचक्र-प्रकाशकत्वेन योज्यम्, तथैवोपास्यं महाचक्रमिति रहस्यं तत्त्वञ्चेति। २।

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्, अस्यानुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्य फलं नो ब्रूहि भगव इति। स होवाच प्रजा-पतिर्य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते सोऽग्निपूतो भवति, स वायुपूतो भवति, स आदित्यपूतो भवति, स सोमपूतो भवति, स सत्यपूतो भवति, स लोक-

पूतो भवति, स ब्रह्मपूतो भवति, स विष्णुपूतो भवति, स रुद्रपूतो भवति, स वेदपूतो भवति, स सर्वपूतो भवति, स सर्वपूतो भवति ॥ ३ ॥

एवं नृसिंहब्रह्मविद्यां सकलमतानुसारिणीं सत्त्रामभिधाय अथेदानीं तदनुष्ठातुः कैमुत्यन्यायेन फलकथनाय प्रश्नोत्तररूपामाख्यायिकामवतारयति देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नित्यादिना। अत्र देवा ह वा इत्याद्यारभ्य तदेतन्निष्कामस्य भवति तदेतन्निष्कामस्य भवतीत्यन्ता अष्टावध्यायाः, प्रत्यध्याय-समाप्तौ च द्विरभ्यासः। देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन् अस्य 'मन्त्रराजस्य' प्रागुक्तोपासनाविशिष्टस्य फलं नो ब्रूहि। स होवाच प्रजापतिरित्युक्तार्थम्। 'यः' द्विविधोपासकः 'एतमिति' एतच्छब्दपरामृष्टप्रागुक्त-विद्यागर्भितं 'मन्त्रराजं' सामराजं 'नारसिंहं' नृसिंहाकार-ब्रह्मोपासनागर्भम् 'आनुष्टुभम्' अनुष्टुप्छन्दस्कं नित्यमिति साकार-ब्रह्म-प्रतिपत्तिद्वारेण नित्यभूत-निराकारब्रह्म-प्रतिपादकत्वात् नित्यम् 'अधीते' उच्चारयति। यत्र ईदृशसामोच्चारणमात्रादेव वक्ष्यमाण-फलावाप्तिः किं तद्विद्यानुष्ठानादित्यभिप्रायेण तत्र तन्नाधीत इत्यवोचत्। अथवा 'नित्यमधीते' इति नियमेनाधीते। अथवा नित्यम् 'अधि' इत्युपरिभावे 'इते' जानीते, सर्व्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः, नित्यं सन्ध्योपासनादि निवर्त्त्योत्तरकालं यो विद्यामेनामनुतिष्ठतीत्यर्थः। अथवा नित्यमानुष्टुभमित्यन्वयादानुष्टुभस्य साम्नो नित्यत्वं दर्शयति, न त्वितरस्य सामद्वयस्येति। अथवा, नित्यं सन्ध्योपासनादि कर्माधि-

कृत्य इते आनीते। एतदुक्तं भवति। ततो नित्यसन्ध्योपासनाग्निहोत्राद्युपास्य-देवता नारसिंह-लीलाविग्रहा इत्युपास्ति एतद्विद्यागर्भिता इत्यर्थः। अथवा य उपासकः प्रागुक्त-विद्यानुष्ठान-प्रकारज्ञाने असमर्थः स केवलं विद्याप्रतिपादकं ग्रन्थं 'नित्यं' प्रतिदिनं स्वाध्यायधर्मेण 'अधीते' पठति जपति, सोऽपि वक्ष्यमाणं फलं प्राप्नोति। तस्य ततो जपसामर्थ्यात् परमेश्वरः कारुण्यात् तद्विद्यानुष्ठान-प्रकारं साकारप्रभृति निराकार-पर्य्यन्तमिहैव कथयति। तथा चान्ते श्रूयते तद्वा एतत् परमं धाम एतद्विद्या-गर्भित-मन्त्रराजाध्यायकस्य पाठकस्य जापकस्येत्यादिना। 'सः' उपासकः अग्नि-वाय्वादित्य-सोम-सत्यलोक-ब्रह्म-विष्णु-रुद्र-वेदैर्नृसिंहरूपैरुपास्यैः 'पूतो भवति' पवित्रो भवति। अन्यैश्च सर्व्वैर्नृसिंहरूपैरुपास्यैः पूतो भवति। द्विरभ्यासोऽध्याय-समाप्तिं द्योतयति॥ ३॥ १॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स पाप्मानं तरति, स मृत्युं तरति, स भ्रूणहत्यां तरति, स ब्रह्म-हत्यां तरति, स वीरहत्यां तरति, स सर्वहत्यां तरति, स संसारं तरति, स सर्वं तरति, स सर्वं तरति॥ ४॥

इतः प्रभृति नित्यतयैतद्विद्यानुष्ठाने तत्प्रतिपादक-ग्रन्थ-जपे वा आनुषङ्गिकाण्येव फलानि काम्यानि तद्रहितानि वा कथयितुमाह। य उपासको नित्यत्वेन तद्विद्यानुष्ठानेन तज्जपेन वा पापक्षयं कामयते। य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्य-

मधीते इत्युक्तार्थम् । तथा इतः प्रभृत्यस्यादध्यायास्तत्र तत्र यच्छ-ब्देन पुंलिङ्गेन प्रागुक्त-नृसिंह-विद्याया नित्यतयानुष्ठाता तद्विद्या-प्रतिपादक-ग्रन्थजप्ता वाध्येता वा परामृश्यते, तथा तच्छब्देन स एव परामृश्यते । तथा तत्र तत्र पुंलिङ्ग-तच्छब्दाभ्यासात् तस्मिन्नेव नित्यानुष्ठाने जपे वा व्यस्तं समस्तं वा यथायोग्यतया फलं गम्यते । स मृत्युं पाप्मानं ब्रह्महत्यां भ्रूणहत्यां 'भ्रूणः' गर्भः, यद्वा, साङ्गवेदार्थ-व्याख्याता दीक्षितो भ्रूणः, वीरहत्यां 'वीरः' पुत्रः सवनस्थः क्षत्रियो वा । अन्यत् पातकं सर्व्वं तरति । द्विरभ्यासोऽध्याय-समाप्तिं द्योतयति ॥ ४ ॥ २ ॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते सोऽग्निं स्तम्भयति, स वायुं स्तम्भयति, स आदित्यं स्तम्भयति, स सोमं स्तम्भयति, स उदकं स्तम्भयति, स सर्वान् देवान् स्तम्भयति, स सर्वान् ग्रहान् स्तम्भयति, स विषं स्तम्भयति, स विषं स्तम्भयति ॥ ५ ॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते सोऽग्निं वायुमादित्यं सोममुदकं सर्व्वान् देवान् सर्व्वान् ग्रहान् विषं स्तम्भयतीति स्तम्भनफल-निर्द्देशः । द्विरभ्यासोऽध्याय-समाप्तिं द्योतयति ॥ ५ ॥ ३ ॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स भूर्लोकं जयति, स भुवर्लोकं जयति, स स्वर्लोकं जयति

स महर्लोकं जयति, स जनलोकं जयति, स तपोलोकं जयति, स सत्यलोकं जयति, स सर्वलोकं जयति, स सर्वलोकं जयति ॥ ६ ॥

य एतं मन्त्रराजमधीते स भूर्भुवः स्वर्महर्जनंतपः सत्यमन्यच्च सर्व्वं पाताललोकं जयतीति फलनिर्द्देशः । द्विरभ्यासोऽध्याय-समाप्तिं द्योतयति ॥६॥४॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स मनुष्यानाकर्षयति, स देवानाकर्षयति, स नागानाकर्षयति, स ग्रहानाकर्षयति, स यक्षानाकर्षयति, स सर्वानाकर्षयति, स सर्वानाकर्षयति ॥ ७ ॥

य एतमधीते स मनुष्यान् देवान् नागान् ग्रहान् यक्षान् तद्व्यतिरिक्तानन्यांश्चाकर्षयतीति फलनिर्द्देशः । द्विरभ्यासोऽध्याय-समाप्तिं द्योतयति ॥७॥५॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते सोऽग्निष्टोमेन यजते, स उक्थेन यजते, स षोडशिना यजते स वाजपेयेन यजते, सोऽतिरात्रेण यजते, सोऽप्तोर्यामेण यजते स सर्वैः क्रतुभिर्यजते, स सर्वैः क्रतुभिर्यजते ॥ ८ ॥

य एतमधीते सोऽग्निष्टोमेनोक्थेन षोडशिना वाजपेयेना-

तिरावेणामोर्य्यामेणान्यैश्च सर्वैः क्रतुभिर्य्यजते इति फलनिर्द्देशः । द्विरभ्यासोऽध्यायसमाप्तिं द्योतयति । न च वाच्यमन्यानर्थक्या-दितिन्यायेन कथं फलनिर्द्देश इति, यतो मनोव्यापारैकसाध्यत्वा-देतद्विद्यानुष्ठानस्य, तस्य च कर्म्मानुष्ठानादत्यन्तदुःसम्पाद्यत्वा-दित्यधिकारिभेदेन नान्यानर्थक्यमिति सर्वं निर्म्मलम् । ॥ ८ ॥ ६ ॥

**य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स ऋचो-ऽधीते, स यजूंष्यधीते, स सामान्यधीते, सोऽथर्वाणमधीते, सोऽङ्गिरसमधीते, स शाखा अधीते, स पुराणान्यधीते, स कल्पानधीते, स गाथा अधीते, स नाराशंसीरधीते, स प्रणव-मधीते, यः प्रणवमधीते, स सर्वमधीते स सर्वमधीते ॥ ९ ॥**

य एतं मन्त्रराजमधीते स ऋचो यजूंषि सामान्यथर्व्वाणमङ्गि-रसम् । एतच्च त्रयोसम्पुटीकरणमेतदन्तराल-वर्त्तित्वाद्वेदत्रयस्य । तथाच तस्मिन्नेव ब्राह्मणे प्रजापतिः प्रथममथर्व्वाणमजपत् तत-स्त्रयीं ततोऽङ्गिरसमित्यसकृदभिहितत्वात् । शाखाः पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीः प्रणवमधीत इति फलनिर्द्देशः । अत्र च यः प्रणवमधीते स सर्व्वमधीत इति वदन् मूलमन्त्र-प्रणवयोः फलसाम्यादुभयोः साम्यं दर्शयति । ततश्च जप समाधौ वोभयो-र्विकल्पः । तथा च नित्यानुष्ठाने फलकामनायां प्रयोगविशेषः । तत्तत्फलपदोच्चारणं मूलमन्त्रजपान्ते कार्य्यमिति केचित् । अन्ये तु तद्विनैव केवलं कामनैव कार्य्येति साम्प्रदायिकमेवान्वेष्य-मिति । द्विरभ्यासोऽध्यायसमाप्तिं द्योतयति ॥ ८ ॥ ७ ॥

अनुपनीतशतमेकमेकेनोपनीतेन तत्समम्, उपनीतशतमेकमेकेन गृहस्थेन तत्समं, गृहस्थशतमेकमेकेन वानप्रस्थेन तत्समं, वानप्रस्थशतमेकमेकेन यतिना तत्समं, यतीनान्तु शतं पूर्णं रुद्रजापकेन तत्समं, रुद्रजापकशतमेकमेकेनाथर्वशिरः-शिखाध्यायकेन तत्समम्, अथर्वशिरः-शिखाध्यायकशतं मन्त्रराजजापकेन तत्समम्। तद्वा एतत् परमं धाम मन्त्रराजाध्यायकस्य। यत्र सूर्यो न तपति, यत्र वायुर्न वाति, यत्र न चन्द्रमा भासयति, यत्र न नक्षत्राणि भान्ति, यत्र नाग्निर्दहति यत्र न मृत्युः प्रविशति, यत्र न दुःखं प्रभवति, सदानन्दं परमानन्दं शाश्वतं शान्तं सदाशिवं ब्रह्मादिवन्दितं योगिध्येयं यत्र गत्वा न निवर्त्तन्ते योगिनः।

एवं विद्यानुष्ठाने आनुषङ्गिकं सर्व्वफलमभिधाय अथेदानीं तद्विद्यानुष्ठातृग्रमुरध्येतुर्योत्कर्षतरतम-भावेन सर्व्वोत्कृष्टञ्च फलमाह। अनुपनीतशतमेकमेकेनोपनीतेन तत्समम। उपनीतशतम् उपकुर्व्वाणकानां न नैष्ठिकाभिप्रायेण तस्य सर्व्वोत्कृष्टत्वात्, एकमेकेन गृहस्थेन तत्समम्। गृहस्थशतमेकमेकेन वानप्रस्थेन तत्समम्। वानप्रस्थशतमेकमेकेन यतिना तत्समम्। योऽयमाश्रम-स्वीकारमात्रेण तरतमभावो नाश्रम-प्रयुक्तानुष्ठानाभिप्रायेण, ततश्च यतीनाञ्च शतं पूर्णं स्वीकृताश्रममात्राणां यस्मिन्

कस्मिंश्चित् स्थित-रुद्रजापकेन (१) तत्समम् । रुद्रजापकमतमेवं यस्मिन् कस्मिंश्चिदाश्रमे स्थिताथर्व्वशिरः-शिखाध्यायकेन जापकेन तत्समम् । अथर्व्वशिरः-शिखाध्यायकमतं मन्त्रराजजापकेन तत्सममित्युत्कर्ष-तरतमभावस्य मन्त्रराजजापके एतद्विद्यावति विश्रान्तत्वादेतद्विद्यावान् सर्व्वोत्कृष्ट इति गम्यते । यथानन्द-तरतमभावस्य ब्रह्मणि विश्रान्तत्वाद्ब्रह्मानन्द एवोत्कृष्टः । यस्मादेवं तस्मात् 'वै' प्रसिद्धम् एतत् परमं 'धाम' स्थानम् एतद्विद्यागर्भित-मन्त्रराजाध्यायकस्य जापकस्यानुष्ठातुर्व्वा । 'यत्र' घोरोदार्णवस्थाने सूर्य्यो न तपति यत्र न वायुर्व्वाति यत्र न चन्द्रमास्तपति यत्र न नक्षत्राणि भान्ति यत्र नाग्निर्दहति यत्र गत्वा न निवर्त्तन्ते योगिन इति स्पष्टार्थम् ।

तदेतदृचाभ्युक्तम् । तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् । तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते । विष्णोर्यत् परमं पदमिति । तदेतन्निष्कामस्य भवति, तदेतन्निष्कामस्य भवति । य एवं वेदेति महोपनिषत् ॥ १० ॥

इत्यथर्व्ववेदे नृसिंह-पूर्वतापनीये महोपनिषत्
पञ्चमी समाप्ता ॥५॥

इत्याथर्व्वणरहस्ये नृसिंह-पूर्वतापनीयोपनिषत् समाप्ता ॥

---

(१) क, रुद्रजाप्येन ।

'तदेतत्' स्थानम् ऋचाभ्युक्तम्। विष्णोर्यत् परमं पदमिति। यच्छब्देन चौरोदार्णवस्थानं परा मृश्यते परमं पदं प्रत्यभिज्ञानात्। 'सूरयः' उपासकाः, उपासनाभेदेन तादात्म्योपासनया चेत् सायुज्यं फलं, ततश्च विष्णुरेव परमं पदम्। उभयत्रापि विष्णोरिति षष्ठीनिर्द्देशः शिलापुत्रकस्य शरीरमितिवद्द्रष्टव्यः। अथोपास्योपासकभावेन चेदनुष्ठातुर्द्विधानुष्ठानं 'तस्य' नृसिंहस्य विष्णोः'परमं पदं' परमं स्थानं महाचक्र-नाभि-चौरोदार्णव-प्रभृति, तत्र स्थिता उपासका अनुष्ठातारो जप्तारोऽध्येतारो वा 'सदा' सर्व्वकालं पश्यन्ति। कीदृशं तदित्यपेक्षिते आह, 'दिवीव' द्युलोके इव 'चक्षुः' (१) सूर्य्यमण्डलम् 'आततम्' आ समन्तात् ततं विस्तृतं वर्त्तुलं प्रकाशात्मकं सर्व्वप्रकाशाभिभवकारणम्, अतएव सूर्य्य-चन्द्र-नक्षत्राणां प्रकाशो ब्राह्मणेन प्रतिषिद्धस्तापकर्त्तृता च यत्र सूर्य्यो न तपतीत्यादिना। एवं तस्मिन्नाधिदैवात्मके दुःखे प्रतिषिद्धे आध्यात्मिकदुःखप्राप्तौ तत् प्रतिषेधति, यत्र न दुःखमिति। दुःखाभावमात्रे प्राप्ते सुषुप्तिवज्जड़ता स्यादिति तद्व्यावृत्त्यर्थं सदानन्दमिति। 'ब्रह्मादि-वन्दितमिति' तदादिन्यायेन नाभिस्थ-ब्रह्म-विष्णु-महेश्वरैः परिचारकैर्वन्दनीयं महाचक्राख्यं स्थानम्। यत्र गत्वेति तस्य गन्तव्यतामाह, तद्विप्रास इति। 'तत्' तादृशं स्थानं 'विप्रासः' विप्राः ब्राह्मणा उपासकाः 'विपन्यवः' मेधाविनः समाधौ धारणाशक्तियुक्ताः 'जागृवांसः' जागरितावस्थायामेवावस्थात्रयात् प्रविच्युत्य (२) समिन्धते समृद्धं कुर्व्वन्ति। तादात्म्यपक्षे तु मन्त्र-ब्राह्मणयोर्य्यथास्वरूपं व्याख्येयम। इति

(१) क, ख, चक्षुः स्थाने। (२) प्रच्यत्य।

शब्दो मन्त्रसमाप्तिं द्योतयति। पदचतुष्टयाभ्यासः सर्व्वोपनिषत्-समाप्तिं द्योतयतीति सर्वं निर्म्मलम ॥१०॥८॥५ इति श्रीगोविन्द-भगवत्-पूज्यपाद-शिष्यस्य परमहंस-परिव्राजकाचार्य्यस्य श्रीशङ्कर-भगवतः कृतावाथर्वणतापनीयोपनिषद्भाष्ये पञ्चमोपनिषद्भाष्यं समाप्तम्। इदं पूर्वतापनीयोपनिषद्भाष्यम्॥

---

ओं नमो भगवते श्रीनृसिंहाय।

## नृसिंहोत्तर-तापन्याम्।

### प्रथमोपनिषदि

#### प्रथमः खण्डः।

ओं भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥१॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः स्वस्ति नो वृहस्पतिर्दधातु॥
ओं शान्तिः, ओं शान्तिः, ओं शान्तिः॥

ओं देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्, अणोरणीयांसमिममात्मानमोङ्कारं नो व्याचक्ष्वेति।

ओं नमः श्रीनृसिंहाय।

निरस्त-निखिलानर्थ-परमानन्द-रूपिणे।
नृसिंहाय नमस्कुर्म्मः सर्व्वधीवृत्ति-साक्षिणे॥ १ ॥
यत्पादाब्ज-रजोलेश-सम्पर्कात् सहसा सकृत्।
सर्व्व-संसारहीनोऽहं तान् नतोऽस्मि गुरून् सदा॥ २ ॥
तापनीय-रहस्यार्थ-विवृतिर्लिख्यतो मया।
क्रियतेऽन्यधिया तस्मात् क्षन्तव्यं चात्मसुत्तमैः॥ ३ ॥

इह पूर्वस्मिन् ग्रन्थे नृसिंहाकार-ब्रह्मविषया विद्या निरुपाधिक-परब्रह्मफलाधिगता। तथाप्युक्तं वार्त्तिककृद्भिः, "नृसिंह-ब्रह्मविद्यैषा व्याख्याता ज्ञानसिद्धये" इति। प्रणवस्य त्वनुष्टुबङ्गत्वेनैव तत्र प्रवेशः। तथाचोक्तं सर्वे वेदाः प्रणवादिकास्तं प्रणवं तत्साम्नोऽङ्गं वेद स त्रीन् लोकान् जयतीति। इह तु पूर्वोक्तोपासनादिभिरीषच्छुद्धान्तःकरणस्य परब्रह्मविद्या-प्रवेशमात्रयोग्यस्य नृसिंहाकारमेव ब्रह्म प्रणवप्रधानमादाय तद्द्वारेण तुरीयपर्य्यवसायिन्यामुपासनां कर्त्तव्यत्वेन विधाय तदनुष्ठानेनातिविशुद्धान्तःकरणस्य साक्षात्तुरीयविद्यैव स्वरूपावस्थानफलोच्यते। तदप्युक्तं, "तुरीयावसिता विद्या साक्षादत्र प्रदर्श्यते" इति। तुरीयावसितोपासना साक्षात्तुरीयविद्या चात्र प्रदर्श्यंत इत्यर्थः। अत्रानुष्टुप्-प्रवेशस्तु प्रणवाङ्गत्वेनैवानुष्टुभान्विष्य प्रणवेनैव तस्मिन्नवस्थिते ओङ्कारे परे ब्रह्मणि पर्य्यवसितो भवेदित्यनुष्टुबङ्गत्वस्य प्रणवप्रधानत्वस्य च श्रवणादनुष्टुबर्थस्य प्रणवे प्रक्षेपदर्शनाच्चावगन्तव्यः। आख्यायिका तु विद्या सम्प्रदान-ग्रहणविधि-प्रदर्शनार्था विद्यास्तुत्यर्था वा। 'देवाः' पूर्वोक्तैः साधनैर्दीप्तान्तःकरणाः प्रसिद्धा वा देवाः, 'ह' इत्यैतिह्यार्थः वैशब्देनोक्तसाधन-विशेषैर्दीप्तान्तःकरणत्वेन देवानां प्रष्टृत्वसामर्थ्यं स्मारयति। 'प्रजापतिम्' आचार्यं प्रसिद्धं वा 'अब्रुवन्' उपगम्योक्तवन्तः। किमुक्तवन्त इत्याह, अणोरणीयांसमिममात्मानमोङ्कारं नो व्याचक्ष्वेति। 'अणोः' सूक्ष्मादप्याकाशादेः 'अणीयांसं' सूक्ष्मतरं परात्मानम् 'इमम्' अनन्तरातीतग्रन्थे गुरुणा अनुष्टुबुपाधिकत्वेनोक्तम्, किम्? 'ओङ्कारं व्याचक्ष्व' अनुष्टुभोऽपि कारणभूतो य ओङ्कार-

स्तद्रूपं परमात्मानं 'नः' अस्मभ्यं 'व्याचक्ष्व' विस्पष्टं कथय। स्वप्रणव-कार्य्यभूताह्यनुष्टुप् श्रूयते वैरिञ्चे मन्त्रराजकल्पे, "चतुर्मात्रात्मकात्ताराच्चतुष्पादो महामनुः। वक्त्रेभ्यो मम सञ्जातो मन्त्रविद्येश्वरेश्वरः" इति। दृश्यते च घटे मृदन्वयवदनुष्टुभि प्रणवस्यान्वयः, उकारादिर्हुंकारान्ता ह्यनुष्टुप् प्रणवैकदेश एव पर्य्यवसिता दृश्यते। उक्तञ्च वैरिञ्चे मन्त्रराजकल्पे। "प्रणवान्तर्गतोऽयं हि मन्त्रः सर्व्वार्थसाधकः। उकार आदिर्मन्त्रस्य हुङ्कारोऽन्त्यः प्रकीर्त्तितः। लुप्ते हुङ्कारे प्रणवो व्यज्यते व्यत्ययाच्च" इति। अतः कारणादोङ्कारस्यानुष्टुभोऽप्यणीयस्त्वं सिद्धम्। एतदुक्तं भवति। अनुष्टुप्-प्राधान्येनोक्तमात्मानं तत्कारण-प्रणवस्य प्राधान्येन प्रणवगुणभूततया अनुष्टुभञ्च स्वीकृत्य व्याचक्ष्वेति। इति शब्दः प्रश्नवाक्यसमाप्त्यर्थः।

## ओं तथेत्योमित्येतदक्षरमिदं सर्व्वं तस्योपव्याख्यानम्।

देवैरेवं प्रार्थितः प्रजापतिः ओमित्यनुजानाति प्रार्थितं तथेति, यथाप्रार्थितमुपदिशामीत्यर्थः। तत्र प्रथमं सङ्ग्रहेणानुष्टुबात्मनः प्रणवरूपतामाह ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमिति। सङ्क्षेप-विस्ताराभ्यां हि प्रतिपाद्यमानं वस्तु मन्दप्रज्ञस्यापि बुद्धावारोहति। यदिदमनुष्टुम्मात्रमित्युक्तं सर्वकार्य्य-कारणात्मकं जगत् स एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभमपश्यत् तेनैव सर्वमिदमसृजत्, यदिदं किञ्च, तस्मात् सर्वमेवानुष्टुभमित्याचक्षते इत्यादिभिर्वाक्यैस्तदनुष्टुभा सहोमित्येतदक्षरम्। कुतः? यतो वाङ्मात्ररूपोऽयमोङ्कारः, वक्ष्यति हि वाग्वा ओङ्कार इति। नन्वनुष्टुभोऽपि वाङ्मात्ररूपत्व-

मुक्तं पूर्वं वाग्वा अनुष्टुबिति। अनुष्टुभात्मकश्च प्रणवः; अतः सार्थाया अनुष्टुभः कथं प्रणवात्मकत्वं, विपरीतं किं न स्यादिति चेत्, न, अनुष्टुभि प्रणवान्वय-दर्शनेन प्रणवस्यानुष्टुभं प्रति कारणत्वोपपादनेन परिहृतत्वात् अस्य चायस्य वागात्मरूपिण्या-स्त्वनुष्टुभस्तथाविधात् प्रणवाद्भेद एव नास्तीति तस्या अपि तदात्मकत्वं सिद्धम्। यदि च भेदोऽस्तीत्युच्यते तथापि वाग्वि-शेषरूपयोर्हि प्रणवानुष्टुभोः प्रणवस्यैव कारणत्वं दृष्टम्। तस्माद्वाक्सामान्य-रूपयोरपि तयोस्तथैव कार्य्यकारणभावो युक्त इति। वागात्मरूपे प्रणवे अनुष्टुबन्तर्भूतैव। यथा अन्ये सर्वे शब्दविशेषाः। उक्तञ्च, यथा, "अकारो वै सर्व्वा वाक् सैषा स्पर्शो-ष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवतीति"। साचाच्च तद्यथा शङ्कुना "सर्व्वाणि पर्णानि सन्तृणान्येवमोङ्कारेण सर्व्वा वाक् सन्तृणेति" सर्व्ववागात्मकत्वमुक्तं प्रणवस्य। "सर्व्वंवाग्वाच्यं वस्तु प्रणवात्मकमिति च"। अर्थविशेषाणाञ्च तद्वाचक-नामविशेष-द्वारेण वागात्मरूपे प्रणवेऽन्तर्भावः सम्भवति तेषां तद्व्यतिरेके-णानुपलम्भात्। उक्तञ्च 'तदस्येदं वाचातन्त्या नामभिर्दामभिः सर्व्वं सितम्, सर्व्वं ह्येदं नामनी तस्यै यदुपांशु स प्राणः,अथ यदुच्चैस्तच्छरीरमिति। अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा। यो वै तां वाचं वेद, यस्या एष विकार इति' वाचः कारणत्वश्रवणाच्च। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयमिति च' विकारस्य नामधेयमात्रत्वं श्रुतम्। साचाच्च प्रणवस्यैव सर्व्वा-त्मकत्वं श्रुतम्, ओङ्कार एवेदं सर्व्वम्, एतद्वै सत्यकामं पर-ञ्चापरञ्च ब्रह्म यदोङ्कारः, यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः, ओमि-

तीदं सर्व्वम्, इत्यादिवाक्यैः। ननु वाच्यावतां विवचित्वा सर्व-शब्दानां सर्व्वात्मत्वं वक्तुं शक्यं, तथा सति कोऽयं विशेषः प्रणवस्य सर्व्वात्मत्वे येन सर्व्वश्रुतीनामत्यादरो महान् दृश्यते। "सर्व्वे वेदा यत् पदमामनन्ति, एतदालम्बनं श्रेष्ठम्, धनुर्गृहीत्वा, प्रणवो धनुस्तिस्रो मात्रा एतद्वै महोपनिषदम्" इत्यादिप्रदेशेषु। अनुष्टुबन्तर्भाव एवासौ विशेष इति चेत्, न, अन्येष्वप्युकारादि-मकारान्तेषु मन्त्रेषु अनुष्टुबन्तर्भावसम्भवात्, अतोऽत्रैवानु-ष्टुबन्तर्भावकथनमपि प्रणवस्य न मन्त्रान्तरेभ्यो विशेषं द्योतयति। अतः कोऽसौ विशेष इति वक्तव्यम्। उच्यते। श्रुतिगम्य एवासौ विशेषः स्मृतिगम्यो वा नास्मद्बुद्धिगम्यः। तथाचोक्तं सारसङ्ग्रहे प्रणवनिर्णये।

ऋग्वेदः स्यादकाराद्य उकारान्तं यजुर्मतम्।
सामवेदो मकारान्तः सर्व्वग्राही ततो ध्रुवम्॥
षडङ्ग-न्याय-मीमांसा-पुराण-स्मृति-पूर्वकम्।
वेदेऽन्तर्भूतमेव स्यात् सर्व्वे वेदाश्च तारगाः॥
अक्षयोर्मध्यगा वर्णा लक्ष्मौ मलकगौ यतः।
अकारः पुरुषस्तत्र ह्रकारः प्रकृतिः परा॥
तथा प्रणवगोकारो बीजात्मा पुरुषः स्मृतः।
उकारः शक्तिरूपत्वात् प्रकृतिः सा ह्ररूपिणी (१)॥
पुम्प्रकृत्यात्मका वर्णास्तस्मादोम्मध्यगाः सदा।
चराचरपरो देवो मकारः परमेश्वरः॥

---

(१) क, सा ह्रखरूपिणी।

अथवाकार एवायं चिन्मात्रः परमेश्वरः ।
सर्व्वप्रकाशको देवो ह्युकार सर्व्वभासकः ॥
न हि तेन विना वर्णप्रकाशः क्वापि कस्यचित् ।
कार्य्यञ्च कारणं सर्व्वमुकारः शक्तिरूपवान् ॥
उकारमत एवात्र जगत्प्रसव-रूपतः ।
उच्चरत्यतिदीर्घेण सृष्टि-स्थिति-लयात्मना ॥
कार्य्य-कारण-रूपेण महेशादात्मनोद्गतम् ।
तमेवमात्मकं भूयः प्रविश्यात्म-स्वरूपिणम् ॥
तावन्मात्रत्वमायाति मकारो हि महाचितिः ।
अकारः सोमरूपोऽयं उकारः सूर्य्य एव तु ॥
मकारश्च महावह्निरिति तेजस्त्रयात्मकः ।
षोड़शात्मा भवेत् सोमः षोड़श-स्वररूपवान् ॥
सूर्य्यो द्वादशमासात्मा मासाश्च द्विविधा मताः ।
अयनद्वय-भेदेन सृष्टि-संहार-रूपतः ॥
संसार-मोक्ष-भेदेन तथाहोरात्र-भेदतः ।
कभादि-वर्णरूपास्ते सृष्टि-संहार-रूपतः ॥
मकारः काल-कलितः (१) परमात्मा महेश्वरः ।
आदित्यान्तर्गतो देवः कालकालो महाप्रभुः ॥
सर्व्वसंहार-वह्न्यात्मा साक्षी चिन्मात्रविग्रहः ।
पुरुषः पञ्चविंशोऽयं षड्विंशस्तु महेश्वरः ॥
पञ्चविंशात्मना भोक्ता षड्विंशो भोजको मतः ।
उभयात्मा मकारोऽयं प्रणवस्य उदाहृतः ॥

(१) क, कारकलितः ।

भोक्ता तथाग्निरूपः स्यादृग्भेदयुतः स च ।
सप्तधातुत्रयाधारो भेदतोऽस्मिन् कलेवरे ॥
यकारादि-चकारान्ता वर्णास्तद्भेदरूपिणः ।
मकारस्तु समष्ट्यात्मा भोक्तृ-भोजक-रूपवान् ॥
अतः सर्व्वात्मकस्तारः साक्षात् सर्व्वेश्वरः स्वयम् ।
सर्व्व-तेजोऽनुगश्चैव सर्व्व-वर्णात्मकः स्वयम् ॥
अपरः प्रकृतेर्यद्वा वाचकोंकार इष्यते ।
सम्यान-वीजरूपेण सर्व्वत्रानुगता हि सा ॥
अकारः सर्व्व-वर्णेषु तथैवेशान्वितः सदा ।
तस्मात्तद्वाचकोंकारस्तदभिन्नः सदा भवेत् ॥
उन्मुखः स्यादुकारोऽयं तस्या उद्गाढ़-साक्षिणः ।
व्याप्तेर्बलस्य चाधिक्यादकारादुद्गतो ह्यसौ ॥
तद्वत् सात्मात्मिका शक्तिः साभासबल-संयुता ।
उकारोऽतस्तदात्मा स्यात्तदाभासामृताप्लुतः ॥
मकारो महतो बोधः केवलस्य महात्मनः ।
निराभास-महासंविदानन्दैक-स्वरूपिणः ॥
इति शब्दान्तरेभ्योऽयमोङ्कारः परमो मतः ।
वर्णा वर्णान्तरेभ्यश्च सारभूताः परा मताः ॥
आदिसान्तास्तु ये मन्त्रास्ते सर्व्वे प्रणवात्मकाः ।
तेषां तदात्मकत्वेन सर्व्वात्मत्वं स्वतो न तु इति ॥

एवं सार्थं मन्त्रराजं प्रणवेऽन्तर्भाव्य तेनात्म-प्रतिपत्ति-प्रकारश्च सङ्क्षेपेणाभिधाय तदेव विस्तरेण व्याचिख्यासुर्वक्ष्यमाणेऽर्थे श्रोतॄणां बुद्धिसमाधानविशेष-सिद्धये प्रजापतिराह, तस्योपव्या-

ख्यानमिति। 'तस्य' ओमित्येतस्याक्षरस्य 'उपव्याख्यानम्' प्रात्मप्रतिपत्त्युपायतया तत्सामीप्येन व्याख्यानम् इदानीं प्रस्तुतमिति शेषः।

भूतं भवद्भविष्यदिति सर्व्वमोङ्कार एव, यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव।

यथाप्रतिज्ञातमुपव्याख्यानमेवानुवर्त्तयते भूतमित्यादिना। भूतं भवद्भविष्यदित्येवं कालत्रय-परिच्छिन्न-कार्य्यजातमित्यर्थः। तच्च द्विविधं स्थूलं सूक्ष्मञ्चेति। तत्र स्थूलं समष्टिव्यष्ट्यात्मकं विराड्रूपम्, सूक्ष्मन्तु समष्टि-व्यष्ट्यात्मकं हिरण्य-गर्भरूपम्, तयोरुभयोरपि प्रणवात्मकतामाह सर्व्वमोङ्कारएवेति। ननु भूतं भवद्भविष्यदिति सर्व्व-मकारोकारावेवेति च वक्तव्यं विराड्-हिरण्यगर्भयोर्हि तत्राकारोकारात्मकत्वमेवोच्यते न तु समस्तप्रणवात्मकत्वम्, अत्रापि भूतं भविष्यदिति तावेवोक्तौ तयोरेव दिक्काल-परिच्छेदसम्भव इति, यच्चान्यत्त्रिकालातीतमित्यव्याकृतादेः पृथक्कथनाच्च। यद्येवं तर्हि ओङ्कारैकदेशात्मनावपि विराड्-हिरण्यगर्भावुपचारेणोङ्कारात्मानावित्युक्ताविति चेत्, न, श्रुत्यर्थ-परित्याग-प्रसङ्गात्। तर्हि सामान्येनोङ्कारमात्रं सर्व्वमित्युच्यते इति चेत्। यद्येवं तर्हि कालत्रय-परिच्छिन्नं तदपरिच्छिन्नञ्च सर्व्वमनूद्य पुनः सर्व्वमेतदोङ्कार एवेति वक्तव्यम्। ननु जगदेकदेशमेवानूद्य अयमथोङ्कार एवेति च वचनमनुपपन्नं, सामान्येन च सर्व्वात्मत्वमोमित्येतदक्षरमिदं सर्वमिति पूर्वमेवोक्तमिति न पुनर्वच-

नीयम्। अतो विराड्-हिरण्यगर्भाव्याकृत-सन्मात्रशरीराणां प्रत्येकं सर्व्वात्मकत्व-प्रणवात्मकत्वमेवाचोच्यते। ननु एकस्यैवोङ्कारस्यैकस्मिन्नेव प्रयोगे कथं सर्व्वात्मना शरीर-चतुष्टयात्मत्वं सम्भवति, न, एकस्यैव प्रणवस्य वैखर्य्यादिरूपेण प्रत्येकं सर्व्वात्मकत्वादिति ब्रूमः। वैखर्य्यास्तावदक्षररूपिण्या अकारोकार-मकारार्द्धमात्र-प्रणवात्मकत्वं प्रत्यक्षसिद्धम्, मध्यमा-पश्यन्ती-परारूप-प्रणवस्यापि वैखर्य्याद्यविभाग-रूपत्वेन सर्वात्मत्वमभ्युपगन्तव्यम्। एवं सति प्रत्येकं चतूरूपत्वेन वक्ष्यमाणानां विराड़ादीनां वाचकत्वं सम्भवत्योङ्कारस्य। अकारादीनामपि चतूरूपाणामेव विराड़ादिवाचकत्वं वक्ष्यति, विश्वो वैश्वानरश्चतूरूपोऽङ्कार एवेत्यादिना। अकारादयो हि वीज-विन्दु-नाद-शक्ति-रूपत्वात्मभेदे वाक्-चतुष्टयरूपा एव। न हि वैखर्य्यादिरूप-चतुष्टय-रहितः शब्द एवास्ति लोके। उक्तञ्च, वाक्-चतुरात्मत्वम्, उत्तरोत्तरं सौक्ष्म्यञ्च। चत्वारि वाक्परिमितानि पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहितानेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्तीति। तस्माद्वैखर्य्यादि-रूपस्यैवोत्तरोत्तरसूक्ष्मस्य तथारूप-विराड़ादि-वाचकत्वेन विराड़ाद्यात्मकत्वमत्रोक्तं, यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वागिति वाक्यान्तरम्। तत्राकारोकार-मकारार्द्धमात्रात्मा अस्मदादि-श्रोत्रग्राह्यः क्रियाशक्ति-प्रधानो वैखर्य्यात्मा तत्प्रधानः प्रणवो विराजो वाचकः। उभयोः खरत्वस्य काठिन्यस्य च साम्यात्। विशेषेण खरत्वाद्वैखरीत्युच्यते, वैखर्य्युच्चारणात् पूर्वमकारादिमात्रा-चतुष्टय-रूपेणैव मनस्युद्भूतः क्रमादि-विशिष्ट-वर्ण-विमर्शात्मा ज्ञानशक्ति-प्रधानो मध्यमावा-

गात्मा स तत्प्रधान-प्रणवो हिरण्यगर्भवाचकः, मनोरूपत्व-साम्यादुभयोः । सा च मध्ये वर्त्तते चेति मध्यमेत्युच्यते । एवं विराड्-हिरण्यगर्भयोर्वक्ष्यमाण-प्रकारेण चतुरात्मना मध्यमा-वैखरीरूप-चतुर्मात्र-प्रणवात्मत्वमभिधाय समष्टि-व्यष्टि-सुषुप्तात्म-कस्याव्याकृतस्य समस्त-जगद्वासनाविशिष्टतया किञ्चिद्बहिर्मुख-सदात्मकस्य कारणशरीरस्यान्तर्मुख-सदात्मक-सामान्य-शरीरस्य च ब्रह्मज्ञानात्मनः क्रमेण पश्यन्ती । परावाग्रूपप्रणवरूपता-माह, यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एवेति । मध्यमा-वाग्रूप-विशेषज्ञानात् पूर्वमक्रमवहिर्मुख-स्पन्दमात्ररूप-सामान्य-ज्ञानात्मक इच्छाशक्ति-प्रधानः पश्यन्त्यात्मा प्रणव उक्तरूप-कारण-शरीरवाचकः, पश्यद्रूपत्वाविशेषात् । परित्यक्त-सर्वस्पन्दः केवल-सन्मात्रतयावस्थितः स्वातन्त्र्यशक्तिः सदात्मा परावाग्रूपः प्रणव उक्तरूप-सामान्यशरीर-वाचकः परत्वसामान्यात् । उक्त-वाच्यानाञ्चोक्तवाचक-व्यतिरेकेणानुपलब्धेः । सर्वमोङ्कार एवेति युक्तम् । ओङ्कारस्य सर्व्व-वाच्य-वाचक-कल्पना-रहित-चिन्मात्र-रूपत्वञ्च यच्चान्यदित्यनेनैवोक्तम् । न हि चिद्रूपत्वं विना प्रण-वस्य बधोक्तत्वं सम्भवति ।

सर्व्वं ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म तमेतमात्मानमोमिति ब्रह्मणैकीकृत्य ब्रह्मचात्मना ओमित्येकीकृत्य तदेक-मजर-ममृत-मभय-मोमित्यनुभूय तस्मिन्निदं सर्व्वं त्रिशरीर-मारोप्य तन्मयं हि तदेवेति संहरेदोमिति ।

एवमात्मप्रतिपत्त्यर्थमोङ्कारस्योपव्याख्यानमेकेन प्रकारेण

ज्ञात्वा व्याख्यातं वाक्यचतुष्टयप्रणवरूपं सार्थं क्रमेण तत्-साक्षिणि ब्रह्मणि प्रणवे विलापितं तावन्मात्रं भवतीत्याह, सर्व्वं ह्येतदिति। हि शब्देन तत्राध्यासलक्षणो हेतुः। एवं त्वम्पदार्थं तत्पदार्थ-पर्य्यन्तमुपव्याख्यानेन संशोध्य शुद्धस्य प्रत्यगात्मनो ब्रह्मणैक्यमाह, अयमात्मा ब्रह्मेति। उक्तञ्च ब्रह्मात्मैक्यं प्रणवेन व्यतिहारेण प्रतिपत्तव्यमित्याह, तमेतमात्मानमोमिति ब्रह्मणैकीकृत्य ब्रह्म चात्मना ओमिति। 'तम्' एतं ब्रह्मस्वरूपम् 'एतम्' प्रत्यगात्मानमिति तदेतच्छब्दयोरर्थः। तत्र प्रथमा प्रतिपत्तिरहं स इति वाक्यरूपेण प्रणवेन कार्य्या। तत्राहंशब्दःस्थूल-सूक्ष्म-प्रधान-त्वम्पदार्थवाचकः सन् अवस्थात्रय-साक्षिणं प्रत्यगात्मानं लक्षयति। अकारोकारावपि तद्वाचकत्वेन तमेव लक्षयत इति तदात्मकौ तौ। स इति कारणोपाधिप्रधान-तत्पदार्थ-वाचकः सन् तत्साक्षिणं परमात्मानं लक्षयति। मकारोऽपि तद्वाचकत्वेन तमेव लक्षयति। सामानाधिकरण्येन च प्रत्यगात्मनो ब्रह्मणैक्यं प्रतिपत्तव्यम्। द्वितीया तु प्रतिपत्तिः सोऽहंवाक्यरूपेण प्रणवेन कर्त्तव्या। सोऽहमित्यस्माद्वाक्यात् सकार-हकारयो-र्व्यहारे कृते तत्पूर्वरूपे च ओमिति प्रणवः सम्पद्यते। तस्मादो-मिति परमात्मवाचकः। स इति हि तस्यार्थः। तच्छब्दस्य कारणोपाधि-प्रधान-ब्रह्मवाचक इति। अहमिति प्रत्यगात्म-वाचकः, अहंशब्दात्मकोऽह्यसौ, सामानाधिकरण्येन च ब्रह्मणः प्रत्यगात्मनैक्यं प्रतिपत्तव्यमिति। एवं व्यतिहारेणैकत्वं प्रति-पाद्यानुज्ञाप्रणवेन परिपूर्णत्वावद्योतकेन परिपूर्णे वाक्यार्थमात्रे पद-पदार्थद्वय-तदैक्य-प्रतिपत्ति-विकल्प-रहिते स्थितिः कार्य्या

मन्दस्य सम्यक् ज्ञानोदयायेत्याह, तदेक-मजर-ममृत-मभय-मोमित्यनुभूयेति। 'तदेकं' वस्तु एकत्वेन जराहेत्वभावादजरम्, अजरत्वात् 'अमृतं' सर्व्वविकार-वर्जितमित्यर्थः, अतोऽभयमिति, 'ओमिति' शास्त्राचार्य्य-युक्तिसिद्धैक्यस्य स्वानुभवसिद्धतया सत्यम् एवं रूपमेवात्मतत्त्वमिति स्वस्य पूर्णत्वावद्योतकेनानुज्ञा-प्रणवेनानुभूयेत्यर्थः। अनुभूय तस्मिन्निदं सर्व्वं त्रिशरीरमारोप्य संहरेदित्यन्वयः। यद्येवं स्वात्मन्यवस्थितस्य कदाचित् केनचिन्निमित्तेन जगत्प्रतिभासः स्यात्तदा तत् सर्व्वं शरीरत्वेन स्वात्मनि कल्पनीयमित्याह, तस्मिन्निदं सर्व्वं त्रिशरीरमारोप्येति। 'तस्मिन्' पूर्व्वोक्तवाक्यार्थस्वरूपे स्वात्मनि तुरीये 'इदं' सर्व्वं-कार्य्य-कारणात्मकं जगत् त्रिशरीरं स्थूल-सूक्ष्म-कारण-लक्षणं शरीरत्रयं यथा भवति तथारोप्येत्यर्थः। अत्र कारण-सामान्य-शरीरयोरेकत्वं विवक्षितत्वात्त्रिशरीरत्वमुक्तमित्येवं मन्तव्यम्। ईक्षणावस्थं प्रलयावस्थञ्च वहिर्मुखं सदात्मकं कारणं कारण-शरीरमुच्यते। तदेव सम्यानमन्तर्मुखं साक्ष्येकाकारं ब्रह्म-ज्ञानरूपं सामान्यशरीरमित्युच्यते। आरोप्य किं तथैव स्थातव्यं? न इत्याह, तन्मयं हि तदेवेति संहरेदोमिति। 'तत्' सच्चिदानन्दरूपं तुरीयं ब्रह्म तन्मयं ह्येदं सर्व्वं पटः सन् पटः संवित् पटः सुखमित्यादि-प्रकारेण तदनुगमदर्शनात्। 'हि' यस्मात् एवं तस्मिन्नध्यस्तं सर्व्वं तस्मात्तदेवेति युक्तितो निर्धार्य्य ओमित्यात्मानं प्रतिपाद्य सर्व्वं स्वात्ममात्रतया संहरेदित्यर्थः। ओमिति तुरीयप्रतिपत्त्या तत्राध्यस्तं सर्व्वं तावन्मात्रतया विलापयेन्मन्द इतिभावः।

तं वा एतं त्रिशरीरमात्मानं त्रिशरीरं परं ब्रह्मानुसन्दध्यात्।

नन्वस्य सर्व्वस्य कथं त्रिशरीरत्वम्, कथं वा तुरीये आरोपितत्वेन तावन्मात्रत्वम्, कथं वा अस्योङ्कारोच्चारणमात्रेण तुरीयप्रतिपत्त्या लयः, इत्याकाङ्क्षायां तत्प्रतिपादनाय तं वा एतमित्याद्यारभ्य एष वीरो नृसिंह एवेत्यन्तो ग्रन्थ आरभ्यते। तत्र तावदवयवसर्व्वस्य त्रिशरीरत्वमाह, तं वा एतं त्रिशरीरमात्मानं त्रिशरीरं परं ब्रह्मानुसन्दध्यादिति। तमिति परमात्मानं परामृश्य वैशब्देन तं स्मारयित्वा स एवायं प्रत्यगात्मेत्याह, एतमिति। एवमात्मनः पारमार्थिकं रूपमभिधाय तस्यैव काल्पनिकं नियम्यरूपं शरीरत्रयात्मकं नियन्तुः शरीरत्रयेणाभिन्नं प्रतिपत्तव्यमित्याह, त्रिशरीरमित्यादिना। स्थूल-सूक्ष्म-सौषुप्त-शरीरैरात्मनस्त्रिशरीरत्वं, तदभिमानित्वेनायमात्मा विश्व-तैजस-प्राज्ञ-नामा भवति। 'तम्' एवं त्रिशरीरमात्मानं त्रिशरीरं परं ब्रह्म 'अनुसन्दध्यात्' अनुचिन्तयेत्। विराड्-हिरण्यगर्भाव्याकृत-शरीरैर्ब्रह्मणस्त्रिशरीरत्वं तदुपहितञ्च ब्रह्म वैश्वानर-सूत्रेश्वर-शब्दैरभिलप्यते। यद्यपि त्रितयं सर्व्वं जीवस्य ब्रह्मणश्च शरीरं तथापि समष्टि-शरीरत्रय-ब्रह्माभिव्यक्त्यतिशयात् तत्त्रयं नियन्तुर्ब्रह्मण इत्युच्यते। नियन्तुर्हि नियम्यमात्रशरीरं श्रुतम्, 'यस्य सर्व्वाणि भूतानि शरीरम्' इत्यादिना। जीवस्य च सर्व्वशरीरत्वं वक्ष्यति, 'सर्व्वे जीवाः सर्व्वमयाः' इति। तस्मादीशस्य यथा यस्मिन् शरीरे स्वातन्त्र्यं तद्वत्तदभिन्नस्यात्मनोऽपि तत्र स्वातन्त्र्यं परिज्ञातमेव।

स्थूलत्वात् स्थूलभुक्त्वाच्च सूक्ष्मत्वात सूक्ष्मभुक्त्वाच्चैक्यादानन्दभोगाच्च सोऽयमात्मा चतुष्पाज्जागरितस्थानः स्थूलप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुक् चतुरात्मा विश्वो वैश्वानरः प्रथमः पादः। स्वप्नस्थानः सूक्ष्मप्रज्ञः (१) सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः सूक्ष्मभुक् चतुरात्मा तैजसो हिरण्यगर्भो द्वितीयः पादः।

जीवेश-शरीरैक्यमवगन्तव्यम्। स हि प्रतिबोध-वाक्चतुष्टयार्थरूपं शरीरत्रयं सृजति स्थापयति संहरति च; तत् कथमस्य तत् पारतन्त्र्यं, कथं त्रिशरीरस्यास्य परिच्छिन्नस्यापरिच्छिन्न-त्रिशरीरब्रह्मणैक्यं प्रतिपत्तुं शक्यते गुणैरित्याह, स्थूलत्वात् स्थूलभुक्त्वाच्च सूक्ष्मत्वात् सूक्ष्मभुक्त्वाच्चैक्यादानन्द-भोगाच्चेति। तत्र स्थूलत्वादिति स्थूलविराजोरुपाध्यंशयोरेकत्वे सामान्यं स्थूलभुक्त्वादिति विश्व-वैश्वानरयोरुपहितयोः। एवमुत्तरयोरपि पदद्वयं योज्यम्, तुरीयस्य तु साक्षिणः साक्षित्वादेवैकत्वं द्रष्टव्यम्। वक्ष्यति च साक्षित्वाच्चेति। एवं व्यष्टि-समष्ट्यैक्योपपादनेन सर्व्वस्यापि जगतस्त्रिशरीरत्वं प्रतिपाद्य प्रणवोच्चारणमात्रेण सर्व्वप्रपञ्चलय-पूर्वकं तद्विलक्षणे ब्रह्मण्यवस्थानं दर्शयितुं चतुर्मात्रात्मकेन प्रणवेन यथोक्तस्य परापरस्यात्मन एकत्वं प्रकारेणापि दर्शयितुं तस्य चतुष्पात्त्वं चतुरंशत्वञ्चाह, सोऽयमात्मा चतुष्पा-

१ क, ग, स्वप्नस्थानोऽन्तः सूक्ष्मप्रज्ञः।

दिति। 'सोऽयम्' इति परापररूप इत्यर्थः। कथं चतुष्पात्त्वमित्याह, जागरितस्थान इत्यादिना। स्थूलविषया प्रज्ञा अस्येति स्थूलप्रज्ञः। द्यौर्मूर्ध्वा चक्षुरादित्योऽग्निर्मुखं प्राणो वायुर्देहं मध्यमाकाशो वस्तिः समुद्रः पृथिवी पादाविति सप्ताङ्गान्यस्य नामरूपात्मना तद्व्यापकस्येति सप्ताङ्गः। वाक्-श्रोत्र-प्राण-मन-आदीनि साधिदैवतानि नामरूपाश्रया क्रिया साराण्येकोनविंशति-सङ्ख्यानि मुखानि चोपलब्धिद्वाराण्यस्येत्येकोनविंशतिमुखः। 'स्थूलान्' विषयान् प्राधान्येन 'भुङ्क्ते' स्वात्मसात् करोतीति स्थूलभुक्। चत्वार आत्मानोऽस्येति चतुरात्मा, जाग्रदाद्यभिमानिनः स्थूल-सूक्ष्म-कारण-साक्षि-लक्षणाश्चत्वार आत्मानः प्रसिद्धाः, अन्यथा व्यवहारायोगाच्च। विश्व-वैश्वानर इति समष्टिव्यष्ट्यात्मनोरेकत्वमुक्तम्। प्रथमः पादः। एतत्पूर्वकत्वादुत्तर-पादाद्यधिगमस्य संहारक्रमे स्वप्नस्थानः सूक्ष्मप्रज्ञ इति सूक्ष्मरूपवासनाविषया अस्य प्रज्ञेति अङ्गमुखयोरपि वासनारूपत्वमेवात्र बोद्धव्यम्। स्वप्नेऽपि वासनामययोः स्थूल-सूक्ष्मयोः प्रतीयमानत्वाच्चतूरूपत्वं रूपं न विरुध्यते त्रिष्वपि स्थानेषु, तत्त्वाप्रतिबोध-लक्षणस्य स्वापस्य तुल्यत्वात्।

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति, तत् सुषुप्तं, सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखश्चतुरात्मा प्राज्ञ ईश्वरस्तृतीयः पादः।

पूर्वाभ्यां सुषुप्तं विभजते, यत्र सुप्त इति, प्राप्तविषय-भोग-काले कस्यापि कामस्याभावात्। तत्काल-व्याहृत्यर्थमाह, न कञ्चन स्वप्नमिति। स्वप्नशब्देनान्यथाग्रहणमात्रं विवक्षितम्। यत्र न कञ्चन स्वप्नं पश्यतीत्येवोक्ते कामकालेऽपि विषयान्यथाभाव-लक्षणस्य स्वप्नदर्शनस्याभावात्तद्व्याहृत्यर्थं यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते इत्युक्तम्। तृतीयं पादमाह सुषुप्तस्थान इत्यादिना। असत्कार्य्यवादस्यायुक्तत्वाद्विद्यमानमप्यत्र सप्ताङ्गत्वमेकोनविंशति-मुखत्वञ्च न पृथक् समावाद्विभाव्यते इत्याह, एकीभूत इति। किमात्मकोऽसावेकीभाव इत्याकाङ्क्षायां सन्मात्ररूप-प्रज्ञानात्मक इत्याह, प्रज्ञानघन एवेति। जाग्रदादिप्रज्ञा सविषया एकीभूतेयमवस्थेत्यर्थः। अतएव विशेषविज्ञानायाभासाभावात् 'आनन्दमयः' आनन्द-प्रायः नानन्द एव दुःखवीजस्य विद्यमानत्वात् अनेन सच्चिदानन्दाभासग्रस्तात्मसुख-सन्मात्ररूप-ब्रह्मज्ञानात्मक-सामान्यशरीरेऽन्तः-प्रवेशोपायः प्रदर्शितः। विश्वतैजसयोरिवास्यापि भोग्यमाह आनन्दभुगिति। विषयदर्शन-व्यग्रतया हि इतरयोरवस्थयोः परमानन्दानुभवाभावः। ततोऽत्र तदभावात्। स्वाभाविकपरमानन्दभोग उपपन्नः प्रज्ञानघनरूपोऽयं सौषुप्तश्च आत्मेति। कथमवगम्यते इति चेत् स्वप्न-जाग्रत्-प्रज्ञा-कारणत्वादित्याह, चेतोमुख इति। जाग्रदाद्यवस्था चेतसां कारणभूत इत्यर्थः। सूक्ष्म-स्थूलयोरपि घनरूपेण विद्यमानत्वादस्यापि चतूरूपत्वं स्यात् न ह्यसतः सम्भव उपपन्नः, तत्र सर्व्वं घनीभूतं विद्यते चेत् किमिति सर्व्वं न जानातीति चेत्, न। येन सन्मात्र-

रूपेण सर्व्वस्यापि विद्यमानत्वं तदात्मना सर्व्वं जानात्येवेत्याह, प्राज्ञ इति। प्राज्ञस्य समष्ट्यभिमानिना ऐक्यमाह, ईश्वर इति।

एष सर्व्वेश्वर एष सर्व्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्व्वस्य, प्रभवाप्ययौ हि भूतानां त्रयमप्येतत् सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रं चिदेकरसो ह्ययमात्मा, अथ चतुर्थश्चतुरात्मा तुरीयावसित-त्वादेकैकस्योतानुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्पैस्त्रयमात्रापि सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रं चिदेकरसो ह्यथायमादेशो न स्थूलप्रज्ञं न सूक्ष्मप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं न प्रज्ञानघन-मदृष्ट-मव्यवहार्य्य--मग्राह्य--मलक्षण-मचिन्त्य-मव्यपदेश्य-मेकात्म-प्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शिवं शान्तमद्वैतं मन्यन्ते। स एवात्मा स एव विज्ञेय ईश्वरग्रासस्तुरीयस्तुरीयः। प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥

सर्व्वेश्वरत्वादिकमपि धर्म्मजातं सापेक्षत्वात् वीजस्यैव प्राज्ञस्य सम्भवति न तु निर्व्वीजस्य तुरीयस्येत्यत आह, एष सर्व्वेश्वर इत्यादि। सर्व्वयोनित्वे हेतुमाह, प्रभवाप्ययौ हि भूताना-मिति। एवं पादत्रयमात्मन्यारोप्य तस्याज्ञान-मिथ्याज्ञानरूप-त्वेनावस्तुत्वमाह, त्रयमप्येतत् सुषुप्तं स्वप्नमिति। जाग्रदादिक-मेतत् त्रयमपि सुषुप्तम्। न ह्यत्र किञ्चिदपि वस्तु विज्ञायते

तत्त्वेन मूढैः । स्वप्नरूपञ्चैतत्त्रयम्, अन्यथा ज्ञानरूपत्वात्, तात्पर्य्यार्थमाह, मायामात्रमिति । तत्र हेतुमाह, चिदेकरसो ह्ययमात्मेति । न हि चिदेकरसस्यात्मनो मायाव्यतिरेकेणोक्त-वैचित्र्यं सम्भवतीत्यर्थः । तुरीयपादस्यापि सोपक्रमं चतूरूपत्व-माह, अथ चतुर्थश्चतुरात्मेति । चतुर्णामप्यात्मनां कथं तुरीयत्वं सम्भवतीत्यत आह, तुरीयावसितत्वादेकैकस्येति । 'एकैकस्य' रूपस्येत्यर्थः । कैरूपैस्तुरीयस्य चतूरूपत्वमित्यत आह, ओतानुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्पैरिति । अविकल्पैरिति पदच्छेदः । ओतादीनां स्वरूपमुत्तरत्र वक्ष्यति । ननु चतूरूपत्वे तुरीयस्यानेक-रसत्वं स्यादिति चेत्, न, रूपत्रयस्य कारण एवान्तर्भावादित्याह, त्रयमात्रापीत्यादिना । अत्रापि तुरीयपादे त्रयमोतानुज्ञात्रनुज्ञा-लक्षणं सुषुप्तस्थलमित्युक्तार्थम् । अयं भावः । सच्चिदानन्दरूपस्य कारण-साक्षिणः सदादिरूपैः कारणव्याप्ति-चिन्तनमोतयोगो नाम, तेन व्याप्तस्य कारणस्य स्वतः सत्ताद्यभावात् तदधीन-सत्ताप्रकाशकत्वेन तस्मिन्नध्यस्तं तदितिचिन्तनमनुज्ञातृयोगो नाम । तस्मिन्नध्यस्तत्वात्तावन्मात्रमेतदिति चिन्तनमनुज्ञायोगो नाम । एतच्च योगत्रयमोतानुज्ञात्रनुज्ञारूपेणाविभक्तेन प्रणवेन कार्य्यम् । ओतमित्यत्र तकारे लुप्ते सत्योमिति भवति, तस्मादोतशब्द एवायमोङ्कारः, तस्मादोतत्वगुण-विशिष्टं ब्रह्म अनेन प्रतिपत्तुं शक्यम् । अनुज्ञातृत्वानुज्ञात्वयोरप्योङ्कारे प्रसिद्ध-त्वात् तद्गुण-विशिष्टमपि ब्रह्म अनेनैवाविभक्तेन तुरीयेण प्रति-पत्तुं शक्यते । एतच्च योगत्रयं कारणप्रतिव्यपेक्षमिति कारण एवान्तर्भवतीति त्रयमप्येतत् सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रमित्युक्तम् ।

तुरीयप्रधानत्वाच्चास्य योगत्वयस्य कारण-संहारकस्य तुरीयेप्यन्त-र्भावो विद्यते। तुरीय-प्रधाना हि तदा बुद्धिवृत्तिर्भवति। ततस्तुरीयपादत्वमपि न विरुध्यते इति। एवं तुरीयपादत्रयस्य मिथ्यात्वमभिधाय पारमार्थिकं तुरीयस्य चतुर्थं रूपं निर्विशेष-मिति। विशेष-प्रतिषेधमुखेनैवोपदेष्टुं शक्यत इत्याह, अथाय-मादेश इति न स्थूलप्रज्ञमिति। जाग्रदवस्था-तदभिमानि-तद्भेदानां निषेधः। न सूक्ष्मप्रज्ञमिति, स्वप्नादेः। नोभयतः प्रज्ञमिति, जाग्रत्स्वप्नयोर्मध्यस्य-निषेधः। न प्रज्ञमिति, सामान्य-ज्ञानस्य। नाप्रज्ञमिति अचेतनत्वस्य। न प्रज्ञानघनमिति सुषुप्तावस्थादेः, अतोऽदृष्टं चक्षुषा, कर्म्मेन्द्रियैरप्यव्यवहार्य्यम्। श्रोत्रादिभिरप्यग्राह्यम्, अतः 'अलक्षणम्' अलिङ्गम् अननु-मेयमित्यर्थः। केवल मनसाप्यचिन्त्यम्, अतः शब्दैरव्यपदेश्यम्। प्रमाणाभावान्नास्ति तर्हि तदिति नेत्याह, एकात्म-प्रत्ययसार-मिति। जाग्रदादिष्वेकोऽयमात्मेत्यव्यभिचारी सर्व्वप्राणिनां सूक्ष्मस्वाभाविकोऽकृत्रिमः प्रत्ययः सततोदितः तेन 'सारं' सर-णीयं तत्साधकत्वेन तदविषयतयानुसरणीयं तत्प्रमाणकमि-त्यर्थः। तथा 'प्रपञ्चोपशमम्' उपशान्त-प्रपञ्चम्, अतः 'शिवं' निरुपद्रव-सुखरूपम्। अतः 'शान्तम्' अविक्रियम्, अविक्रिय-त्वादि-धर्म्मवत्त्वमपि नास्तीत्याह, अद्वैतमिति। इत्येवं तुरीय-पादस्य चतुर्थं रूपं मन्यन्ते ब्रह्मविदः। एवं सर्व्वविशेष-विनिर्म्मुक्तं ब्रह्मात्मानमुपदिश्य मुमुक्षुं तज्ज्ञान एव नियमयति, स एवात्मा विज्ञेय इति। नन्वीश्वर एव विज्ञेयो नात्मा इत्याशङ्क्य ईश्वरस्यापि कारणात्मनः संहारकोऽयं ब्रह्मरूप आत्मा, तस्मात्

स एव परमेश्वरो ज्ञेय इत्याह, ईश्वरग्रास इति। 'ईश्वरम्'-अपि कारणात्मानं स्वासाधारणवृत्त्या रूढ़ः सन् ग्रसतीति ईश्वरग्रासः, यस्मात् तुरीय ईश्वरमपि ग्रसति तस्मात् तस्यैवात्मशब्दयोग्यता, तस्मात् स एवात्मा, तस्मात् स एव तुरीयः। तदनुभवार्थं एव प्रयत्नोऽनुष्ठेय इत्यर्थः। इत्युत्तरतापनीये प्रथमः खण्डः॥ १॥

तं वा एतमात्मानं जाग्रत्यस्वप्नमसुषुप्तं स्वप्ने जाग्रतमसुषुप्तं सुषुप्ते जाग्रतमस्वप्नं तुरीयेऽजाग्रतमस्वप्नमसुषुप्तमव्यभिचारिणं नित्यानन्दं सदैकरसं ह्येवम्।

यदुक्तं त्रयमप्येतत् सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रमिति। तत्सङ्ग्रहेण चिदेकरसो ह्ययमुपपादितम्, पुनरपि सहेतुकस्य तस्यैव विस्तरेण प्रतिपादनाय मात्रापादैक्यं प्रदर्श्य प्रणवोच्चारणेन सर्व्वसंहार-पूर्व्वकं विदुषस्तुरीयमात्ररूपत्व-दर्शनाय च खण्डान्तर-प्रारम्भः। तं वा एतमिति। अत्र प्रथममागमायायितदवध्य-न्वय-व्यतिरेकमाश्रित्यावस्थात्रय--व्यभिचारित्वेनाव्यभिचारिण्यात्मनि कल्पितत्वमाह, तमित्यादिना। तमित्युक्तं तुरीयं परामृश्यते। एतमित्यस्यैवावस्थात्रयानुगतिं दर्शयति अव्यभिचारित्वोपपादनाय। अथ जाग्रदादित्रयस्येतरेतर-व्यभिचारित्वं तुरीये सर्व्वव्यभिचारञ्च साधयति, जाग्रत्यस्वप्नमसुषुप्तमित्यारभ्य तुरीये अजाग्रतमस्वप्नमसुषुप्तमित्यन्तेन। 'तं' चतुष्पादं मात्राभिरोङ्कारेण चैकीकुर्य्यादित्युत्तरत्र द्वितीयान्तानां सर्व्वेषां पदानामन्वयः। आत्मनस्त्वनात्मवत् न व्यभिचारः सर्व्वकल्पना-

धिष्ठानत्वेन सर्व्वबाधावधित्वेन चेत्याह, अव्यभिचारिणमिति। उक्तान्वय-व्यतिरेकफलमाह, नित्यानन्दं सदेकरसं ह्येवमिति। एवं सति नित्यत्वमानन्त्यं परमार्थसत्त्वमेकरसत्वञ्चात्मनः सिद्ध-मित्यर्थः। अवस्थात्रयानुगमान्नित्यत्वम्, तद्व्यापकत्वादानन्त्यम्, व्यभिचारित्वेन कल्पितस्य सतः(१) परमार्थसद्रूपाधिष्ठानापेक्षत्वात् सत्त्वम्, कल्पितस्याधिष्ठान-व्यतिरेकेणाभावादेकरसत्वम्।

चक्षुषो द्रष्टा श्रोत्रस्य द्रष्टा वाचो द्रष्टा मनसो द्रष्टा बुद्धेर्द्रष्टा प्राणस्य द्रष्टा तमसो द्रष्टा सर्व्वस्य द्रष्टा; ततः सर्व्व-स्मादस्मादन्यो (२) विलक्षणः।

अथ द्रष्टृ-दृश्यान्वय-व्यतिरेकमाह, चक्षुषो द्रष्टेत्यारभ्य सर्व्वस्य द्रष्टेत्यन्तेन। 'चक्षुःश्रोत्राभ्यां' नाम रूपविषयाभ्यामवशिष्ट-मपि ज्ञानेन्द्रियत्रयं गृह्णाति। वाचा शब्दनिर्वर्त्तिकयाऽवशि-ष्टमपि कर्म्मेन्द्रियग्रहणम्। ज्ञानक्रियाशक्ति-समष्टिरूपाभ्यां तद्वृत्तिग्रहणम्। तम इति कारणमुक्तम्। उक्तानुक्तविषय-द्रष्टृत्वं संक्षिप्याह, सर्वस्येति। उक्तान्वय-व्यतिरेकफलमाह, ततः सर्वस्मादिति। ततो द्रष्टृत्वेन सर्वत्रान्वयाद्व्यभिचारिणो दृश्या-दन्यत्वम्, तस्माद्वैलक्षण्यञ्चात्मनो घट-द्रष्टृत्ववत् सिद्धमित्यर्थः। प्रथमान्तानाञ्चैषां पदानां द्वितीयान्तत्वेन परिणतानामुत्तरत्रैवा-न्वयः।

(१) ख, कल्पितस्यासतः।
(२) ग, सर्व्वस्मादन्यस्मादन्यो।

चक्षुषः साक्षी श्रोत्रस्य साक्षी वाचः साक्षी मनसः साक्षी बुद्धेः साक्षी प्राणस्य साक्षी तमसः साक्षी सर्व्वस्य साक्षी, ततोऽविक्रियो महाचैतन्योऽस्मात् सर्व्वस्मात् प्रियतम आनन्दघनं ह्येवम् ।

अथ साक्षि-साक्ष्यान्वय-व्यतिरेकमाह, चक्षुषः साक्षीत्यारभ्य सर्वस्य साक्षीत्यन्तेन । अस्यान्वय-व्यतिरेकफलमाह, ततोऽविक्रियो महाचैतन्य इति । ततः सर्वसाक्षित्वेनाविक्रियत्वं महत्त्वं चिद्रूपत्वञ्च सिद्धमित्यर्थः । दुःखि-परमप्रेमास्पदान्वय-व्यतिरेकमाह, अस्मात् सर्वस्मात् प्रियतम इति । पुत्रवित्तादेश्चक्षुःश्रोत्रादेश्च प्रियतमः, तच्छेषत्वेन हि तेषां प्रियत्वं न स्वतः, आत्मनस्तु स्वत एव प्रियत्वम् ; अतः परम-प्रेमास्पदत्वात् परमानन्दरूपोऽयमात्मेति । अस्यान्वय-व्यतिरेकस्य फलमाह, आनन्दघनं ह्येवमिति । द्वितीयाया उक्त एवान्वयः ।

अस्मात् सर्व्वस्मात् पुरतः सुविभात-मेकरसमेवाजरममर-ममृत-मभयं ब्रह्मैवाप्यजयैनं चतुष्पादं मात्राभिरोङ्कारेण चैकीकुर्य्यात् ॥

एवमन्वय-व्यतिरेक-चतुष्टयेन सच्चिदानन्दानन्तात्म-रूपत्वं प्रसाध्य सच्चिदादि-भेदेनानेकरसत्वमाशङ्क्य तद्व्युदासार्थमाह, अस्मात् सर्वस्मात् पुरतः सुविभातमेकरसमेवेति । 'अस्मात्' सच्चिदादि-वाच्यभेद-प्रत्ययात् 'पुरतः' पूर्वमेव सुष्टु विस्पष्टं

तन्निदसाचित्वेन भातोऽत्यनृतादि-विरुद्धरूपः आत्मा तथोक्तः, तत्फलमाह, एकरसमेवेति। एवं ब्रह्मलक्षण-लक्षितत्वा-ब्रह्मैवायमात्मेत्याह, अजर-ममर-ममृत-मभयं ब्रह्मैवेति। अमरमित्येकदेश-नाशप्रतिषेधः। अमृतमिति सर्वनाश-निषेधः। तस्मादभयं यद्ब्रह्म तदेवायमात्मेत्यर्थः। कथं तर्हि तस्य चतुष्पात्त्वमुक्तमित्यनाद्यविद्या-कल्पितं तदित्याह, अप्यजयैनं चतुष्पादमिति। ब्रह्मस्वरूपमप्येनम् 'अजया' अनाद्य-विद्यया मायया चतुष्पादम्, किमित्याह, मात्राभिरोङ्कारेण चैकीकुर्य्यादिति। 'मात्राः' अकाराद्याः 'ओङ्कारः' तास्वनुगतः ओतानुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्परूपः।

जागरितस्थानश्चतुरात्मा विश्वो वैश्वानरश्चतूरूपोऽकार एव(१) चतूरूपो ह्ययमकारः स्थूल-सूक्ष्म-वीज-साक्षिभि-रकाररूपैराप्तेरादिमत्त्वाद्वा।

कस्य पादस्य कया मात्रयैक्यमित्याह, जागरितस्थान इत्या-दिना। जागरितस्थानश्चतुरात्मा विश्वो वैश्वानर इत्युक्तानु-वादः। तस्य वैश्वर्य्यादिभेदेन चतुरात्मना अकारेणैक्यमाह, चतूरूपोऽकार एवेति। अकारस्य चतूरूपत्वमसिद्धमिति नेत्याह, चतूरूपो ह्ययमकार इति। कथं प्रसिद्धिरपीत्यत आह, स्थूल-सूक्ष्म-वीज-साक्षिभिरकाररूपैरिति। स्थूलादि-विमर्शरूप-वैखरी-मध्यमा-पश्यन्ती-पराख्य-वीज-विन्दु-नाद-शक्तिभिरकार-

(१) क, ख, चतूरूपोऽङ्कार एव।

रूपैरित्यर्थः। केन सामान्येनाकार-विराड़ात्मनोरेकत्वं निर्णीयत इत्याह, आप्तेरादिमत्त्वाद्वेति। अकारस्य तावत् सर्व्ववर्णव्याप्तिः प्रसिद्धा, विराजश्च विश्वरूपात्मत्वेन व्याप्तिः सिद्धैव, तेन व्याप्तिसामान्येन तावदेकत्वं प्रतिपत्तुं शक्यते। नामरूपात्मनोरकार-विराजोः स्थूलविमर्श-प्रकाशात्मनोरादिमत्त्वाद्वा सामान्यात् तयोरैक्यं फलविशेषकामस्य प्रतिपत्तव्यम्। मात्राणामादिरकारो विश्वश्च पादानाम्।

स्थूलत्वात् सूक्ष्मत्वाद्वीजत्वात् साक्षित्वाच्चाप्नोति ह वा इदं सर्वमादिश्च भवति, य एवं वेद। स्वप्नस्थानश्चतुरात्मा तैजसो हिरण्यगर्भश्चतूरूप उकार एव चतूरूपो ह्ययमुकारः स्थूल-सूक्ष्म-वीज-साक्षिभिरुकाररूपैरुत्कर्षादुभयत्वाद्वा स्थूलत्वात् सूक्ष्मत्वाद्वीजत्वात् साक्षित्वाच्चोत्कर्षयति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति, य एवं वेद। सुषुप्तस्थानश्चतुरात्मा प्राज्ञ ईश्वरश्चतूरूपो मकार एव चतूरूपो ह्ययं मकारः स्थूल-सूक्ष्म-वीज-साक्षिभिर्मकाररूपैर्मितेरपीतेर्वा। स्थूलत्वात् सूक्ष्मत्वाद्वीजत्वात् साक्षित्वाच्च मिनोति ह वा इद सर्व्वमपीतिश्च भवति, य एवं वेद।

एवं विश्वाकारयोः सामान्येनैकत्व-प्रतिपत्तौ साम्यद्वय-

मभिधाय विशेषेण रूपचतुष्टय-प्रतिपत्तावपि सामान्यातिरिक्त-क्रमेणाह, स्थूलत्वादित्यादिना। स्थूलादिबोधकं हि वैश्वर्य्यादिकं स्थूलादि-विमर्शरूपत्वात्, तद्वदेव स्थूलादिरूपमभ्यवगन्तव्यमित्यभिप्रायः, एवंविदोऽवान्तरफलमाह, आप्नोति ह वा इत्यादिना। परमफलं हि स्वरूपावस्थानमेव पादादिकल्पनायाः, 'आप्नोति' प्राप्नोति 'ह वै' एव 'इदं सर्व्वं' भोग्यजातम्, 'आदिः' प्रधानश्च भवति, 'एवम्' उक्तमेकत्वं वेद स्वप्नस्थान इत्यादिना। तैजसोकार-तद्रूपाणामेकत्वमाह, उत्कर्षादुभयत्वाद्देति। तैजसोकारयोः सामान्येनैकत्व-प्रतिपत्तौ कारणद्वयमुक्तम्। अकारादुत्कृष्ट ऊर्द्धमात्रकृष्ट एव ह्युकारः प्रणवोच्चारणे दृश्यते, तैजसश्च विश्वात् स्वप्नादिष्वकारादुत्कृष्टः उत्तमो वा उकारः व्याप्त्यतिशयात् बलातिशयाच्च अकारस्थानं कण्ठव्याप्त्यातिक्रम्य ओष्ठस्थाने हि स्थितस्याभिव्यक्तिः, ततोऽकारादपि व्याप्तत्वेनोत्तम उकारो विराज इव हिरण्यगर्भो बलातिशयवत्त्वञ्च स्वरप्रयत्न-व्यङ्ग्यत्वात् प्रणवस्योकारस्य मन्दप्रयत्न-व्यङ्ग्यमकारमपेक्ष्य भवति। उभयत्वञ्च मध्यमत्वमुभयोः समानम्। एवं विदः फलमाह, उत्कर्षयति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति य एवं वेदेति। 'उत्कर्षयति' वर्द्धयतीत्यर्थः। 'समानः' तुल्यश्च भवति शत्रुपक्षस्याप्यप्रद्वेष्यो भवतीत्यर्थः। सुषुप्त इत्यादिना प्राज्ञमकारयोरेकत्वमाह, मितेरपीतेर्वेति। एकत्वे सामान्यकथनम्, 'मितिः' मानं मीयेते इव हि विश्वतैजसौ प्राज्ञेन प्रलयोत्पत्त्योः प्रवेश-निर्गमाभ्यां प्रस्थानेवयवाः। तथा ओङ्कारसमाप्तौ पुनः पुनः प्रयोगे च प्रविश्य निर्गताविवाकारोकारौ मकारे। 'अपीतिः'

अप्यय एकीभावः ओङ्कारोच्चारणे व्यक्षरे एकीभूताविवाकारो-कारौ तथा सुषुप्ते प्राज्ञे विश्व-तैजसौ। एवं विदः फलमाह, मिनोतीत्यादिना। 'मिनोति'-इति जाग्रदादि याथात्म्यं जानाती-त्यर्थः। 'अपीतिश्च' जगत्कारणात्मा च भवति प्रतिज्ञातपाद-त्रयस्य मात्रात्रयस्य च स्वात्मन एवोत्पत्तिं स्वात्मन्येव स्थितिं लयञ्च स्वात्मनस्तत्प्रवेशित्वं तन्नियन्तृत्वञ्च जानाति।

मात्रामात्राः प्रतिमात्राः कुर्य्यात्। अथ तुरीय ईश्वर-ग्रासः स्वराट् स्वयमीश्वरः स्वप्रकाशश्चतुरात्मोतानुज्ञात्रनु-ज्ञाऽविकल्पैरोता ह्ययमात्मा यथेदं सर्वमन्तकाले कालाग्निः सूर्य्योऽस्रैः।

एवंविदकारस्योत्मरूप-विराड्वाचकत्वेन तदुच्चारणकाले तद्दृत्त्या रूढ़ं कारणात्मानमीश्वरं सञ्चिन्त्य हिरण्यगर्भं ताव-न्मात्रतया संहृत्य स्वयमीश्वरात्मा भवेदित्याह, मात्रामात्राः प्रतिमात्राः कुर्य्यादिति। 'मात्राः' अकाराद्याः 'प्रति-मात्राः' उकाराद्याः, अकारस्य प्रतिमात्रा उकारः तत्प्राति-लोम्येन तत्संहारकत्वेन स्थितत्वात्। उकारस्य मकारः प्रति-मात्रा, मकारस्य तुरीयः प्रणवः प्रतिमात्रा। अथ ईश्वररूप-कारण-संहारार्थं तुरीयं पादं मत्वाह, अथ तुरीय इत्यादिना। 'ईश्वरं' कारणात्मानं ग्रसतीति ईश्वरग्रासः। ननु तमप्यन्यो ग्रसि-ष्यतीति न तत्प्राप्तिरपि पुरुषार्थ इति चेत्, न, तद्ग्रासन-सम-र्थस्यान्यस्याभावादित्याह, स्वराडिति। नन्वीश्वरग्रासोऽनीश्वरोऽ

समर्थः स्यादिति नेत्याह, स्वयमीश्वर इति। सापेचं हीतरस्येश्वरस्यैश्वर्यम्, अतोऽनीश्वर एव सः, अयन्तु तुरीयः स्वयमेवेशितव्यमनपेच्यैवेश्वरः स्वतन्त्र इत्यर्थः। न ह्यस्य सच्चिदानन्दरूपस्य नित्यस्य तुरीयस्य सत्तायां स्फूर्त्तौ पुरुषार्थत्वे वा किञ्चिदपेच्यमस्तीति स्वातन्त्र्यमस्य सिद्धम्। तत्साधकं किमपि प्रमाणमपेचणीयमिति चेत्, न, स्वप्रकाशत्वादित्याह, स्वप्रकाश इति। तुरीयस्यापि विश्वादिवत्तद्रूपत्वमुक्तमनुवदति प्रतिपादयितुम्, चतुरात्मोतानुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्पैरिति। तत्र श्रोतत्वं व्यापकत्वं सदृष्टान्तमुपपादयति, ओताहीत्यादिना। यथा कालाग्नि-सूर्य्यौ प्रलयकाले स्वात्ममात्रतया सर्व्वं संहर्तुं प्रवृत्तौ उच्चैः स्वदीप्तिभिः सर्व्वं सवाह्याभ्यन्तरं व्याप्नुतः, तद्वत्तुरीयात्मा सच्चिद्रश्मिभ्यां कारणं स्वात्ममात्रतया सर्व्वं संहर्तुं व्याप्नोतीत्यर्थः।

**अनुज्ञाता ह्ययमात्मा अस्य (१) सर्वस्य स्वात्मानं ददाति दर्शयति (२) इदं स्वात्मानमेव करोति, यथा तमः सविता, अनुज्ञैकरसो ह्ययमात्मा चिद्रूप एव, यथा दाह्यं दग्ध्वा अग्निरविकल्पो ह्ययमात्मा अवाङ्मनोगोचरत्वाच्चिद्रूपः।**

अनुज्ञातृत्वमप्युपपादयति, अनुज्ञाता हीति। कस्य किमनुजानातीत्यत आह, अस्येति। इदं हि सर्व्वं सच्चिद्रूपेणोतत्वा-

(१) ग, यस्य।

(२) ग, यदिदं सर्व्वमिदं दर्शयति।

द्व्यतिरेकेण निरात्मकं निरूपणायां व्यवहारे च घटसत्ते-त्यादिप्रकारेण स्वतः स्वात्मकमिव भवति। न च स्वतः सदादि-रूपेणात्मना स्वात्मप्रदाने तस्यैव भानं सम्भवति, ततस्तद-पेक्षितं स्वात्मानं ददाति, यथा रज्जुः सर्पस्येत्यर्थः, तर्हि तुरीयस्य नामत्वप्रसक्तिरिति चेत्, न, यतो न तथात्मानं ददातीत्याह, इदं स्वात्मानमेव करोतीति। स्वात्मन्यध्य-स्ततया स्वात्मना स्वात्मकमिव भासयतीत्यर्थः। तत्र दृष्टान्त-माह, यथा तमः सवितेति। यथा नक्तं दृष्टां सवित-र्य्यध्यस्तं तमः सविता स्वात्ममात्रमेव करोति तद्वदित्यर्थः। अनुज्ञात्वमुपपादयति, अनुज्ञैकरस इति। किं तदनुज्ञैकरस-त्वमिति तदाह, चिद्रूप एवेति। दृष्टान्तमाह, यथेति। यथा खलु प्रज्ञतः कालाग्निः सर्व्वं दाह्यं दग्ध्वा स्वयं शेषो भवति, एवं स्वात्मन्यध्यस्तं कारणं स्वात्मतावन्मात्रमिति बुद्ध्वा आत्मा चिदेकरसो भवतीति नानुज्ञात्वमस्ति, किन्तु अनुज्ञात्वं चिन्मात्र मेवास्य विद्यते इत्यर्थः। अविकल्परूपत्वमुपपादयति, अविकल्पो हीति। तत्र हेतुमाह, अवाङ्मनो-गोचरत्वादिति। किं रूपो-ऽसावविकल्प आत्मेति तदाह, चिद्रूप इति।

**चतूरूप ओङ्कार एव चतूरूपो ह्ययमोङ्कारः ओतानुज्ञा-त्रनुज्ञाऽविकल्पैरोङ्काररूपैरात्मैव नामरूपात्मकं हीदं सर्वं तुरीयत्वाच्चिद्रूपत्वाद्वा ओतत्वादनुज्ञातृत्वादनुज्ञात्वादवि-कल्परूपत्वाच्चाविकल्परूपं हीदं सर्वम्, नैव तत्र काचन भिदास्ति।**

एवं तुरीयस्यात्मनश्च स्वरूपत्वमुपपाद्य तस्य चतूरूपेण तुरीयप्रणवेनैक्यमाह, चतूरूप ओङ्कार एवेति। ओङ्कारस्य चतूरूपत्वमसिद्धमिति नेत्याह, चतूरूपो ह्ययमोङ्कार इति। कैरूपैश्चतूरूपत्वमित्यत आह, ओतानुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्पैरोङ्कार-रूपैरिति। आत्मनो ह्युक्तप्रकारेणोतादिरूपत्वं सम्भवति। ओङ्कारस्य तु कथमोतादिरूपत्वमित्याशङ्क्य आत्मनश्चतूरूपत्ववत् तद्वाचकस्याप्योङ्कारस्य तदभ्युपगन्तव्यमित्याह, आत्मैवेति। आत्मवदोङ्कारोऽप्योतादिभिश्चतुरात्मेत्यर्थः। अस्तु उक्तप्रकारा-त्मनस्तुरीयस्य चतूरूपत्वं तद्वाचकस्य तु मा भूदिति चेत्, न, वाचकस्य चतूरूपत्वाभावे वाच्यस्य चतूरूपत्व-प्रत्ययमर्शानुपपत्ते-स्तदभावप्रसङ्गात् तद्विमर्शे तु स एव विमर्शो वाचक ओङ्कार-इत्योङ्कारस्यापि नाम्नो रूपात्मकवाच्यवच्चतूरूपत्वं सिद्धमित्याह, नामरूपात्मकं ह्येदं सर्व्वमिति। नामरूपयोः परस्पराविनाभावा-देकस्य चतुरात्मत्वे सिद्धेऽन्यस्यापि तत् सिद्धमेवेत्यर्थः। एवं वाच्य-वाचकयोश्चातुर्व्विध्यमुपपाद्य तयोरैक्ये सामान्यद्वयमाह, तुरीयत्वाच्चिद्रूपत्वाद्वेति। रूपाणामैक्ये सामान्यान्याह, ओतत्वा-दित्यादिना। ओतादिरूपाणि क्रमेणाविकल्प-विलापनीयानी-त्याह, अविकल्परूपं ह्येदं सर्व्वमिति। पूर्व्वत्र प्राप्तो वाच्य-वाचकरूपो भेदाविकल्पेनास्तीत्याह, नैव तत्र काचन भिदा-स्तीति।

अथ तस्यायमादेशो ऽमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोप-शमः शिवोऽद्वैत ओङ्कार आत्मैव, संविशत्यात्मनात्मानं, य एवं वेद, एष वीरः।

न चेत्तत्र वाच्य-वाचक-भेदोऽस्ति, कथं तर्हि तस्योपदेश इतरान्यप्रतिषेध-मुखेनेत्याह, अथ तस्यायमादेश इति। पूर्व-मपि निषेधमुखेन तुरीयोपदेश-प्रकार उक्तः, तत्र वाच्यप्रति-षेधप्राधान्येनोपदेशः, इह तु वाचकनिषेध-प्राधान्येनेति विशेषः। उपदेश-प्रकारमाह, अमात्र इत्यादिना। 'अमात्रः' मात्रा अस्य न विद्यते इत्यमात्रः 'चतुर्थः' तुरीय ओङ्कारोऽत्र विशेष्यते अमात्रादि-विशेषणैः, अमात्रत्वादनुच्चार्य्य इत्याह, कुतोऽमात्र इति, उपदेशान्त-वाच्यवाचक-प्रपञ्चत्वादित्याह, प्रप-ञ्चोपशम इति, अत एव शिवः। अव्यवहार्य्यत्वादि-धर्मोऽप्यस्य नास्तीत्याह, अद्वैत इति। यस्मादेवंविधोऽयमोङ्कारः तस्मात् तुरीय आत्मैवायमित्याह, ओङ्कार आत्मैवेति। एवं विदः फल-माह, संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेदेति। 'आत्मना' स्वेनैव प्रणवरूपेण 'आत्मानं' स्वमेव प्रविशतीत्यर्थः। एवं प्रतिपत्तुर्न पुनः संसार-परिभव इत्याह, एष वीर इति।

**नारसिंहेनानुष्टुभा मन्त्रराजेन तुरीयं विद्यात्, एष ह्यात्मानं प्रकाशयति, सर्वसंहारसमर्थः परिभवासहः प्रभु-र्व्याप्तः सदोज्ज्वलोऽविद्यातत्कार्य्यहीनः स्वात्मबन्धहरः,**

एवं तुरीयप्रणवेन तुरीयप्रतिपत्तिमभिधाय मन्दस्य नृसिं-हानुष्टुभापि तुरीयं प्रतिपत्तव्यमित्याह, नारसिंहेनानुष्टुभा मन्त्रराजेन तुरीयं विद्यादिति। ननु तुरीयवाचकेन मन्त्र-राजेन कथं तत्प्रतिपत्तिरित्याशङ्क्य तस्य तद्वाचकत्वमाह,

एष ह्यात्मानं प्रकाशयतीति। अथवा मन्त्रस्य मन्त्रराजेन तुरीयप्रतिपत्तौ को विशेष इत्याशङ्क्याह, एष हीति। कथं मन्त्रराजस्य तुरीयवाचकत्वमित्याकाङ्क्षायां तत्प्रकार-दर्शनाय मन्त्रार्थमाह, सर्व्वसंहारसमर्थ इत्यादिना। तत्रोग्रमित्यस्य पदस्य तुरीयबोधकतां दर्शयन् तस्यार्थमाह, सर्व्वसंहार-समर्थ इति। न हि तुरीयादन्यस्य उग्रस्य सर्व्वसंहार-सामर्थ्यं सम्भवति; अतः संहार-सामर्थ्यवाचक उग्रशब्दः सर्वद्वैत-संहार-समर्थं तुरीयमेव लक्षणया प्रकाशयतीत्यर्थः। लोक-संहारसमर्थोऽपि मन्दप्रस्थानः कश्चित् संहार्य्यमसंहरन् दृष्ट इति तुरीयोऽपि तथा स्यादिति तस्यापि संहार-सामर्थ्यं न निर्ण्णेतुं शक्यमित्याशङ्कायां तद्व्यावर्त्तकत्वेन वीरमित्यपि पदमर्थतस्तुरीय-प्रतिपत्तौ विनियोजयति, परिभवासह इति। न लौकिकमन्दवदयं मन्दप्रस्थानः परिभवसहिष्णुः; अतः संहरत्येव सदा संहार्य्यमविद्यादिलक्षणं जगत्, ततश्च सामर्थ्य-मस्य निर्ण्णेतुं शक्यते इत्यर्थः। परिभवासहिष्णुरपि प्रति-बन्धसम्भवात् तन्न संहरतीत्याशङ्कायां तद्व्यावर्त्तकत्वेन महा-विष्णुमित्यत्र महत् पदमर्थतोऽवतारयति। प्रभुरिति। महा-प्रभुत्वात् न प्रतिबन्धुं शक्यते इत्यर्थः। समर्थस्य परिभवासहिष्णोः प्रतिबन्धहीनस्यापि सर्व्वत्र व्याप्त्यभावेन सर्व्वसंहर्त्तृत्वं न सम्भ-वतीत्यसावप्यनुपपत्तिरत्र नास्तीति वदन् विष्णुमिति पदमर्थतो-ऽवतारयति, व्याप्त इति। उक्तसामग्री-सद्भावेऽपि येन प्रमाणे-नाभिज्वलितः सन् सर्व्वं संहरति, तन्न संहर्त्तुं युक्तम् उपकारकत्वा-दित्याशङ्कायां निर्विकारत्वात् न प्रमाणसापेक्षमस्यापि ज्वलनं

किन्तु सर्व्वद्वैतविरुद्धं स्वप्रकाश-चिद्रूपत्वेन सदैवाभिज्वलितः सर्व्वदा संहृतः सकलद्वैतश्च परमार्थत इति वदन् ज्वलन्तमिति पदमवतारयति, सदोज्ज्वल इति। तथापि लौकिकसंहर्त्तुरसंहार्य्यं रक्षणीयञ्च स्वकार्य्य-करणादि दृष्टं तद्वत्तस्य स्वाभाविकमसंहार्यं किमप्यभ्युपगन्तव्यमित्याशङ्कायां नास्य लौकिक-पुरुषवदविद्या-तत्कार्य्ययोरहंममाभिमानोऽस्ति येनासंहार्य्यं तद्रक्षणीयं स्यात्; तस्मात् स्वमहिमस्थो निरपेक्षः सर्व्वमेवं संहरतीति वक्तुं सर्व्वतो मुखमितिपदमर्थतोऽवतारयति, अविद्यातत्-कार्य्यहीन इति। 'सर्व्वतः' सर्व्वत्र मुखं यस्य मुखशब्देनोपलब्धिरविद्या-तत्कार्य्यासंसृष्टप्रकाश उच्यते। अतः सर्व्वत्रोपलब्धिस्वरूप एवायं न विजातीयमसंहार्य्यं किमप्यस्तीति सर्व्वतो मुख-पदस्यार्थः। एवंरूपो महाप्रभुः किमर्थमतिदुर्बलं द्वैतजातं संहर-तीत्याकाङ्क्षायां स्वानर्थप्रतिभासहेतुत्वादिति वदन् नृसिंह-मिति पदमवतारयति, स्वात्मबन्धहर इति। नृगताविति धातो रूपेण नृशब्देन त्रिविधपरिच्छेद-रहित आत्मोच्यते। षिञ् बन्धने इति धातोः सिमिति तद्बन्धकमविद्यालक्षणं द्वैतम्। हमिति च तत्संहर्तृत्वमुच्यते; अतो नृसिंहपदस्य स्वात्मबन्धहा इत्यर्थोक्तिरुपपन्ना।

सर्वदा द्वैतरहित आनन्दरूपः सर्वाधिष्ठानः सन्मात्रो निरस्ताखिलाविद्या-तमोमोहो ऽहमेवेति। तस्मादेवमेवेम-मात्मानं परं ब्रह्मानुसन्दध्यादेष वीरो नृसिंह एव द्वितीयः खण्डः॥ २॥

नन्वेवं रूपत्वेऽप्येवं विवेकात् प्राग्यथा द्वैतं तत्परिभव-सहिष्णुत्वञ्च तथैव सर्व्वमस्तीत्याशङ्कायां न कदाचिदप्यस्य परमार्थतो द्वैतपरिभव इति वदन् भीषणपदमवतारयति, सर्व्वदा द्वैतरहित इति। न हि महास्फुरण-स्वभावमेनं तमः स्वनाश-भयात् कदाचिदपि परमार्थतः स्पृशति मध्याह्न-भास्करमिवेति भीषणपदस्यार्थ इति भावः। ननु सर्व्वद्वैतसंहारे सुखसाधना-भावादपुरुषार्थत्वं स्यादस्य; अतो न सर्वं संहर्त्तव्यमित्याशङ्क्य स्वत एव परानन्दानुभवरूपत्वमाह, भद्रपदेन आनन्दरूप इति। ननु नित्यस्य कारणस्यापि संहारे स्वात्मनोऽपि तत्प्रसङ्गः, अतो न संहरत्ययं सर्वमित्याशङ्क्याध्यस्तस्यात्माऽज्ञान-लक्षणस्य कारणस्य स्वाधिष्ठानज्ञानेन नाशोऽपि परमार्थसद्रूपमनध्यस्त-मबाधितं पूर्ववत् स्वमहिमस्थमेव भवतीति परिहरति, मृत्यु-मृत्युपदेन सर्व्वाधिष्ठान-सन्मात्र इति। पूर्वमृत्युशब्देन सततं मरणशीलं सर्व्वात्मकमज्ञानमुच्यते। द्वैतस्य संहर्त्ता मृत्युः सर्वदा मरणशीलमेवाज्ञानं नित्यकल्पितम्। अयन्तु तन्मृत्युत्वेन सर्वदा मृत एव, अतो तन्नाशेऽस्य न नाशप्रसङ्गः, किन्तु पूर्वमधि ष्ठानत्वेनोत्तरत्र बाधावधित्वेन सत्साक्षितयैवावशिष्यत इति। मृत्युमृत्युपदस्यार्थ इति भावः। यस्मादेवं सर्वसंहार-समर्थः परिभवासहो निष्प्रतिबन्धः सर्वसंहार्य्य-कवलीकरण-स्वभावो निर-पेक्षो रक्षणीयशून्यः स्वात्मबन्धहरो भयङ्करः परमानन्दानुभवः परमार्थसद्रूपोऽयमात्मेति नाविद्यालक्षणद्वैतमस्मिन् कदाचिदप्यु-पपद्यते; तस्मात्तदत्र कालत्रयेऽपि नास्तीति वदन् नमामीत्यस्या-र्थमाह, निरस्ताखिलाविद्यातमोमोह इति। अविद्येति विद्या-

विरोधित्व-कथनेन निवर्त्तयितुं शक्यतोक्ता, तम इति आच्छादकत्वेन निरसनीयत्वम्, मोह इति च विक्षेपहेतुत्वेन निरसनीयत्वमेवोक्तम्, 'अविद्यादिलक्षणम्' अनर्थकारणं नित्यमेव निरस्तं यस्मिन स तथोक्तः। नमामीत्यत्र नकारो निषेधार्थः, मा इति प्रमावाचकत्वेन परिपूर्णानन्द-संविद्रूप-तुरीयवाचकः, मीति तद्धिंसाकरं तदाच्छादन-विक्षेपकारणभूतमज्ञानमुच्यते; तस्मात् मीति हिंसाकरं नास्तीति नमामीतिपदस्यार्थ इति भावः। उक्तञ्च, "मीति हिंसाकरं नात्र तमोऽज्ञानादिलक्षणम्" इति। किं तर्हि अस्तीत्याकाङ्क्षायां तुरीयप्रत्यगात्मेवेति वदन् अहम्पदार्थमाह, अहमेवेतीति। एवकारोऽङ्कारप्रसङ्गेन प्राप्तद्वैतनिषेधार्थः। इति शब्दो मन्त्रव्याख्यान-समाप्त्यर्थः। अत्र मन्त्रव्याख्याने प्रथमयैव विभक्त्या व्याख्यातत्वात् मन्त्रस्य तुरीयप्रतिपत्ति-शेषत्वे द्वितीयार्थो विवक्षित इति केचिदाहुः। अपरे तु सप्तम्यर्थे द्वितीयामाश्रित्य नमामीति पदेन सम्बन्धमाहुः। उग्रं नमामीति हिंसाकरं नास्तीत्यादिप्रकारेण वार्त्तिककृद्भिस्तु द्वितीयान्तपदानां सप्तम्यर्थता स्वीकृतेति गम्यते। मीति हिंसाकरं नात्रेति सप्तमी-प्रयोगदर्शनात्। अतोऽग्रे वीरे महाविष्णौ मीति हिंसाकरं नेत्यादिप्रकारेण हि तस्यार्थो युज्यते। यस्मादुक्तेन प्रकारेणानुष्टुभस्तुरीय-प्रकाशकत्वं सिद्धं तस्मादुक्तेनैव प्रकारेणेमं प्रत्यगात्मानं तुरीयं परं ब्रह्माचार्य्योपदेशमनुजानीयादित्याह, तस्मादिति। एवं प्रतिपत्तुर्न पुनः संसारपरिभवइत्याह, एष वीर इति। कथं वीर इति नृसिंहत्वादित्याह नृसिंह एवेति।

इत्युत्तरतापनीये मात्राखण्डो द्वितीयः खण्ड ॥ २ ॥

तस्य च वै प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा सा प्रथमः पादो भवति, द्वितीया द्वितीयस्य, तृतीया तृतीयस्य, चतुर्थी ओतानुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्परूपा तया तुरीयं चतुरात्मानमन्विष्य चतुर्थपादेन च तया तुरीयेणानुचिन्तयन् ग्रसेत्।

तुरीयमात्रयानुष्टुभा च तुरीय-प्रतिपत्तिरभिहिता। अथेदानीं मात्राचतुष्टयमनुष्टुप्-पादचतुष्टयञ्च मिश्रीकृत्य विराड़ादिपादचतुष्टयस्योपासनं वक्तव्यमिति खण्डान्तरारम्भः। तस्येति। 'तस्य' ओमित्येतदक्षरमित्युक्त-प्रणवस्य 'या पूर्वा मात्रा' अकारः विराड़्वाचकः सा मात्रा अनुष्टुप्-प्रथमपादस्य विराड़र्थस्य उभयतः पूर्वोत्तरभागयोः विराट्-चिन्तनार्थं भवति; ततश्च अम् उग्रं वीरं महाविष्णुम् अमित्येवं मन्त्रोच्चारः सिद्धो भवति। अत्राकारो वीज-विन्दु-नाद-शक्त्यन्तः प्रयोक्तव्यश्चतुरात्मक-विराड़्-वाचकत्वात्। तस्य द्वितीया मात्रा उकारो हिरण्यगर्भार्थः, सा अनुष्टभो द्वितीयपादस्य हिरण्यगर्भार्थस्योभतः पूर्ववद्भवति। एवं तृतीया मात्रा मकार ईश्वरार्थोऽनुष्टुप्-तृतीयपादस्येश्वरार्थस्योभयतो भवति। या चतुर्थी मात्रा, का सा इत्याह, ओतानुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्परूपेति। तया तुरीयं पादमोतादिरूपैश्चतुरात्मानम् 'अन्विष्य' सञ्चिन्त्य अनुष्टुप्-चतुर्थपादेन च तमेव प्रतिपाद्य पुनश्च 'तया' पूर्वोक्त-तुरीयमात्रया तुरीयमन्विष्य 'तुरीयेण' स्वात्मना तावन्मात्रेणैवमनुचिन्तयन् सर्व्वं जगत् 'ग्रसेत्' विलापयेदित्यर्थः। अयं भावः। अमिति चतूरूपेणाकारेण चतूरूपं

विराजं प्रतिपद्य तमेवानुष्टुप्-प्रथमपादेन स्फुटं सञ्चिन्त्य पुनरप्य-मित्युच्चारयन्(१), अकाररूपं तं स्मृत्वा उमित्युच्चारयन्, हिरण्य-गर्भं सञ्चिन्त्य तत्र विराजं विलाप्य अनुष्टुब्-द्वितीयपादेनोकारेण च हिरण्यगर्भं भावयित्वा उमित्युच्चारयन्, हिरण्यगर्भं सञ्चिन्त्य मकारेणाव्याकृतं चिन्तयन् तत्र हिरण्यगर्भं विलाप्य अनुष्टुप्-तृतीयपादेन मकारेणाव्याकृतमेव भावयित्वा ओमिति नाद-कृत्वा ओतादिरूपेण प्रणवेन तद्रूपं तुरीयं सञ्चिन्त्य तत्राव्याकृतं विलाप्य अनुष्टुप्-चतुर्थपादेन च तमेव स्मृत्वा पुनरप्युक्तरूपेण विन्द्वादिसहितेन प्रणवेन तमेव चिन्तयन् स्वरूपस्थो भवेदिति।

तस्य ह वा एतस्य प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा पृथिव्यकारः सऋग्भिः ऋग्वेदो ब्रह्मा वसवो गायत्री गार्हपत्यः, सा प्रथमः पादो भवति। भवति च सर्वेषु पादेषु चतु-रात्मा स्थूल-सूक्ष्म-वीज-साक्षिभिः। द्वितीयान्तरिक्षं स उकारः सयजुर्भिर्यजुर्व्वेदो विष्णु-रुद्रास्त्रिष्टुब्-दक्षिणाग्निः, सा द्वितीयः पादो भवति। भवति च सर्व्वेषु पादेषु चतु-रात्मा स्थूल-सूक्ष्म-वीज-साक्षिभिः। तृतीया द्यौः स मकारः ससामभिः सामवेदो रुद्रादित्या जगत्याहवनीयः, सा तृतीयः पादो भवति। भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूल-सूक्ष्म-वीज-साक्षिभिः।

(१) ख, पुनरप्यमित्युचरन्।

पुनरपि प्रकारान्तरेण मात्रापादैमिश्रमेवोपासनमाह, तस्य ह वा एतस्येत्यादिना। का सा मात्रेत्याह, अकार इति। तस्योपासकप्रेप्सितेन विभूतिमाह, स पृथिवी। सह ऋग्भिः 'सहर्चिभिः' ऋग्मन्त्रैः सह ऋग्वेदः तद्व्याख्यानरूपं ब्राह्मणं स ब्रह्मा वसव इत्येवं सर्व्वत्रान्वयः। 'सा' मात्रा विराड्र्थी 'प्रथमः पादः' स्ववाच्यविराड्-रूपैव भवति, उभयोर्व्याप्त्यादिमत्त्वाद्यत्नू-रूपत्वसाम्यात् पृथिव्यात्मकस्याकारस्य न केवलं विराड्येवाव-स्थानम्, अपितु अवशिष्टपादत्रयेऽपीत्याह, भवति च सर्व्वेषु पादे-ष्विति। तत्रोपपत्तिमाह, चतुरात्मेति। चतुरात्मत्वमुपपादयति, स्थूलेत्यादिना। विश्वादीनां स्थूलादिरूपचतुष्टयं सम्भवात्मनः स्थूलादिरूपेऽन्तर्भाव्यमित्यर्थः। एवमुत्तरपर्य्यायेष्वपि योज्यम्।

यावसाने अस्य चतुर्थ्यर्द्धमात्रा सा सोमलोक ओङ्कारः, सोऽथर्वणैर्मन्त्रैरथर्व्ववेदः संवर्तकोऽग्निर्मरुतो विराडेक ऋषि-र्भास्वती स्मृता, सा चतुर्थः पादो भवति। भवति च सर्व्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूल-सूक्ष्म-वीज-साक्षिभिः। मात्रामात्राः प्रतिमात्राः कृत्वा ओतानुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्परूपं चिन्तयन् ग्रसेत्।

या 'अवसाने' वीजात्मिकाक्षरत्रयान्ते 'अस्य' प्रणवस्य 'चतुर्थी' तुरीया 'अर्द्धमात्रा' विन्द्वादिरूपा, अर्द्धं मात्राया अक्षरस्यार्द्ध मात्रापरस्येत्यर्द्धमात्रा, सा कारणं तुरीयस्यानुगतेति सुक्ष्मं पूर्व्वत। कालतो वार्द्धमात्रात्वं न स्वतः। सा 'सोमलोकः' उभया विद्यया

सम्हितस्य परमेश्वरस्य लोकः सोमलोकः, इतरस्य द्युलोकैक-देशत्वेन पृथक् ग्रहणायोगात् । का सा मात्रेत्याह, ओङ्कार इति । विन्द्वादीनां स्वयमनुच्चार्य्यत्वात् तेषां स्थाने पठितोऽय-मोङ्कारः । एक ऋषिर्मात्राथर्व्वणिकानामग्निः, सा च मात्रा भास्वती स्मृता; विन्द्वादिरूपत्वेन च तुरीयबोधकत्वाच्च । एवं समष्टि-व्यष्ट्यैक्यं सञ्चिन्त्य मात्रापादमिश्रोपासनया पूर्ववत् सर्व्वं क्रमेणोत्तरोत्तरं संहृत्य स्वात्मन्यवस्थातव्यमित्याह, मात्राऽमात्रा इत्यादिना ।

## ओऽमृतो कृतसंवित्कः प्रबुद्धः संविष्टो निर्विघ्न इम-मस्तुनियमेऽनुभूय इत्येदं सर्व्वं दृष्ट्वा(१) सुप्रपञ्चहीनः ।

अथ सानुष्ठान-क्रमन्यासार्च्चनादि-सहितमुपासनमाह, ओ-ऽमृत इत्यादिना । ओऽमृत इत्यादिना इहोपासनाक्रम उच्यते । अत उपासनापरस्य स्वर्ष्टाष्टकस्थार्थो गुरूक्तक्रमेण इहैवान्त-र्भाव्यः । प्रः सन्नमृतो भूत्वा कृतसंवित्कश्च सन् प्रबुद्धो भूत्वा संविष्टः सन् निर्विघ्नः सन् इममस्तुनियमेऽनुभूयेत्यादि क्रमेणा-न्वयो द्रष्टव्यो ओऽमृत इत्यादेः । तत्र प्रबोधसमये प्रबोधमन्त्रेण प्रणवेन वा निद्रासाक्षितया अनिद्रे ब्रह्मरूपे स्वात्मन्यवस्थानं कर्त्तव्यमित्याह, प्र इति । ओं नित्यप्रबुद्धाय परमात्मने नम इति प्रबोधमन्त्रः । पुनरमृतमयमूर्त्ति-मन्त्रेण प्रणवेनैव वा विद्या-मयी परमात्मनो मूर्त्तिरात्मत्वेनानुसन्धातव्येत्याह, अमृत इति । ओं विद्यादेहाय परमात्मने नम इति मूर्त्तिमन्त्रः पुनर्गत-

(१) ख, दृष्ट्वा ।

दिवसे कृतं तद्दिने करिष्यमाणञ्च ज्ञानक्रियात्मकं सर्व्वमपि व्यवहारजातं व्यवहारकाल एव संविन्मात्ररूपेणालोचितं परिपूर्ण-सच्चिदानन्दरूपे परमेश्वरे तत्पूजा-जप-होम-तर्पण-ध्यानादि-रूपेण समर्पणीयमित्याह, हुतसंविल्क इति। मन्त्रस्तु प्रणव एव। अथोत्थायावश्यक-शौचाचमन-दन्तधावन-मलस्नान-विधि-स्नानादिभिः शुद्धो भवेदित्याह, शुद्ध इति। पुनः सन्ध्योपासनादि-कर्त्तव्यस्य शुद्धे स्वासने समुपवेशः कर्त्तव्य इत्याह, संविष्ट इति। उपविष्टस्य गुर्वाद्यनुज्ञा-(१) पूर्वकमस्त्रेणाङ्गुली-कर-शोधन-तालत्रय-दिग्बन्धाग्निप्राकार-वेष्टनैर्विघ्ननिरासः कर्त्तव्य इत्याह, निर्विघ्न इति। पुनरोमित्येतदक्षरमिदं सर्वमित्युक्त-प्रणव-व्याप्त्यनु-सन्धानानन्तरमकारादि-व्यापकेनापरिच्छिन्न-शरीरस्य हंस इति परमात्मनि रचितबीजस्य भूतं भवदित्यादावुक्तप्रकारेण रेचक-पूरकाभ्यां संहृतसकलस्य कुम्भककाले स्वात्मानुभवः प्रणवेन कर्त्तव्य इत्याह, इममसुनियमे ऽनुवेतिभू। एवं शक्त्यनुसारेण प्राणायामं कृत्वा तमेतमात्मानमोमित्युक्त-प्रकारेण व्यतिहार-प्रतिपत्तिमनुज्ञा-प्रणवेनात्मानुसन्धानञ्च कृत्वा प्रणवमकारादि-व्यापकैरात्मनि शरीरचतुष्टयमुत्पादनीयमित्याह, इहेदं सर्वं इष्टेति। 'इह' प्रत्यगात्मनि 'इदं सर्वं' जगच्छरीर-चतुष्टय-रूपं 'इष्टा' स्रष्टा दृष्टिरेव हि सृष्टिरित्यर्थः। पुनस्तस्मिन्निदं सर्वं त्रिशरीरमित्युक्तप्रकारेण प्राणाग्निहोत्र-प्रपञ्चयाग-कर्त्तव्यता-माह, सुप्रपञ्चहीन इति। ओं त्वमिति चिदानन्दरूपं देवं सम्भाव्य चकाराद्यकारान्तां मातृकामुच्चारयन् तदात्मकं सर्वं जगच्चयशरीर-

(१) क ख, गुर्वाद्यज्ञा।

चतुष्टयं देवात् सच्चिदानन्दादुत्पन्नं(१) तन्मयं सम्भाव्य सोऽहं हंस इति जीवपरमात्मनोः परस्परमेकत्वं सम्भाव्य तस्मिन् अग्नौ स्वाहेति शरीर-चतुष्टयं विलापयेदिति प्राणाग्निहोत्रसङ्कल्पः। प्रपञ्चयागोऽप्येवमेव कार्य्यः। ओँ हमित्युक्त्वा अकारादि चकारान्तमभिधाय, हंसः सोऽहं स्वाहेति तु तत्र मन्त्र इत्येव विशेषः।

अथ सकलः साधारोऽमृतमयश्चतुरात्मा सर्व्वमयश्चतुरात्मा।

अथवा तं वा एतं त्रिशरीरमित्युक्तक्रमेण सकलीकरणन्यासः कर्त्तव्य इत्याह, अथ सकल इति। ओमिति तमेतमात्मानमोमिति ब्रह्मणैकीकृत्येत्यादिना पादखण्डोक्तक्रमेण ब्रह्मात्मनोः परस्परमेकत्वं पुनरपि प्रतिपाद्य तमेक-मजर-ममर-ममृत-मभय-मोमित्यनुज्ञा-प्रणवेनानुभूय शरीरचतुष्टय-सृष्ट्यर्थं वक्ष्यमाणैर्मन्त्रैः सकलीकरणं कुर्य्यात्। ओमिति शान्त्यन्तमुच्चार्य्य शान्तीतकलात्मने साक्षिणे नम इति व्यापयन्, साक्षिणं सञ्चिन्त्य प्रणवं शक्त्यन्तमुच्चार्य्य शान्ति-कला-शक्ति-परा-वागात्मने सामान्यदेहाय नम इति व्यापयन्, अन्तर्मुख-सदात्मक-ब्रह्मज्ञानरूपं सामान्यदेहं सञ्चिन्त्य प्रणवं नादान्तमुच्चार्य्य विद्या-कला-नाद-पश्यन्ती-वागात्मने कारणदेहाय नम इति व्यापयन्, प्रलय-सुषुप्तीक्षणावस्थं किञ्चिद्बहिर्मुख-सदात्मकं कारणदेहं सञ्चिन्त्य प्रणवं बिन्द्वन्तमुच्चार्य्य प्रतिष्ठा-कला-बिन्दु-मध्यमा-

(१) देवाच्चिदानन्दादुत्पन्नं।

वागात्मने सूक्ष्मदेहाय नम इति व्यापयन्, सूक्ष्मभूतान्तः-करण-प्राणेन्द्रियरूपं सूक्ष्मशरीरं कृत्वा प्रणवं मकारान्त-मुच्चार्य निवृत्ति-कला-बीज-वैखरी-वागात्मने स्थूलशरीराय नम इति व्यापयन्, पञ्चीकृतभूत-तत्कार्यात्मक-स्थूलशरीरं कुर्य्यादिति सकलीकरणन्यास-सङ्ग्रहः। एवं सृष्टमिदं शरीर-चतुष्टयं भग-वतः सपरिकरासन-मूर्त्तिरूपेण कल्पयता पीठमूर्त्तिन्यासौ कर्त्त-व्यावित्याह, साधारोऽमृतमय इति। 'आधारेण' पीठेन तदाधारेण च स्थानादिना सह वर्त्तते इति सपरिकर-पीठ-न्यासोऽनेनैव सूचितः। अमृतमय इति मूर्त्तिन्यासः 'अमृतम्' अनृत-जड़-दुःख-परिच्छेदादि-विरुद्धं सच्चिदानन्दानन्तात्म-पद-लक्ष्यं ब्रह्म, तन्मयः अन्तर्मुख-सदात्मनि ब्रह्मज्ञाने प्रतिबिम्बि-तानि यान्यनृतादि-विरुद्धानि रूपाणि सच्चिदानन्द-पूर्णात्म-पदानां वाच्यार्थरूपाणि इच्छा-ज्ञान-क्रिया-स्वातन्त्र्य-तच्छक्तीनां कारणानि तन्मय इत्यर्थः। एवं सति सच्चिदानन्द-पूर्णात्म-रूपिणी इच्छा-ज्ञान-क्रिया-स्वातन्त्र्य-सद्रूपिणी च परा शक्ति-र्भगवतो मूर्त्तिरित्युक्तं भवति। पीठादिकल्पना-प्रकारस्तूच्यते। ओँ चतुरशीतिकोटि-प्राणिजात्यात्मने ब्रह्मवनाय (१) नम इति व्यापयन् केशरोमादिकं वनत्वेन कल्पयेत्। ओँ पञ्चभूत-नाम-रूपात्मकेभ्यः प्राकारेभ्यो नम इति व्यापयन् पञ्चीकृत-पञ्चभूत-नाम-रूपात्मकान् सप्तधातून् सप्तप्राकारत्वेन कल्पयेत्। ओँ नवच्छिद्रात्मभ्यो नवद्वारेभ्यो नम इति व्यापयन् प्रति-

(१) ख, ब्रह्मवलाय।

प्राकारं गोपुर-नवकत्वेन नवद्वाराणि कल्पयेत्। एवं स्थूलशरीरं स्थानत्वेन परिकल्प्य सूक्ष्मशरीरं महाराजराजेश्वरस्यात्मनः परिचारकत्वेन कल्पयेत्। तथाहि संविद्रूपेभ्यो राजद्वारेभ्यो नमः। सकामाकामप्रवृत्तिभ्यो द्वारदेवताभ्यो नमः। काम-वैराग्याभ्यां द्वारपालाभ्यां नमः। दिगन्याद्यात्मक-श्रोत्रादीन्द्रिय-रूपेभ्यो राजपरिचारकेभ्यो नमः। चन्द्रात्मकाय मनसे राजदूताय नमः। ब्रह्मरूपिण्यै सर्व्वकार्य्य-निश्चयकर्त्र्यै बुद्ध्यै नमः। रुद्ररूपाय सर्व्वकार्य्याभिमानकर्त्रे हङ्काराय नमः। विष्णुरूपाय सर्व्वकार्य्यानुसन्धानकर्त्रे चित्ताय नमः। सर्व्वेश्वररूपाय सर्व्वाधिकारिणे प्राणाय नमः। इति न्यसन् जपन् स्मरन् वा सूक्ष्मशरीरं भगवत उपकरणं विधाय गुणत्रयात्मने प्रासादाय नम इति प्रासादं प्रकल्प्य प्रणवं बिन्द्वन्तमुच्चार्य्य परमात्मासनाय नम इति हृदये विन्यस्य किञ्चिद्बहिर्मुखं पूर्व्वोक्तसदात्मानं कारणशरीरं गुणसाम्यरूपं पीठत्वेन कल्पयेत्। ततः प्रणवं प्रत्यक्तमुच्चार्य्य परमात्ममूर्त्तये नम इति हृदयादि मस्तकान्तं व्यापयन् पूर्व्वोक्त-सामान्य-शरीरमन्त्रमुख-सदाद्यात्मकं ब्रह्म ज्ञानपराशक्तिरूपिणीं शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म-ध्यानमुद्रा-लसत्-करचतुष्टयां सर्व्वालङ्कारविशिष्टां स्वात्मानन्दानुभव-सागरमग्नां भगवतो मूर्त्तिं सञ्चिन्तयेदिति पीठमूर्त्तिन्यासः। पीठमूर्त्तिमन्त्रद्वयमेवावश्यकं न्यस्तव्यम्, अवशिष्टं कल्पनीयम्। अथैवं भूतमूर्त्ति-व्यापकस्य तत्साक्षिणः कूटस्थस्य परमेश्वरस्य परमात्मनो मूर्त्तिमतो मूर्त्तावावाहनम् आभासद्वारेण तद्व्यापकत्व-चिन्तनं कर्त्तव्यमित्याह, चतुरात्मेति। 'चतुर्णां' सामान्यादि-शरीराणामात्मा भवेदित्यर्थः।

चतुरात्मेति अनेनैव प्रणवेन समस्तव्यस्तेन कराङ्गुलिन्यासौ, कनिष्ठाद्यङ्गुल्याद्यङ्गन्यासः, समस्तेन देहे विभो व्यापकन्यासः, समस्तस्य प्रणवस्य मूलाधारे न्यासः, व्यस्तस्य नाभि-हृदय-भ्रूमध्येषु समस्तस्य द्वादशान्त-षोड़शान्तयोश्च न्यासः सूचितः। तथाहि 'चत्वारः' अकारोकार-मकारोङ्कारा आत्मानो यस्य स चतुरात्मा तथाविधो भूत्वेति मन्त्रार्थः। चत्वारो व्याहृत्यग्न्यादयः सत्या आत्मानो यस्य इत्यङ्गन्यास-सूचनप्रकारः। अथ पादमात्राखण्डयोः सूचितः पादन्यासः कर्त्तव्य इत्याह, सर्व्वमय इति। सर्व्वशब्देन सर्व्वात्मकं विराड़ादि-पादचतुष्टयमुच्यते। तन्न्यासेन तन्मय इत्यर्थः। ऐश्वर्य्यशक्त्यात्मने द्युलोकाय नमः। ज्ञानशक्त्यात्मने सूर्य्याय नमः। संहारशक्त्यात्मने अग्नये नमः। क्रियाशक्त्यात्मने वायवे नमः। सर्व्वाश्रयशक्त्यात्मने आकाशाय नमः। इच्छाशक्त्यात्मने प्रजापतये नमः। सर्व्वाधारशक्त्यात्मने पृथिव्यै नमः। इति मूर्द्धाक्षि-वदन-प्राणात्म-गुह्य-पादेषु सप्ताङ्गन्यासः। पुनरप्येकोनविंशति-मुखेषु तन्न्यासः। तत्र समानादिन्यासे चित्त-श्रोत्र-वागादिन्यासे च तत्तच्छक्त्यात्मने नम इति योज्यम्। शक्तिमात्ररूपं हि भगवतः शरीरम् इतिरत्तु स्थान-प्राकार-परिचारकादिरूपेण क्लृप्तम्। उक्तञ्च,

"देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढ़ां न तस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते।
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते।
स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च" इति।

"अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिः पश्याम्यचक्षुः स शृणोम्यकर्णः(१)
अपाणिपादो जवनो ग्रहीता" इति च।

(१) क, स शृणोत्यकर्णः।

मन्त्रास्त्वेवं प्रयोक्तव्याः । प्रणयन-शक्त्यात्मने प्राणाय नमः । अपनयन-शक्त्यात्मने अपानाय, व्यानयन-शक्त्यात्मने व्यानाय, उन्नयन-शक्त्यात्मने उदानाय नम इति योज्यम् । समनयन-शक्त्यात्मने, अनुसन्धान-शक्त्यात्मने, तथा निश्चयाहङ्कार-सङ्कल्प-श्रवण-स्पर्शन-दर्शन--रसन--घ्राण--वचनादान- गमन--विसर्गानन्द--शक्त्यात्मने इत्यादिरूपेणेति पादन्यासं कृत्वा वक्ष्यमाण-मन्त्रपञ्चकं व्यापकत्वेन विन्यसन् पादचतुष्टयं ध्यायेत् । ओम् उग्रं वीरं महाविष्णुं जागरितस्थानाय स्थूलप्रज्ञानाय सप्ताङ्गायैकोनविंशति-मुखाय स्थूलभुजे चतुरात्मने विश्वाय वैश्वानराय पृथिव्यृग्वेद-ब्रह्म-वसु-गायत्री-गार्हपत्याकारात्मने स्थूल-सूक्ष्म--वीज--साक्ष्यात्मने प्रथमपादाय नमः । ओं ज्वलन्तं सर्व्वतोमुखं स्वप्नस्थानाय सूक्ष्मप्रज्ञाय सप्ताङ्गायैकोनविंशति-मुखाय सूक्ष्मभुजे चतुरात्मने तैजसाय हिरण्यगर्भायान्तरिक्ष-यजुर्यजुर्वेद-विष्णु--रुद्र--त्रिष्टुब्--दक्षिणाग्न्युकारात्मने स्थूल-सूक्ष्म-वीज-साक्ष्यात्मने द्वितीयपादाय नमः । ओं नृसिंहं भीषणं भद्रं सुषुप्तस्थानाय एकीभूताय प्रज्ञानघनाय आनन्दमयाय आत्मानन्दभुजे चेतोमुखाय चतुरात्मने प्राज्ञायेश्वराय द्यु-साम-सामवेद-रुद्रादित्य-जगत्याहवनीय-मकारात्मने स्थूल-सूक्ष्म-वीज-साक्ष्यात्मने तृतीयपादाय नमः । ओं मृत्युमृत्युं नमाम्यहं सर्व्वेश्वराय सर्व्वज्ञाय सर्व्वशक्तये सर्व्वान्तर्यामिणे सर्वात्मने सर्वयोनये सर्वप्रभवाय सर्वाप्ययाय सोमलोकाय अथर्वाथर्ववेद-संवर्त्तकाग्नि-मरुद्विराडेकर्ष्योङ्कारात्मने स्थूल-सूक्ष्म-वीज-साक्ष्यात्मने चतुर्थपादाय नमः । ओं मन्त्रराजान्ते नान्तःप्रज्ञाय नवहिःप्रज्ञाय नानुभयतःप्रज्ञाय नप्रज्ञाय नाप्रज्ञानाय नप्रज्ञान-

घनाय अदृष्टाय अव्यवहार्य्याय अग्राह्याय अलक्षणाय अचिन्त्याय अव्यपदेश्याय एकात्मप्रत्यय-साराय अमात्राय प्रपञ्चोपशमाय शिवाय शान्ताय अद्वैताय सर्वसंहार-समर्थाय परिभवासहाय प्रभवे व्याप्ताय सदोज्ज्वलाय अविद्या-कार्य्यहीनाय स्वात्मबन्धहराय सर्वदाद्वैत-रहिताय आनन्दरूपाय सर्वाधिष्ठान-सन्मात्राय निरस्ताविद्यातमो-मोहाय अक्षत्रिमाहंविमर्शाय ओङ्काराय तुरीय-तुरीयाय नम इति। पुनः प्रणवेन सकृद्व्याप्याङ्गन्यासं समाचरेत्। ओम् उग्रं वीरं महा-विष्णुं पृथिव्यृग्ऋग्वेद-ब्रह्म-वसु-गायत्री-गार्हपत्याकार-भूरग्न्यात्मने सर्वज्ञ-ज्ञानशक्त्यात्मने हृदयाय नमः। ओं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम् अन्त-रिक्ष-यजुर्यजुर्वेद-विष्णु-रुद्र-त्रिष्टुब्-दक्षिणाग्न्युकार-भुवः-प्राजा-पत्यात्मने नित्यतृप्त्यैश्वर्य्य-शक्त्यात्मने शिरसे स्वाहा। ओं नृसिंहं भीषणं भद्रं द्यु-साम-सामवेद-रुद्रादित्य-जगत्याहवनीय-मकार-सूर्य्यात्मने अनादि-बोध-शक्त्यात्मने शिखायै वषट्। ओं मृत्यु-मृत्युं नमाम्यहं सोमलोकाय अथर्वाथर्ववेद-संवर्त्तकाग्नि-मरुद्विराड़े-कर्षोङ्कार-भू-र्भुवः-स्व-ब्रह्मात्मने स्वातन्त्र्य-बलशक्त्यात्मने कवचाय हुम्। मन्त्रराजान्ते ओम् ओङ्कार-भास्वत्यलुप्त-वीर्य्यशक्त्यात्मने नेत्रत्रयाय वौषट्। मन्त्रराजान्ते पृथिव्यकार-ऋग्-ऋग्वेद-ब्रह्म-वसु-गायत्री-गार्हपत्यान्तरिक्षोङ्कार-यजुर्य्यजुर्वेद-विष्णु-रुद्र-त्रिष्टुब्-दक्षिणाग्नि-द्यु-मकार-साम-सामवेद-रुद्रादित्य-जगत्याह-वनीय-सोमलोकोङ्काराथर्वाथर्ववेद-संवर्त्तकाग्नि-मरुद्विराड़ेकर्षि-भास्वती-सत्यात्मने अनन्ततेजः-शक्त्यात्मने अस्त्राय फड़ित्येतान्य-ङ्गानि। पुनः ऋष्यादिकं विन्यस्य बीजादिकं स्मृत्वा देवं ध्यात्वा परमानन्दामृतेन चतुर्मूर्त्त्यात्मभूताया देवतायाः पूजा कर्त्तव्येत्याह।

चतुरात्मेति । मूर्त्तिचतुष्टय-व्यापकं तत्साक्षिणं परमानन्द-बोधाब्धिं ध्यात्वा मूर्त्तिचतुष्टयं तत्र मग्नं भावयेत् । इयमेवात्मपूजा ।

**अथ महापीठे सपरिवारं तमेतं चतुःसप्तात्मानं चतुरात्मानं मूलाग्नावग्निरूपं प्रणवं सन्दध्यात् ।**

पुनस्तस्य ह वै प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा सा प्रथमपादोभयतो भवतीत्यादिवाक्यैरस्मिन्नेव क्रमखण्डे कथितमुपासनं विधायात्मैव चतुर्मूर्त्तिरूपेण पृथक् पूजनीय इति पीठादिकल्पना-पूर्वकमाह । अथ महापीठे इत्यादिना । 'अथ' आत्मपूजानन्तरं 'महापीठे' वह्निर्मुखसदात्मके गुणबीजरूपे मूलाधारस्य द्वात्रिंशदष्ट-चतुर्द्दल-पद्माकारे 'सपरिवारं' द्वात्रिंशद्दलगतैः पृथिव्यन्तरिक्ष-द्यु-सोम-लोकाद्यष्टकरूपैरष्टदलगतैः सच्चिदानन्द-पूर्णात्माद्वय-प्रकाश-विमर्ष-रूपैश्चतुर्द्दलगत-ब्रह्मसर्वेश्वर-विष्णुसर्वेश्वर-रुद्रसर्वेश्वर-सर्वेश्वरसर्वेश्वरैः परिवारैः सहितमित्यर्थः । 'तं' पाद-मात्राखण्डयोरुक्तम् 'एतम्' इह पृथिव्यकार इत्यादि कथितं 'चतुःसप्तात्मानम्' अकारादि-सम्बन्धित्वेनोक्तं पृथिव्यादि-चतुर्विध-सप्तकरूपम् अकारादि-समष्टिरूपत्वादोङ्कारस्य सर्वत्र मन्त्र-ब्राह्मणयोरैक्यं विवक्षित्वा चतुःसप्तात्मानमित्युक्तम् अकारादिभिर्विभूतिमद्भिर्वा विना स्वतः चतुरष्टात्मानमित्येवार्थः । अनेन च व्यष्टिदेवानां सर्वेषामविशेषेण समष्टि-देवतयैक्यमुक्तं तदङ्गमूर्त्ति-चतुष्टयस्य अंशविशेषेणैकत्व-माह, चतुरात्मानमिति । समष्टि-व्यष्टि-स्थूलादिभिश्चतुरात्मान-मित्यर्थः । यद्यपीह सप्तात्मनां चतुरात्मानमिति तुरीयमात्रा-सम्बद्धस्य सप्तकस्य तदङ्गरूप-स्थूलादि-चतुष्टयस्य तुरीयप्रणवेन

विशेष-सम्बन्ध-प्रतिपत्तये वक्तव्यमपि नोक्तं तथापि तस्योत्तरत्र तुरीय-प्रणव-सम्बन्धित्वेन कथनादिहापि तत् कथितमेवेत्यवगन्तव्यम्, मूलाधारस्थस्यापि प्रणवस्य तुरीयप्रणव-रूपत्वात्, तत एव तत्रापि मध्ये अष्टदलं पद्ममुपदिशन्ति आचार्य्या द्वादशान्त-षोड़शान्तयोरिव,'मूलाग्नौ' मूलाधारगताग्नौ अग्निमण्डले 'अग्निरूपं' चित्प्रकाशरूपं क्रियादि-शक्तिभिर्जठरेण सम्पृक्तं प्रणवं सञ्चिन्तयेत्। अग्निरूपमित्युक्तत्वात् तत्परिवारस्योङ्कारस्यात्र शिरः-पाण्यादि-विशिष्टो विग्रहो न कल्पनीयः, किन्तु प्रलयानलार्क-समज्योतिर्मात्ररूप एव चिन्तनीय इति गम्यते।

**सप्तात्मानं चतुरात्मानमकारं ब्रह्माणं नाभौ, सप्तात्मानं चतुरात्मानमुकारं विष्णुं हृदये, सप्तात्मानं चतुरात्मानं मकारं रुद्रं भ्रूमध्ये, सप्तात्मानं चतुरात्मानं चतुःसप्तात्मानं चतुरात्मानमोङ्कारं सर्व्वेश्वरं द्वादशान्ते, सप्तात्मानं चतुरात्मानं चतुःसप्तात्मानं चतुरात्मानमानन्दामृतरूपं प्रणवं षोड़शान्ते।**

अथ मूलाधारस्थमग्निं नाभ्यन्तरमुन्नीय तस्मिन्नन्नावनुष्टुप्-प्रथम-पादस्याक्षराष्टक-रूपमष्टदलं सञ्चिन्त्य तत्कर्णिकायां प्रणवस्याकार-बीज-विन्दु-नाद-शक्तिभिश्चतुरात्मकं चतुर्द्दल-पद्मरूपं सञ्चिन्त्य तत्कर्णिकायां सरस्वती-मूलप्रकृति-सन्निहितो ब्रह्मा सर्व्वेश्वरो ध्येय इत्याह, सप्तात्मानमित्यादिना। अत्रापि सपरिवारमित्यनुषज्यते; तथोत्तरवाक्येष्वपि। अत्राष्टदले

अकार-सम्बन्धित्वेन कथित-पृथिव्याद्यष्टक-रूपानुष्टुप्-प्रथम-पादाक्षरस्थाः साङ्गोपाङ्गा वेदाश्चतुर्दलस्थाः ब्रह्मब्रह्म-ब्रह्मविष्णु-ब्रह्मरुद्र-ब्रह्मसर्व्वेश्वराश्च परिवारत्वेन ध्येयाः। तत्राष्टदले दिक्षु वेदाः समस्ताः, अग्निकोणे षडङ्गानि, निर्ऋतिकोणे मीमांसा, वायव्यकोणे न्यायः, ईशानकोणे इतिहास-पुराणागम-काव्य-नाटकादयः। चतुर्दले अग्रतो ब्रह्मसर्व्वेश्वरः, दक्षिणतो ब्रह्मरुद्रः, उत्तरतो ब्रह्मविष्णुः, पश्चिमतो ब्रह्मब्रह्मा। एवमुत्तरत्रापि चतुर्मूर्त्ति-चतुष्टय-स्थितिरवगन्तव्या। सप्तात्मानं चतुरात्मानमकारं ब्रह्माणं नाभौ इति मध्ये ब्रह्मसर्व्वेश्वर-मुक्तिरुक्ता। 'सप्तात्मानम्' अकार-सम्बन्धित्वेनोक्तं सप्तात्मानम् अकारेण सहाष्टात्मानमित्यर्थः, अन्यथा अनुष्टुबक्षर-सम्बन्धायोगादिति व्यष्टि-समष्ट्योः सामान्येनैकत्वमभिधाय तदंशानां स्थूलादीनामप्येकत्वमाह, चतुरात्मानमिति। 'अकारं' प्रणवस्थाकारात्मकं रजःप्रधानं सोममण्डलस्थं 'ब्रह्माणं' ब्रह्मसर्व्वेश्वरं सरस्वती-मूल-प्रकृति-सहितं 'नाभौ' तेजोमध्ये अष्टदलस्य-चतुर्दल-कर्णिकायां सन्दध्यादित्यर्थः। तथा 'सप्तात्मानम' उकार-सम्बन्धित्वेनोक्तान्तरिक्षादि-सप्तकम् उकारेण सहाष्टरूपं 'चतुरात्मानं' स्थूलादिभिरुकार-रूपं विष्णुं सर्व्वेश्वरं श्रीमूलप्रकृति-सत्व-प्रधानं सूर्य्यमण्डलस्थं 'हृदये' अष्टदले उकार-सम्बन्धित्वेनोक्तान्तरिक्षाद्यात्मकानुष्टुब्-द्वितीय-पादाक्षरस्थ-वराह-नरसिंह-वामन-परशुराम-राघव-बलभद्र-कृष्ण-कल्कि-मूर्त्तिभिरधिष्ठिते तन्मध्यस्थोकाररूपं चतुर्दल-पद्मगत-विष्णु-सर्व्वेश्वरादि-युते अनुसन्दध्यात्। तथा सप्तात्मानं मकार-सम्बन्धितयोक्त-द्युलोकाद्यष्टक-रूपम, तथा

चतुरात्मानं मकाररूपं रुद्रं सर्वेश्वरमुमा-मूलप्रकृति-सहितं तमः-प्रधानमग्निमण्डलस्थं 'भ्रूमध्ये' अष्टदले मकार-सम्बन्धित्वेनोक्त-द्युलोकाद्यात्मकानुष्टुप्-तृतीयपादाक्षरस्थ-सर्व-भव-पशुपतीशान-भीम-महादेव-रुद्रोग्र-मूर्त्तिभिरधिष्ठिते तन्मध्यस्थं मकाररूपं पद्मचतुर्दलगत-रुद्र-सर्वेश्वरादियुते अनुसन्दध्यात्। तथा 'सप्तात्मानम्' अर्द्धमात्रा-सम्बन्धित्वेनोक्तैः सोमलोकाद्यैरष्टात्मानमित्यर्थः, तथा चतुरात्मानं तत्सम्बन्धि-स्थूलादिभिः 'ओङ्कारं' तुरीयं प्रणव-रूपं 'सर्वेश्वरं' गुणसाम्योपाधि-शक्ति-मण्डलस्थं मूलप्रकृति-माया-सहितं 'द्वादशान्ते' द्वात्रिंशद्दलपद्म-मूलाधारस्थ-द्वात्रिंशद्दलोक्त-देवताविशिष्टे तत्कर्णिकागत-दलस्थ-सदादि-मूर्त्तियुते तत्-कर्णिकागत-चतुर्द्दलस्थ-सर्वेश्वर-चतुष्टय-संयुक्ते अनुसन्दध्यात्। तथा सप्तात्मानं चतुरात्मानं चतुःसप्तात्मानं चतुरात्मान-मोङ्कारं तुरीयम् 'आनन्दामृतरूपं' गुणबीजोपाधि-शक्तिमण्ड-लस्थं 'षोड़शान्ते' अधोमुख-द्वात्रिंशदष्ट-चतुर्द्दलपद्मैः पूर्वोक्त-देवताभिश्च विशिष्टे अनुसन्दध्यात्।

अथानन्दा-(१)मृतेनैनांश्चतुर्धा सम्पूज्य,

अथोक्त-मूर्त्तिचतुष्टय-पूजा कार्य्येत्याह, अथेत्यादिना। 'अथ' पीठ-मूर्त्ति-कल्पनानन्तरम्, 'आनन्दामृतेन' पूर्वोक्तेन 'एनान्' ब्रह्मादि-सर्वेश्वरान् सपरिवारान 'चतुर्धा' चतुःप्रकारेण देवता-गुरु-मन्त्रात्म-प्रकारेण। अथवा चतुर्धेति पूजासाधनानां जल-गन्ध-पुष्प-धूप-दीप-नैवेद्यादीनाम् आनन्द-

(१) क, ख, स्वानन्दा। ग, चाप्यानन्दा।

रूपाणां स्थूलादिक्रमेण, पूज्यदेवतावत् चतुरात्मत्वमुक्तं देवता-द्रव्ययोः सम्बन्ध-प्रदर्शनाय (१)। पूजामन्त्रास्त्वेवं प्रयोक्तव्याः। ओम् उग्रं वीरं महाविष्णुम् अम् ओं रज-उपाधये स्थूल-विराट्-शरीराय विश्व-वैश्वानरात्मने सर्वस्रष्ट्रे ब्रह्मणे सरस्वती-सहिताय सर्वज्ञाय सदात्मने अनन्ताय असङ्गाखण्ड-संविदे नारायणाय नरसिंहाय परमात्मने सपरिवाराय नमः। ओम् उं ज्वलन्तं सर्व्वतोमुखम् उम् ओं सत्वोपाधये सूक्ष्म-हिरण्यगर्भ-शरीराय तैजस-सूत्रात्मने सर्व्वपालकाय विष्णवे लक्ष्मीसहिताय सर्व्वज्ञाय आनन्दात्मने असङ्गाद्वय-संविदे नारायणाय नरसिंहाय परमात्मने सपरिवाराय नमः। ओं मं नृसिंहं भीषणं भद्रं मम् ओं तम-उपाधये सौषुप्ताख्यान-शरीराय प्राज्ञेश्वरात्मने सर्वसंहर्त्रे सदाशिवाय उमा-सहिताय सर्वज्ञाय सच्चिदानन्दात्मने असङ्गाखण्डा-परोक्षाद्वय-संविदे नारायणाय नरसिंहाय परमात्मने सपरिवाराय नमः। ओम् ओं मृत्युमृत्युं नमाम्यहं ओम् ओं गुणसाम्योपाधये व्याकृताव्याकृत-शरीराय प्रत्यग्-ब्रह्मात्मने सर्व्वोत्पत्ति-स्थिति-संहार-कर्त्ते सर्वेश्वराय मूलप्रकृति-माया-सहिताय सर्वज्ञाय सदानन्द-चिदात्मने असङ्गाखण्डाद्वयापरोक्ष-संविदे नारायणाय नरसिंहाय परमात्मने सपरिवाराय नमः। ओं समस्तमन्त्रान्ते निरवद्याय निर्गुणायाशीर्य्याय अशरीराय असङ्गाय प्रत्यगद्वयाय स्वभासावभासित-कृत्स्नाय असङ्गबोधाय असङ्गाखण्डाद्वयापरोक्ष-सदानन्द-चिदात्मने स्वप्रबोध-ध्वस्तानर्थ-द्वैताय निरालम्बन-बिम्बाय अहीन-महोदाराय नारायणाय नरसिंहाय

(१) क, ख, सम्बन्धत्व-प्रदर्शनाय।

परमात्मने सपरिवाराय नमः। इति पुष्पाञ्जलिं कुर्य्यात्। ओं क्लीं श्रीं ध्रौम् ईं नमः संसिद्ध-सम्बिदाप्रमेय-परमैकरस्यायै परमहंसिनि समस्तजन-वाङ्मनसातिवर्त्तिन्यै निरन्तरारब्ध-स्तिमित-निरञ्जन-परमानन्द-सन्दोह-महार्णवे स्वरूप-परम्परायै (१)विष्णुपत्न्यै विष्णवे हम् ईम् श्रीं स्वाहा नमः, इति देवस्य सूक्ष्मदेहे ब्रह्मग्रानात्मके पुष्पाञ्जलिं कुर्य्यात्। वक्ष्यमाण-मन्त्रपञ्चकेन ओं क्लीं श्रीं ध्रौम् ईं नमो निरन्तरं प्रथमान-प्रथम-सामरस्यायै स्वस्वातन्त्र्य-समुन्मेषित-निमिषोन्मेष-परम्पराभिः स्वच्छ-स्वच्छन्द-स्यन्दमान-विज्ञान-वारिनिधये परमसूक्ष्मायै विष्णुपत्न्यै विष्णवे महा-मायायै हं सः ईम् श्रीं स्वाहा नमः। ओं क्लीं श्रीं ध्रौम् ईं नमः स्वसङ्कल्प-बल-समुन्मूषित-भगवद्व्याप्ति-भावस्वभावे स्वेच्छावेग-विजृम्भमाणा-सत्ता-विभक्ति-मूर्त्तिकार--चतुर--गुणग्राम-युगत्रिक-महोर्म्मि-ज्वालायै पूर्ण-षाड्गुण्य-महाब्धये परमस्थूलायै विष्णु-पत्न्यै विष्णवे महामायायै पञ्चविन्दवे हम् ईम् अम् श्रीं स्वाहा नमः। ओं क्लीं श्रीं ध्रौं क्लीं क्लीं क्लीं नमो नित्योदित-मुद्रित-महानन्द-परम-सुन्दर-भगवद्विग्रह-प्रकाशे विविध-सिद्धजनास्पद-षाड्गुण्य-प्रसरमय-परम-सत्स्वरूप-परमव्योम-प्रभावायै विचित्रानन्त-निर्मल-सुन्दर-भोगज-प्रकार-परिणाम-प्रवीण-स्वप्रभावायै परमसूक्ष्म-स्थूलरूप-सूक्ष्मायै विष्णुपत्न्यै विष्णवे महामायायै-पञ्चविन्दवे क्लीं क्लीं क्लीम् श्रीं स्वाहा नम। ओं क्लीं श्रीं ध्रौं क्लीं क्लीं क्लीं नमः स्वसङ्कल्प-समीरण-समीर्य्यमाण-बहुविध-जीवकोश-विप्लव-पुञ्जायै कलित-काल-काल्पनिक-कल्पभेद-फेनपिण्ड-निवहायै लीलासन्द-

(१) ख. स्वरूपपरामरायै।

श्रित-भोक्तृ-भोग्य-भोगोपकरण-भोगसम्पदेक-महासिद्धये परम-सूक्ष्म-स्थूलरूप-स्थूलायै विष्णुपत्न्यै विष्णवे महामायायै पञ्च-विन्दवे हं क्लीं क्लीं क्लीम् श्रीं स्वाहा नमः। श्रीं क्लीं श्रीं च्रीं क्लीं क्लीं क्लीं नमः समस्त-जगदुपकार-स्वीकृत-बुद्धि-मनो-ऽङ्ग-प्रत्यङ्ग-सुन्दरायै द्विधा-चतुष्टय-समुन्मेषित-समस्तजन-लक्ष्मी-कीर्त्ति-जय-माया-प्रभावात्मक-समस्त-सम्पदेकनिधये समस्त-शक्ति-चक्र-सूत्र-धरायै समस्त-जगत्-सम्भोग-सौभाग्यदायिनि विविध-विषमोपप्लव-शमनि नारायणाङ्कस्थितायै श्रीं क्लीं श्रीं च्रीं क्लीं क्लीं क्लीं नमो नारायणाय नरसिंहाय लक्ष्मी-नारायणाभ्यां स्वाहा श्रीं क्लीं श्रीं क्लीम् श्रीं श्रीम्। अथ नैवेद्यानन्तरं जलादिभी-राजोपचारादिभिश्च सम्पूज्य भगवन्तमतिप्रसन्नं सञ्चिन्त्य अधि-कारिखण्डे वक्ष्यमाणेन क्रमेण मन्त्रराजमाश्रित्य नमस्कारखण्डे वक्ष्यमाणेन क्रमेण मन्त्रराजेन नृसिंहपदेन च ब्रह्मात्मैकत्वं प्रतिपाद्य क्रमेण प्रणवनिष्ठां प्राप्य सन्धानखण्डे वक्ष्यमाण-प्रका-रेण ब्रह्मात्मैकत्वं प्रतिपाद्य व्यतिहारखण्डे वक्ष्यमाण-प्रकारेण व्यतिहृत्यापि ब्रह्मात्मत्वं सञ्चिन्त्य अनुज्ञा-प्रणवमाश्रित्य द्वादश-सहस्र-सङ्ख्यं त्रयस्त्रिंशदधिक-त्रिशतयुतं त्रिसहस्रवारम् अष्टो-त्तर-शत-सहस्रसङ्ख्यं त्रयस्त्रिंशदधिकं त्रिशतवारम् अष्टोत्तरसङ्ख्यं त्रयस्त्रिंशद्वारं दश त्रिवारमेकवारं वा शक्त्यनुसारेण जप्त्वा जपं देवाय समर्प्य वक्ष्यमाणमन्त्र-त्रयेण पुष्पाञ्जलिं कुर्यात्। ओं हं हंसात्मको योऽपामग्निस्तेजसा दीप्यमानः स नो मृत्योस्त्रायतां नमो ब्रह्मणे विष्णुनाभि ओं नमो भगवते नृसिंहायात्मने ब्रह्मने व्यामतमाकाराय सर्व्वसाक्षिणे परमे-

स्वराय सर्व्वंगतायाद्वयाय व्याप्ततमाय मायिने तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्। ओम् अम् उग्रं हः, ओम् अं वीरं हः, ओम् अं महाविष्णुं हः, ओम् अं ज्वलन्तं हः, ओम् अं सर्व्वतोमुखं हः, ओम् अं नृसिंहं हः, ओम् अं भीषणं हः, ओम् अं भद्रं हः, ओम् अं मृत्युमृत्युं हः, ओम् अं नमामि हः, ओम् अम् अहं हः, ओं तत् सत् नमो ब्रह्मणे तत् सत् ओं नमः। ओं नमो जराय अमराय अमृताय अभयाय अशोकाय अमोहाय अनशनाय अपिपासाय अद्वैताय हः, ओं क्लीं हं सः सो हम् ओं स्वाहा हं सर्व्वप्रकाशकाकाङ्क्षिमा-पूर्णाहमाकाराय सर्व्वाय सर्व्वान्तराय सर्व्वात्मने अद्वयाय अप्र-काश्य-प्रकाशाय। ओं नमो ब्रह्मणे अं नमः सर्व्वसंहर्त्त्रे सतत-महिम्ने ओम् अं हः, उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्व्वतोमुखम्। नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्। अम् ओं नमः इत्यनेनाकारमन्त्रेण देवस्य वामबाहुमूले विचित्रमन्त्र-राजितां विचित्रां मालां प्रयच्छेत्। ओम् उम् उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्व्वतोमुखम्। नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमा-म्यहम्। ओं नमो भगवते नृसिंहात्मने ब्रह्मणे विष्णवे सर्व्वोत्-कृष्टतमोङ्काराय परमार्थसत्य-स्वरूपाय स्वप्रकाशाय असङ्गाय अनन्यदर्शिने अद्वयाय उत्कृष्टाय नारायणाय विद्महे वासु-देवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्। ओम् उम् उग्रं हुं, ओम् उं वीरं हुम्, ओम् उं महाविष्णुं हुम्, ओम् उं ज्वलन्तं हुम्, ओम् उं सर्व्वतोमुखं हुम्, ओम् उं नृसिंहं हुम्, ओम् उं भीषणं हुम्, ओम् उं भद्रं हुम्, ओम् उं मृत्युमृत्युं हुम्, ओम् उं नामामि

हुम्, श्रोम् उम् अहं हुम्, ओं नमो भगवते वासुदेवाय। ओं नम उदुत्कृष्टाय उदुत्पादकाय उदुत्प्रवेष्ट्रे उदुत्थापयित्रे उदुद्रष्ट्रे उदुत्कर्त्रे उदुत्पथ-वारकाय उदुद्ग्रासकाय उदुद्भ्रान्तकाय उदुत्तीर्ण-विकृतये श्रोम् ओं नमो नारायणाय अः सर्व्वनिर्णायकाकृत्रिम-पूर्णोन्मेषोङ्काराय ओं नमो विष्णवे नमः सर्व्वविचिकित्सा-निरासक-पूर्णोन्मेषमङ्क्रिने हरिः। उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्व्वतोमुखम्। नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्। ओं (१) नम इत्यनेन भगवतः कण्ठे आपादलम्बिनीं मालां दद्यात्। ओं मं त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम्। उर्व्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय (२) मा मृतात्। ओं नमो भगवते नृसिंहायात्मने परब्रह्मणे देवाय रुद्राय महाविभूति-मकाराय महात्मने अभिन्नरूपाय स्वप्रकाशाय प्रत्यग्ब्रह्मणे व्यापततमाय उत्कृष्टतमाय सर्वप्रत्यक्-तमाय सर्वज्ञाय महामायाविभूतये तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्। मं रुद्रं हुं, मं वीरं हुं, मं महाविष्णुं हुं, मं ज्वलन्तं हुं, मं सर्व्वतोमुखं हुं, मं नृसिंहं हुं, मं भीषणं हुं, मं भद्रं हुं, मं मृत्युमृत्युं हुं, मं नमामि हुं, मम् अहं हुं, मम् ओं क्रीं क्रौं नमः शिवाय हंसः सो हं, मम् ओं नमो महते महसे मानाय मुक्ताय महादेवाय महेश्वराय महासृजे महाचिते महानन्दाय महाप्रभवे ओं क्रीं क्रौं नमः शिवाय, मं सर्व्वमहत्तम-ब्रह्ममहत्तम-मकाराय सर्व्वजगन्मयाय सच्चिदानन्दरूपाय वाङ्मनो-गोचरा-

(१) ख, उम् वां। (२) क, मृत्युर्मोक्षीय।

तिगाय आनन्दानुभव-स्वरूपाय आत्मप्रकाशाय ओं नमः शिवाय, मं नमः सर्व्वमनोद्दृष्टे सर्व्वनिर्व्वाहकाय सर्व्वप्रत्यूहकाय सर्व्वसम्मोहकाय सर्व्वसञ्चालकाय सर्व्वभक्षकाय स्वात्मस्वरूपदात्रे अत्युग्राय अतिवीराय अतिमहते अतिविष्णवे अतिज्वलते अतिसर्व्वतोमुखाय अतिनृसिंहाय अतिभीषणाय अतिभद्राय अतिमृत्युमृत्यवे अतिनमामिने अत्यहङ्काराय स्वमहिमस्थाय हरः। ओं मम् उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्व्वतोमुखम्। नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्। मम् ओं नम इत्यनेन मन्त्रेण दक्षिणबाहुमूले मालां समर्पयेत्। एवं पुष्पाञ्जलित्रयं कृत्वा, ओम् उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्व्वतोमुखम्। नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्। इति नमस्कारखण्डे वक्ष्यमाणेन मन्त्रेण स्तुति-नमस्कारौ कृत्वा, ओम् उग्रमात्मानं नृसिंहमहं नमामि। ओं वीरमात्मानं नृसिंहमहं नमामि। ओं महाविष्णुमात्मानं नृसिंहमहं नमामि। ओं ज्वलन्तमात्मानं नृसिंहमहं नमामि। ओं सर्व्वतोमुखमात्मानं नृसिंहमहं नमामि। ओं नृसिंहमात्मानं नृसिंहमहं नमामि। ओं भीषणमात्मानं नृसिंहमहं नमामि। ओं भद्रमात्मानं नृसिंहमहं नमामि। ओं मृत्युमृत्युमात्मानं नृसिंहमहं नमामि। ओं सर्व्व-नमस्कार्य्यमात्मानं नृसिंहमहं नमामि। ओं सर्व्वात्मानमात्मानं नृसिंहमहं-नमामि। इति च स्तुत्यादिकं कृत्वा पूर्व्वोक्त-मालामन्त्रद्वयं समुच्चित्य पठन् भगवतो मस्तकात् पादान्तावलम्बिनीं व्यापिनीं मालां दत्त्वा भगवन्तमतिसन्तुष्टं सञ्चिन्त्य सहादि-

मन्त्र-नवकैर्नमस्कारखण्डे वक्ष्यमाणौ स्तुति-नमस्कारौ कुर्व्वन् अभेद-प्रतिपत्ति-रूपमात्म-समर्पणं कुर्य्यात्। ओम् उग्रं सच्चिदानन्द-पूर्ण-प्रत्यक्-सदात्मानं नृसिंहं परमात्मानं परं ब्रह्माहं नमामि। ओं वीरं सच्चिदानन्द-पूर्ण-प्रत्यक्-सदात्मानं नृसिंहं परमात्मानं परं ब्रह्माहं नमामि। ओं महान्तं सच्चिदानन्द-पूर्ण-प्रत्यक्-सदात्मानं नृसिंहं परमात्मानं परं ब्रह्माहं नमामि। ओं विष्णुं सच्चिदानन्द-पूर्ण-प्रत्यक्-सदात्मानं नृसिंहं परमात्मानं परं ब्रह्माहं नमामि। ओं ज्वलन्तं सच्चिदानन्द-पूर्ण-प्रत्यक्-सदात्मानं नृसिंहं परमात्मानं परं ब्रह्माहं नमामि। ओं सर्व्वतोमुखं सच्चिदानन्द-पूर्ण-प्रत्यक्-सदात्मानं नृसिंहं परमात्मानं परं ब्रह्माहं नमामि। ओं भीषणं सच्चिदानन्द-पूर्ण-प्रत्यक्-सदात्मानं नृसिंहं परमात्माणं परं ब्रह्माहं नमामि। ओं भद्रं सच्चिदानन्द-पूर्ण-प्रत्यक्-सदात्मानं नृसिंहं परमात्मानं परं ब्रह्माहं नमामि। ओं मृत्युमृत्युं सच्चिदानन्द-पूर्ण-प्रत्यक्-सदात्मानं नृसिंहं परमात्मानं परं ब्रह्माहं नमामि। इति सन्मन्त्र-नवकम्(१)। ओम् उग्रं सच्चिदानन्द-पूर्ण-प्रत्यक्-चिदात्मानं नृसिंहं परमात्मानं परं ब्रह्माहं नमामि। इत्यादिकं चिन्मन्त्रनवकम्। ओम् उग्रं सच्चिदानन्द-पूर्ण-प्रत्यगानन्दात्मानं नृसिंहं परमात्मानं परं ब्रह्माहं नमामि। इत्याद्यानन्दनवकम्। ओम् उग्रं सच्चिदानन्द-पूर्ण-प्रत्यगनन्तात्मानं नृसिंहं परमात्मानं परं ब्रह्माहं नमामि। इत्याद्यमन्तमन्त्र-नवकमुह्यम्। ओम् उग्रं सच्चिदानन्द-पूर्ण-प्रत्यगात्मानं नृसिंहं पर-

(१) क, ख, सन्मात्र नवकम्।

मात्मानं परं ब्रह्माहं नमामीत्याद्यात्ममन्त्र-नवकमुद्यम्। इत्यात्म-समर्पणं कृत्वा ब्रह्मात्मैकत्व-प्रतिपत्त्या प्रणवं जपन् पूजा-परिपूर्त्तिं विधाय चतुर्मूर्त्तियोगं कुर्य्यात्। तथाहि। प्रणव-मुच्चारयन्, श्रोम् अमृतमास्राव्य मूर्त्तिचतुष्टयमुपहारे-(१) श्चतुर्धा सम्पूज्य मूर्त्तिचतुष्टयं तेजोमयं लिङ्गचतुष्टयं स्मृत्वा प्रणवं समन्त्रराजमुच्चारयन् लिङ्गचतुष्टयमेकीकृत्य अमृतमास्रावयेदिति चतुर्मूर्त्ति-योगप्रकारः।

**तथा ब्रह्माणमेव विष्णुमेव रुद्रमेव विभक्तांस्त्रीनेव अविभक्तांस्त्रीनेव लिङ्गरूपानेव च सम्पूज्योपहारैश्चतुर्धा,**

एवं चतुर्मूर्त्तियोगं कृत्वा ब्रह्मयोगः कर्त्तव्य इत्याह, तथा ब्रह्माणमेवेति। 'तथा' यथा चतुर्षु स्थानेषु मूर्त्तिचतुष्टयं स्मृत्वा सम्पूज्य तेजोमय-मूर्त्ति-चतुष्टयं संहृत्यामृतास्रावण-लक्षणश्चतु-र्मूर्त्तियोगः कृतः, तथा 'ब्रह्माणं' ब्रह्मसर्वेश्वरमेव सरस्वतीमूल-प्रकृतिसहितं सपरिवारं सञ्चिन्त्य पूजादिकं कुर्य्यादित्यर्थः। अथ विष्णुयोगमाह, विष्णुमेवेति। चतुर्ष्वपि स्थानेषु विष्णुसर्वेश्वरमेव श्रीमूलप्रकृति-सहितं सपरिवारं सञ्चिन्त्य पूजादिकं कुर्य्यादि-त्यर्थः। रुद्रयोगमाह, रुद्रमेवेति। चतुर्ष्वपि स्थानेषु रुद्रमेवोमा-मूलप्रकृति-सहितं सपरिवारं स्मृत्वा पूजादिकमाचरेदित्यर्थः। भेदयोगमाह, विभक्तांस्त्रीनेवेति। 'विभक्तान्' भिन्नशरीरान् 'त्रीन्' ब्रह्मादि-सर्वेश्वरानेव प्रकृतित्रय-सहितान् चतुर्ष्वपि स्थानेषु सञ्चिन्त्य अर्चनादिकमाचरेत्। अस्मिन् योगे सर्व्वत्र द्वात्रिंशदष्ट-

(१) क, मुपहारै। ख, मुपहारै।

चतुर्दलानि पद्मानि पूर्वोक्तदेवता-विशिष्टानि स्मर्त्तव्यानि। तत्र पीतश्चतुर्मुखः स्रुक्-स्रुवाक्षमाला-दण्ड-कमण्डलु-धरश्चतुर्बाहु-र्ब्रह्मा। अक्ष-स्रुक्-पुस्तक-मुद्रा-कलश-धरा श्वेता सरस्वती। विष्णुः शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म-धरो विद्युद्वर्णः। पद्मद्वय-श्रीफलाभय-धरा रक्ता श्रीः। परशु-हरिण-शूल-कपाल-धरः श्वेतो रुद्रः। पाशाङ्कुशाभय-वर-धरामृताभीमा (१)। सर्वत्र मूर्त्तित्रयमेकपीठ-युतं ध्येयम्। शक्तयस्तु मूर्त्त्यङ्कमध्ये (२) वामोरुदेशे वा ध्येयाः। अष्टदलेषु च वेदादिकं वाराहादिकं शर्वादिकं सदादिकमित्या-द्यावरणचतुष्टयं प्रत्येकं ध्येयम्।

अथाभेदयोगमाह, अविभक्तांस्त्रीनेवेति। 'अविभक्तान्' एक-शरीरान् 'त्रीन्' ब्रह्मादीन् शक्त्यविभाग-स्वरूप-मूलप्रकृति-माया-सहितान् सपरिवारान् चतुर्ष्वपि स्थानेषु सञ्चिन्त्य पूजादिकमाच-रेत्। तत्र सर्वेश्वरो हरिण-परशु-शङ्ख-चक्राक्षवलय-दण्ड-धर-स्त्रिमुखोऽनिर्देश्यवर्णो ध्येयः। पाशाङ्कुश-पद्मद्वय-मुद्रा-पुस्तक-धरा त्रिमुख्यऽनिर्देश्यवर्णा प्रकृतिः स्मर्त्तव्या। लिङ्गयोगमाह, लिङ्ग-रूपानेव च सम्पूज्येति। सशक्तिकान् सपरिवारान् ब्रह्मादीन् सर्वत्र ज्योतिर्लिङ्गरूपानेव सञ्चिन्त्य पूजादिकमाचरेदित्यर्थः। पूजासाधन-प्रकारश्चाह, उपहारैश्चतुर्द्धेति। 'उपहारैः' अमृतरूपै अर्घ्य-पाद्यादिभिर्जलादिभिर्वा, चतुर्द्धेत्यस्यार्थो व्याख्यातः पूर्वमेव।

अथ लिङ्गान् संहृत्य तेजसा शरीरत्रयं संव्याप्य तदधिष्ठान-मात्मानं सञ्ज्वाल्य तत्तेज आत्मचैतन्यरूपं बलमवष्टभ्य,

---

(१) क, त्रयामामा। ख, त्रयामोमा। (२) क, मर्त्यैकमध्ये।

सम्पूज्य पुनः किं कर्त्तव्यमित्याह, अथ लिङ्गान् संहृत्येत्यादिना। 'अथ' पूजानन्तरं 'लिङ्गान्' स्थान-चतुष्टयस्थ-ज्योतिर्लिङ्गानि प्रणवोच्चारणेन 'संहृत्य' एकीकृत्य अमृतमास्राव्य सर्वदेवतात्मकं तत्तेजो वर्धयेदित्यर्थः। अयञ्च योगक्रमः अत्रोक्तः पूर्वत्राप्यनुसन्धेयः। चिदवष्टम्भयोगमाह, तेजसा शरीरत्रयं संव्याप्येत्यारभ्यावष्टभ्येत्यन्तेन। 'तेजसा' पूर्वोक्तेन सर्वदेवतात्मकेन आनन्दामृतवर्द्धितेन शरीरत्रयस्य स्थूल-सूक्ष्म-कारण-लक्षितस्य शरीरत्रयस्यान्तरिदं पूजादिकं कृतं, तच्छरीरत्रयं तेन तेजसा तत्त्रय-व्यापक-रूपेणाभेदेन 'संव्याप्य' सम्यक् सबाह्याभ्यन्तरं व्याप्येत्यर्थः। ननु सामान्यशरीरं ब्रह्मज्ञानपर-शक्त्यात्मकं देवस्य शरीरत्वेन सङ्कल्प्य तत्रेदं सर्वं कृतं, तदेव शरीरमिह सर्वदेवतात्मकं तेज उच्यते; तदनेन शरीरेण व्याप्यं शरीरत्रयं किमात्मकम्? तदाधारभूत-कारणाद्यात्मकमिति चेत्, न, तस्य पीठादिरूपत्वेन शरीरत्वाभावात्। नायं दोषः। यतो न पीठादिरूपत्व-कल्पना-मात्रेण शरीरत्वं कारणादेरपगच्छति कारणादिरूप-शरीरमेव हि परोपलब्ध्यधिष्ठानत्वादिना पीठादिकमुच्यते; अतस्तेन साक्ष्याकार-ज्ञानात्मकेन तेजसा शरीरत्रयं संव्याप्य 'तदधिष्ठानं' शरीरत्रयस्याप्यधिष्ठानभूतं ब्रह्मात्मकं चैतन्यरूपं 'सञ्ज्वाल्य' शरीरत्रय-व्यापक-तेजसा च शरीरत्रयेऽपि ज्ञान-तेजसा कवलीकृते तद्वत् किञ्चित्तेजोभावमापन्ने अभिव्यज्येत्यर्थः। 'तत्' एवम्भूतं 'तेजः' शरीरत्रय-व्यापकम् आत्मचैतन्यरूपं बलं तस्मिन् हि ब्रह्मज्ञानं तेजसि ब्रह्मात्मचैतन्य-शरीरचतुष्टयं संहारकमभिव्यक्तमिति तत्तेज आत्मचैतन्य-रूपमित्युच्यते। बलञ्च तत्तेजः

सर्वद्वैत-परिभव-संहार-सामर्थ्य-रूपत्वात् तस्य, तद्बलमवष्टभ्य, अत्यवधानेन च सर्वचलन-परित्याग-पूर्वकं चेतसः साम्येकाकारत्वापादनं तदवष्टम्भो नाम।

**गुणैरैक्यं सम्पाद्य महास्थूले महास्थूलं महासूक्ष्मे महासूक्ष्मं महाकारणे च संहृत्य मात्राभिरोतानुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्परूपं सञ्चिन्तयन् ग्रसेत्॥ तृतीयः खण्डः॥ ३॥**

एवं शरीर-चतुष्टयं संहारोन्मुखं कृत्वा गुणयोगः कर्त्तव्यो मन्द-मध्यमयोरित्याह, गुणैरैक्यं सम्पाद्येति। 'गुणैः' आप्तेरादिमत्त्वाद्वोत्कर्षादुभयत्वाद्वा मितेरपीतेर्वा तुरीयत्वाच्चिद्रूपत्वात् स्थूलत्वात् सूक्ष्मत्वाद्बीजत्वात् साक्षित्वाच्चेत्युक्तैः 'ऐक्यं' वाच्य-वाचकयोरेकत्वं 'सम्पाद्य' सञ्चिन्त्येत्यर्थः। अथ मन्द-मध्यमयोः संहार-योगोऽपि तस्य ह वै प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा सा प्रथमः पादोभयतो भवतीत्यत्रोक्तक्रमेण केवलप्रणवोच्चारेण कर्त्तव्य इत्याह, महास्थूलमित्यादिना। 'महास्थूलं' विराडात्मकं स्थूलशरीरं, महत्त्वञ्चास्य पूर्वमध्यात्म-परिच्छिन्नं स्थूलशरीरमपेक्ष्य। 'महासूक्ष्मं' हिरण्यगर्भात्मकं सूक्ष्मशरीरमध्यात्ममपेक्ष्य। महाकारणमीश्वराणाद्यवस्थं वहिर्मुख-सदात्मकं प्रलयावस्थञ्च सत् समस्तसंसार-वासनाविशिष्टतया वहिर्मुखोत्सुकत्वेन साम्येकाकारत्वाभावात् किञ्चिद्वहिर्मुखमेव हि कारणात्मकं सत् तथापि सर्वजगत्कारणत्वेन महाकारणं भवति अध्यात्मपरिच्छिन्नं सौषुप्तशरीरमपेक्ष्य। संहारसाधनमाह, मात्राभिरिति। उक्तगुणैर्विराडादिपादरूपाभिरकारोकार-मकार-मात्राभिरित्यर्थः। अत्रमात्राभि-

रित्थेवोक्तत्वात् केवलप्रणवेनायं योगः कार्य्य इति गम्यते, प्रकरणबलात् पादयोगेऽपि न दोषः। अथ कारण-संहारायोतादियोगमाह, ओतेत्यादिना। ओतादियोगसूक्तः, तुरीयखण्डे चोच्यते। तत्रौतादि-योगानन्तरमेव ओतादिमन्त्रास्तुरीय-खण्ड एव सूचिता जमव्याः। ओँ नमो भगवते नृसिंहायात्मने ओत-प्रोतादि-भावाय सर्व्वाधिष्ठानाय सर्वात्मने सर्वाय अद्वयाय एकाय परमार्थ-सदात्मने व्याप्ताय सच्चिदानन्द-घनैकरसाय अव्यवहार्य्याय अद्वयाय नमः। ओँ नमो भगवते नृसिंहाय ओङ्कारात्मने ओतप्रोत-भावाय सर्वबाधकाय वाङ्मात्ररूपाय सर्वरूपात्मने चिन्मात्ररूपाय सर्व्वात्मने परमेश्वराय अभिन्नाय अमृताय अभयाय परब्रह्मणे नमः, इत्योतमन्त्रः। ओँ नमो भगवते नृसिंहात्मने सर्व्वानुज्ञात्रे सदात्मदात्रे असङ्गाय अविक्रियाय अद्वयाय नमः। ओँ नमो भगवते नृसिंहायोङ्कारात्मने सर्व्वानुज्ञात्रे वाङ्मात्ररूपाय सर्वभूतात्मने चिन्मात्ररूपाय सर्व्वात्मने सदात्मक-परमेश्वराभिन्नाय अमृताय अभयाय परब्रह्मणे नमः, इत्यनुज्ञात्मन्त्रः। ओँ नमो भगवते नृसिंहात्मने अनुज्ञैकरसाय प्रज्ञानघनाय अनादिसिद्धाय अद्वयाय नमः। ओँ नमो भगवते नृसिंहायोङ्कारात्मने अनुज्ञैकरसाय ज्ञानघनाय अनादिसिद्धाय अद्वयाय नमः। ओँ नमो भगवते नृसिंहायोङ्काराय सर्व्वानुज्ञात्मने वाङ्मात्ररूपाय सर्वरूपात्मने चिन्मात्ररूपाय सर्व्वात्मने परमेश्वराय अभिन्नाय अमृताय अभयाय परब्रह्मणे नमः, इत्यनुज्ञामन्त्रः। ओँ नमो भगवते नृसिंहात्मने अविकल्पायाद्वयाय नमः। ओँ नमो भगवते नृसिंहायोङ्कारात्मने अविकल्पाय अद्वयाय चिन्मात्ररूपाय सर्व्वात्मने परमेश्वराय अभि-

नाय अनामरूपाय अव्यवहार्य्याय अद्वयाय स्वप्रकाशाय महानन्दात्मने अमृताय अभयाय परब्रह्मणे नमः, इत्यविकल्पमन्त्रः। एवमेतैश्चतुर्द्दशप्रयोगैः सर्वमपि जगत् स्वात्ममात्रतया विलाप्याऽनुज्ञाखण्ड-रूपमद्वयाखण्डस्वरूपं परमात्मानं हं सः सोऽहमित्यात्मत्वेन प्रतिपाद्य अनुज्ञाप्रणवेन चिदात्मकेन वा सर्व्वदा स्वात्मस्थो भवेदित्यनुष्ठान-क्रमसङ्क्षेपः। विस्तरस्तु तत्प्रतिपादकेषु ग्रन्थेषु द्रष्टव्यः। इत्युत्तरतापनीये तृतीयः खण्डः॥ ३॥

तं वा एतमात्मानं परमं ब्रह्म ओङ्कारं तुरीयोङ्काराग्र-विद्योतमनुष्टुभा नत्वा प्रसाद्य ओमिति संहृत्याहमित्यनु-सन्दध्यात्।

अथ स्तुति-नमस्कार-विशिष्टां प्रतिपत्तिं वक्तुमारभते, तं वा एतमिति। 'तं' विराड्-वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सूत्रात्मेश्वरात्माव्याकृत-ब्रह्मरूपम् 'एतं' स्थूलं विश्वं सूक्ष्मं तैजसं सौषुप्तप्राज्ञा-व्याकृत-प्रत्यग्-रूपमात्मानम् एतत्सर्व-व्यापकमन्तारं 'परमं ब्रह्म' परब्रह्मरूपम् 'ओङ्कारं' चतुर्विधाकारोकार-मकारार्द्धमात्रारूपमित्यर्थः। 'तुरीयोङ्काराग्र-विद्योतम्' ओतादि-रूपस्य तुरीयोङ्कारस्य विन्दु-नाद-शक्ति-शान्त-रूपस्याग्रे पूर्वभागे साक्षितया विद्योतमानं प्रकाशमानं स्वत एव तमात्मानम् 'अनुष्टुभा, नमामिपद-पर्य्यन्ततया स्तुतिपूर्वकं नत्वा प्रसाद्य, तत्प्रसादेन लब्धसंसार-संहार-सामर्थ्यः सन् 'ओमिति संहृत्य' चतुर्मात्र-मोङ्कारमुच्चारयन् विराडादिक्रमेण संहृत्य ओमित्यनुसन्द-

ध्यात्। अवशिष्टेनाहम्पदेनावशिष्टं तुरीय-तुरीयमद्वितीय-मात्मानमनुचिन्तयेदित्यर्थः। अत्र नत्वेतिवचनात् (१) नमामि-पदस्य नमस्कार एवार्थः। तथाचोग्रमित्यादि-द्वितीयान्तपदानां यथाश्रुत एवार्थः। उपासना चेयमनुष्टुप्-पादमात्र-विश्रान्ता न भवति, अनुष्टुभस्तुरीय-प्रतिपत्तिमात्र-शेषत्वात्। तुरीयोङ्कार-राग्र-विद्योतमनुष्टुभा नत्वेत्युक्तम्। ओमिति संहृत्येति वच-नाच्च प्रणवेनैव संहारः। अयमर्थः। चतुर्मात्रमोङ्कारं समुच्चार-यन् तस्य सार्थस्य साधकं तुरीयतुरीयं परमात्मानं मृत्युमृत्युमिति-पदपर्य्यन्ततयानुष्टुभा स्तुत्वा नमामीति मनसा कायेनोभाभ्यां वा प्रणम्य प्रणवमुच्चारयन् सर्वं संहृत्याहमिति पूर्णो ऽहंविमर्शरूपेण ब्रह्मज्ञानेनावशिष्टमात्मानमनुसन्दध्यादिति।

**अथैतमेवात्मानं परमं ब्रह्म ओङ्कारं तुरीयोङ्काराग्र-विद्योतमेकादशात्मानमात्मानं नृसिंहं नत्वा ओमिति संहरन्ननुसन्दध्यात्।**

अथानुष्टुप्-पद-साधनां स्तुति-नमस्कार-विशिष्टामुपासनामाह, अथैतमिति। अथ शब्दः क्रमार्थः, क्रमस्तु क्रमखण्ड एवास्या-स्माभिरुक्तः। एतमेव तं वा एतमित्युक्तमेवेत्यर्थः। विद्योत-मित्यन्तमुक्तार्थम्। 'एकादशात्मानम्' उग्रत्वादि-गुणभेद-वैशिष्ट्या-देकादश-स्वरूपम् 'आत्मानं' प्रत्यग्रूपं नारसिंहं स्वात्मबन्धहरं परं परमात्मानं 'नत्वा' स्तुतिपूर्वकं नमस्कृत्य तत्प्रसाद-

(१) क, ख, वचनं।

लब्धवीर्य्यः सन् ओमिति सर्वं संहरन् अवशिष्टं ब्रह्म स्वप्रकाशम् 'अनुसन्दध्यात्' तदात्मनावतिष्ठेतेत्यर्थः। अयं भावः। ओङ्कारं समुच्चारयन् तुरीयं प्रतिपाद्य उग्रमित्याद्येकैकेन पदेनो-ग्रत्वादिगुण-विशिष्टं तमेव सञ्चिन्तयन् स्तुत्वा आत्मानं नृसिंह-मिति तमेव वाक्यार्थरूपं स्तुत्वा अहं नमामीति स्वात्म-समर्पण-लक्षणं नमस्कारं विधाय वीरादिमन्त्रैरप्येवमेव स्तुति-नम-स्कारौ कृत्वा पुनः प्रणवमुच्चार्य्य सर्वं संहृत्य स्वात्मन्यवतिष्ठेतेति। मन्त्रास्तु क्रमखण्डे लिखिता द्रष्टव्याः।

अथैतमेवात्मानमात्मानं परमं ब्रह्मोङ्कारं तुरीयोङ्का-राग्र-विद्योतं प्रणवेन सञ्चिन्त्यानुष्टुभा सच्चिदानन्द-पूर्णा-त्मस्तु नवात्मकं सच्चिदानन्द-पूर्णात्मानं परमात्मानं परमं ब्रह्म सम्भाव्य अहमित्यात्मानमादाय मनसा ब्रह्मणैकी-कुर्यात् अनुष्टुभैव वा (१)।

पुनरपि पदसाधनं नमस्कारादि-विशिष्टं चिन्तनान्तरमाह भग-वतः प्रसादातिशयार्थम्, अथैतमेवेत्यादिना। उक्तक्रमार्थं एवाथ-शब्दः। तमेवेत्यादि विद्योतमित्यन्तमुक्तार्थम्, प्रणवचतुर्मात्रेण तुरीयतुरीय-पर्य्यन्तं प्रत्यगात्मानं पदार्थरूपं सचिन्त्येति प्रणवेन सञ्चिन्त्येत्यस्यार्थः। उत्तरत्वानुष्टुभा परमं ब्रह्म सम्भाव्येति विशेष-श्रवणादहम्पदेनात्मानमादायेत्यहम्पदेन शोधित-त्वम्पदार्थादान-श्रवणाच्च अनुष्टुभेत्यनुष्टुबन्तर्गतैरुग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतो-मुखं नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं पदैरित्यर्थः। अवशिष्टस्य

(१)—क, ख, अनुष्टुभैव च।

वियोगान्तर-श्रवणादहम्पदेनात्मानमादाय मनसा (१) ब्रह्मैकी-कुर्य्यादिति नमाम्यहमिति पदद्वयं तावच्छोधित-प्रत्यगात्मादाने तत्स्योग्रादिपद-नवक-(२) शोधित-ब्रह्मैकत्वप्रतिपत्तौ च विनियुक्तम् अर्थादवशिष्टं नृसिंहपदं नवपदविशिष्ट-ब्रह्मवाचकमिति गम्यते, तद्धि नृसिंहरूपस्य ब्रह्मणो वाचकमिति प्रधानभूत-विशेष्यस्य वाचकं युक्तम्। अतो ऽनुष्टुभेत्यनुष्टुबन्तर्गतोग्रपद-नवकेनेत्येवेत्यर्थः। कथम्भूतं ब्रह्म अनुष्टुप्-पदैरन्वेष्टव्यमित्याह, सच्चिदा-नन्द-पूर्णात्मसु नवात्मकमिति। ब्रह्मणः स्वरूपभूतेषु सच्चिदानन्द-पूर्ण-प्रत्यक्-पञ्चस्वपि प्रत्येकं नवात्मकं सदादीनामेकैकस्यापि सर्व-संहार-समर्थत्वादिति-रूपसिद्धये प्रत्येकम् उग्रमित्यादि पदनवकं योज्यमित्यर्थः। ओम् उग्रं सदात्मानं वीरं सदात्मानं महाविष्णुं सदात्मानं ज्वलन्तं सदात्मानं सर्वतोमुखं सदात्मानं नृसिंहं सदात्मानं भीषणं सदात्मानं भद्रं सदात्मानं मृत्युमृत्युं सदात्मानमिति सत्संयोगक्रमः। उग्रं चिदात्मानम् इत्यादिरूपश्चित्संयोगक्रमः। उग्रम् आनन्दात्मानं वीरम् आनन्दात्मानम् इत्यादिरूप आनन्दसंयोगक्रमः। उग्रम् अनन्तात्मानम्, उग्रं पूर्णात्मानमित्यादिरूपो वा पूर्णसंयोगक्रमः। उग्रं प्रत्यगात्मानम्, उग्रमात्मानमित्यादिरूपो वा आत्मसंयोग-क्रमः। एवं ब्रह्मविशेषक्रम-भूतानां सदादीनां ब्रह्मवत् सर्वसंसार-विरोधित्व-प्रतिपत्त्यर्थमुग्रत्वादि-रूपमभिधाय तेषामेव

(१) क, ख, न मनसा।

(२) क, तत्स्योग्रादिपदे नवकं।

सदादीनां ब्रह्मवत् सच्चिदानन्द-पूर्णात्मत्व-प्रतिपत्त्यर्थमुग्रमित्यादि-पदसमूहस्य सदात्मानमित्यादिपद-समूहस्य च मध्ये सदादिविशेषणत्वेन सच्चिदानन्द-पूर्ण-प्रत्यक्पदानि प्रक्षेप्तव्यानीत्याह, सच्चिदानन्द-पूर्णात्मानमिति। अत्रापि सच्चिदानन्द-पूर्णात्मस्वित्यनुषज्यते। अतः सच्चिदानन्द-पूर्णात्मसु पञ्चस्वपि सच्चिदानन्द-पूर्णात्मानमिति-सम्बन्धे सदादीनामेकैकत्वेन ब्रह्मवत् सच्चिदानन्दादि-स्वरूपत्वं सिद्धं भवति। अतो ब्रह्मणो विशेषणानाञ्चैकत्वेन ब्रह्मण एकरसत्वञ्च सेत्स्यति। ओम् उग्रं सच्चिदानन्द-पूर्ण-प्रत्यक्-सदात्मानमित्यादिक्रमेण योगो द्रष्टव्यः। विशेष्य ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थं तद्वाचकपदद्वयमाह, परमात्मानं परं ब्रह्मेति। ओम् उग्रं सच्चिदानन्द-पूर्ण-प्रत्यक्-सदात्मानं परमात्मानं परं ब्रह्मेत्यादिप्रयोगक्रमः।

अत्र यद्यपि विशेष्य-वाचक-नृसिंहपद-पर्य्यायत्वेन परमात्मानं परं ब्रह्मेति पदद्वयमेव श्रुतं तथापि तस्मात् पूर्वं नृसिंहपदं प्रयोक्तव्यम्, अन्यथा मन्त्रराजगतस्य नृसिंहपदस्य परित्यागप्रसङ्गात्, पदद्वयात् पूर्वमेव च तस्य प्रयोगो न्याय्यः। तत्स्थाने पदद्वयस्य प्राप्तत्वेन तस्य प्राधान्यात्। एवं तत्पदार्थं सम्भाव्य अहम्पदेन शोधितं प्रत्यगात्मानमादाय नम इति पदेन तस्य ब्रह्मणैकत्वं भावनीयमित्याह, अहमित्यात्मानमादाय मनसा ब्रह्मणैकीकुर्य्यादिति। ओम् उग्रं सच्चिदानन्द-पूर्ण-प्रत्यक्-सदात्मानं नृसिंहं परमात्मानं परं ब्रह्माहं नमामीत्यादि-क्रमेण क्रमखण्डीतमन्त्रा द्रष्टव्याः। अथ प्रणवादिकं विना अनुष्टुभैव वा ब्रह्मात्मैक्यं प्रतिपत्तव्यमित्याह, अनुष्टुभैव वेति। अत्रोग्रत्वादिगुण-लक्ष्यो नृसिंह-

स्तत्पदार्थः, अहमिति त्वम्पदार्थ-वाचकः, नमामीति पदं तत्त्वम्पदार्थयोरैक्य-वाचकमिति भावः।

**एष उ एव नृ एष हि नृसिंहः सर्वत्र सर्वदा सर्वात्मा सिंहो ऽसौ परमेश्वरः, असौ हि सर्वत्र सर्वदा सर्वात्मा सन् सर्वमत्ति।**

मन्त्रराज-मध्यगत-नृसिंहपदेनैव च ब्रह्मात्मैक्यं प्रतिपत्तव्यमित्याह, एष उ एव नृ इत्यादिना। तत्र नृशब्दस्य प्रत्यगर्थतामाह, एष हीति। 'एषः' सर्व्वेषां स्वानुभवसिद्ध आत्मा उ एवेति तस्यैव नृशब्दार्थत्वमन्यत्रानुपपत्तेरवध्रियते। नृ इति नृसिंह इत्यत्र नृशब्दस्यार्थ इत्यर्थः। कथमस्यैव नृशब्दार्थत्वमित्याह, एष हीति। एषः 'हि' यस्मात् 'सर्व्वत्र' सर्व्वस्मिन् देशे वर्त्तते सर्व्वस्यात्मरूपं सच्चिदानन्दरूपेण 'सर्व्वदा' सर्व्वस्मिन् काले वर्त्तते नित्यत्वात् 'सर्व्वात्मा' च भावाभावात्मकस्य जगतः सच्चिद्व्यतिरेकेणाभावात् सर्व्वात्मत्वमस्यावगन्तव्यमिति देशतः कालतो वस्तुतश्चापरिच्छिन्न आत्मेत्यर्थः। अयं भावः। नृ इति नृगताविति धातो रूपं गतिश्च व्याप्तिः (१) त्रिविधा मुख्या, सा च प्रत्यगात्मन्येवोपपद्यते, तदन्यस्य तद्दृश्यत्वेन तत्र कल्पितत्वोपपत्तेः; तस्मात् स एव नृशब्दार्थ इति सिंहशब्दस्य तत्पदार्थ-वाचकत्वं दर्शयति, सिंहोऽसौ परमेश्वर इति। 'सिंहः' सिंहशब्दस्यार्थ इत्यर्थः 'असौ' श्रुति-

(१) ख, गतिश्चा व्याप्तिः।

स्मृति-लोक-प्रसिद्धः परमेश्वरः । सिंहशब्दस्य तदर्थवाचकतां दर्शयति, असौ हीति । 'असौ' परमेश्वरः, सर्व्वत्र सर्व्वदा सर्व्वात्मा सन् इत्युक्तार्थम्, 'सर्व्वमत्ति' स्वात्मसात् करोति सच्चिद्रूपेणेत्यर्थः । अयं भावः । षिञ् बन्धने इति धातो रूपं सिमिति ; अतः कार्य्य-कारणरूप-बन्धार्थोऽसौ सिः, तं हन्ति व्याप्य संहरतीति सिंह इत्युच्यते । ह इति हन् हिंसा-गत्योरित्यस्य धातो रूपम् ; तत्र हिंसा सर्व्वसंहारः, गतिर्व्याप्तिस्त्रिविधा ; तदुभयं प्रत्यगात्मभूते परमेश्वर एव सम्भवतीति स एव सिंहशब्दार्थ इति ।

नृसिंह एवैकलः, (१) एष तुरीयः, एष एवोग्रः, (१) एष एव वीरः, एष एव महान्, एष एव विष्णुः, एष एव ज्वलन्, एष एव सर्वतोमुखः, एष एव नृसिंहः, एष एव भीषणः, एष एव भद्रः, एष एव मृत्युमृत्युः एष एव नमामि, एष एवाहम् । एवं योगारूढो ब्रह्मण्येवानुष्टुभं सन्दध्यादोङ्कार इति ।

एवं पदार्थद्वयं संशोध्य सामानाधिकरण्यादि-सिद्ध(२)पदार्थयोरत्यन्तैक्य-लक्षणं वाक्यार्थमाह, नृसिंह एवेति । आत्मा ब्रह्मैव ब्रह्म चात्मैवेत्यर्थः । पदार्थद्वय-कथन-प्रसङ्गेन प्राप्तां

(१) क, एवैव कालः । (१) क, एष ह्येवोग्रः ।

(२) क, ख, सामान्याधिकरण्यादि—सिद्ध

संसर्गादिवाक्यार्थतां निराचष्टे, एकल इति। एकरसः सिंह एव नृ एकरसोऽत्रैव च सिंह इत्यर्थः। ननु लोके संसर्गादि-लक्षणो वाक्यार्थो दृष्टः, ततोऽत्रापि तथा स्यादित्याशङ्क्य अस्य वाक्यार्थस्य लोकोत्तरत्वान्नैवमित्याह, एष तुरीय इति। सर्व्वद्वैत-संहार-समर्थत्वाच्चास्य वाक्यार्थस्य असंसर्गादि-रूपत्वमित्याह, एष एवोग्र इति। संहार-समर्थत्वेऽपि मन्द-प्रस्थापनतया सर्व्वमनर्थजातं संहरत इति चेत्, न, इत्याह, एष एव वीर इति। एष एव महानित्याद्येष एवाहमित्यन्त-सर्व्वसंहार-समर्थः परिभवासहः प्रभुर्व्याप्त इत्यादिपद-व्याख्याने-नैव व्याख्यातप्रायमिति न पुनर्व्याख्यायते। तत्र तुरीयपदार्थ-सद्भावं दर्शयता पदान्यर्थतो व्याख्यातानि, इह तु तत्रोक्त-मेवार्थमुपजीव्य तुरीयस्य वाक्यार्थरूप-संहार-सामर्थ्य-कथनेन वाक्यार्थस्याखण्डता उपपाद्यते इति विशेषः। किञ्च पूर्व्वत्र तुरीये पदार्थसद्भावमात्रं दर्शितं सर्व्वसंहार-समर्थ इत्यादिना, इह त्वेष एवोग्र इत्यादिभिः सावधारणैर्वाक्यैरिहैव सद्भावो दर्शित इति महान् विशेषः। अतएव च वार्त्तिककृद्भिः प्रतिपद-व्याख्यानमेवकारार्थो दर्शितः, "उग्रता क्रूरतान्यत्र प्रतीचो ब्रह्मणो नहि" इत्यादिना। उक्तोपासनादि-बलेन केवलोङ्कारावस्थान-समर्थस्य सर्व्वमन्यत् साधनजातं प्रणवे सन्न्यस्य तेन स्वात्मानुसन्धानं कर्त्तव्यमित्याह, एवमित्यादिना। 'एवं' कर्म्मकाण्ड-विहितैः साधनैः पूर्व्वोपनिषदुक्तोपासनया अत्रोक्ता-नुष्टुप्पाद-मिश्रोपासनादिभिश्च 'योगारूढः' केवल-प्रणव-योगा-श्रय-समर्थः 'ब्रह्मण्येव' ओङ्कारे 'अनुष्टुभं सन्दध्यात्' सर्व्वमन्यत्

साधनजातं ब्रह्मरूपे प्रणवे ऽन्तर्भाव्य तेनात्मानमनुसन्दध्या-दित्यर्थः ।

तदेतौ श्लोकौ भवतः,

संस्तभ्य सिंहं स्वसुतान्गुणार्थान्
संयोज्य शृङ्गैर्ऋषभस्य हत्वा (१) ।
वश्यां (२) स्फुरन्तीमसतीं निपीड्य
सम्भक्ष्य सिंहेन स एष वीरः ॥
शृङ्गप्रोतान् पदान् स्पृष्ट्वा हत्वा तामग्रसत् (३) स्वयम् ।
नत्वा च बहुधा दृष्ट्वा नृसिंहः स्वयमुद्बभौ ॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

गतखण्ड-चतुष्टयोक्तेऽर्थे मन्त्रानवतारयति, तदिति । तत्र उक्तेऽर्थे 'श्लोकौ' मन्त्रौ ब्राह्मण-मूलभूतौ सम्भवतः । 'संस्तभ्य सिंहम्' उपाध्यविवेक-वशाच्चलन्तम् आत्मानं सिंहं परमार्थतो निरस्त-निखिल-बन्धं 'संस्तभ्य' विवेक-विज्ञानेन स्वमहिम्न्येव स्थिरीकृत्य, किम् ? इत्याह, 'स्वसुतान्' स्वस्य सिंहात्मनः सुतान् स्थूलविश्वादीन् 'गुणार्थान्' गुणैः स्थूलत्वात् स्थूलभुक्त्वाच्चित्याद्यैः ऋतान् इति प्राप्तान् विराड्-वैश्वानरादिभावं गतान् इति मन्त्रस्य प्रथमपादेन प्रथमखण्डार्थः

(१) क, ख, ग, हत्वा । (२) क, ख, ग, वश्यां ।
(३) ख, हत्वा तामग्रसत् स्वयम् । ग, हत्वा तामग्रसत् स्वयम् ।
घ, हत्वा तामग्रसत् स्वयम् ।

सङ्गृहीतः। 'ऋषभस्य' छन्दसामृषभस्य प्रधानस्य प्रणवस्य 'शृङ्गैः' मात्रादिभिः तान् स्वसुतान् आत्मपादिभिः सामान्यैः 'संयोज्य' मात्रापादैक्यं (१) प्रतिपाद्येत्यर्थः 'हुत्वा' स्थूलं सूक्ष्मे सूक्ष्मं कारणे च मात्रान्वयेन संहृत्येत्यर्थः। तुरीये मात्रायां कारण-संहार-प्रकारमाह, वक्ष्यामित्यादिना। तां कारणरूपां मायाम् ओतयोगेनात्मवश्यां कृत्वा अनुज्ञातृ-योगेनात्मसत्ता-स्फुरणाधीन-तयासतीं स्फुरन्तीं तत्र कल्पिततया सम्भाव्यनुज्ञायोगेन 'असतीम्' अविद्यमानसमां निरस्तप्रसरां कृत्वा 'विपीड्य' साक्षि-चिदाकार-मेवातिप्रयत्नेन मनः कुर्वन् तां साक्षि-सिंह-चैतन्ये स्वविरोधिन्येव मज्जयित्वेत्यर्थः। उक्तञ्च। "ओतत्वाच्च तुरीयस्य वश्यानुज्ञातृता-परा। अनुज्ञैक-रसत्वाच्च संहृत्य वाहयाकृतिः" इत्यादि। 'सम्भक्ष्य सिंहेन' बुद्धिवृत्त्यारूढेन तुरीयेन स्वात्मना ब्रह्मणा तावन्मात्रेण सम्भक्ष्य तत्राध्यस्तां मायां तस्मिन्नुदितेन ज्ञानेन तावन्मात्रां कृत्वेत्यर्थः। सम्भक्ष्य सिंहेनेति मन्त्रराजेन तुरीय-तुरीयं चिन्तयन् तां मायां संहृत्येत्यर्थः। स एवं तुरीयविद्वान् वीरः पुनः संसारापरिभाव्यो भवति नृसिंहरूपत्वात्तस्येति द्वितीय-खण्डार्थः सङ्गृहीतः। 'शृङ्गप्रोतान्' 'पदान्' प्रणवमात्रा-व्याप्तान् विराडादीन् चतुःसप्तकान् ब्रह्म-सर्व्वेश्वरादींश्च पदानि अनुष्टुप्-पाद-चतुष्टयेन 'स्पृष्ट्वा' संयोज्य सञ्चिन्त्य 'हुत्वा' क्रमेण संहृत्य 'तां' कारणभूतां मायाम् उक्तप्रकारेण तुरीयमात्रया पादेन च यथासम्भवम् अग्रसत् (२) संहृतवान् स्वयं वीरो विद्वान्

(१) क. ख, मात्रपादैक्यं।

(२) क, यथासम्भवं ग्रसन् सन्। ख, यथासम्भवं ग्रसत्।

नृसिंह आत्मेति तृतीयखण्डार्थः सङ्गृहीतः । 'नत्वा च बहुधा' अनन्तर-खण्डोक्त-प्रकारेणात्मभूतं नृसिंहमनेक-प्रकारेण नत्वा, च शब्दात् स्तुत्वेत्यर्थः । 'बहुधा दृष्ट्वा च' स्वात्मानं नृसिंहं नमस्कारमन्त्रैः प्रणवेन मन्त्रराजेन सिंहपदेन च बहुधा दृष्ट्वा नृसिंहः स्वयमुद्भभौ पूर्वमपि स्वयं नृसिंह एव सन् अज्ञानादनभिव्यक्तं तत्त्वादेव प्रसादजेन ज्ञानेन नृसिंहः स्वयम् 'उद्बभौ' अभिव्यक्त इत्यर्थः । इत्युत्तरतापनीये चतुर्थः खण्डः ॥४॥

**अथैष एवाकार आप्ततमार्थः आत्मन्येव नृसिंहे ब्रह्मणि वर्त्तते, एष ह्येवाप्ततमः, एष हि साक्षी, एष हि ईश्वरः;**

ओङ्कारे अनुष्टुभमन्तर्भाव्य तेन स्वात्मानुसन्धानं कर्त्तव्यमित्युक्तम्; तत् कथमनुष्टुभः प्रणवे ऽन्तर्भावः, कथं वा तेनात्मानुसन्धानं कर्त्तव्यमित्याकाङ्क्षायां तत्प्रदर्शनाय खण्ड आरभ्यते, अथेति । तत्राकारस्याततिजस्य व्याप्त-प्रत्यगर्थत्वमभिधाय तदुत्पादनाय प्रतीचिमन्त्रराजार्थ-सद्भावमभिधाय स एवाकारस्य योग्योऽर्थ इति नियम्यते प्रथमपर्य्यायेण, द्वितीये पर्य्याये शङ्कान्तर-परिहाराय प्रत्यगात्मन एवोत्कृष्टार्थोकारार्थत्वमभिधाय आत्मन उत्कृष्टत्वोपपादनायात्मनि मन्त्रराजार्थ-सद्भावमकारार्थत्वमभिधाय विभूतिमत्त्वेन प्राप्तदोष-परिहाराय ब्रह्मणि मन्त्रराजार्थ-सद्भाव उच्यते । तस्माद्ब्रह्मणि प्रत्यगात्मनि च मन्त्रराजान्तर्भावात् तद्वाचक-प्रणवमात्रास्वपि तदन्तर्भावो ज्ञातव्यः, अन्यथा तद्वाचकत्वायोगात् वाच्य-वाचकयोरभेदाच्च । तत्र

तावदकारस्य व्याप्ततमार्थत्वमततिजत्ववत्त्वेनाह, अथेति। अनुष्टुप्पद-विशिष्टेन चतुर्मात्रेण प्रणवेनोपासनमभिधाय केवलेन त्रिमात्रेण प्रणवेनात्मप्रतिपत्तिरभिधीयते इत्यथशब्दार्थः। एषा मात्रा उकार एव, का सा मात्रा? इत्याह, अकार इति। स चाप्ततमार्थं एवेत्येवकारस्यान्वयः। अस्यकारस्याततिजत्वेन व्याप्ततमार्थत्वम्, स तु व्याप्ततमोकारार्थः कः? यस्मिन्नकारस्य वृत्तिर्भवतीत्यत आह, आत्मन्येवेति 'आत्मन्येव' प्रत्यगात्मन्येवेत्यर्थः। तस्याकारार्थत्वाय त्रिविधव्याप्ति-सिद्धये सर्वसंहर्तृत्वमाह, नृसिंह इति। स्वात्मबन्धहर इत्यर्थः। ततश्च वृहत्त्वात् तत्राकारस्य वृत्तिर्युक्तेत्याह, ब्रह्मणि वर्त्तत इति। नन्वन्येऽपि व्याप्ता आकाशादयः पदार्थाः सन्ति, अतस्तेषामन्यतमस्मिन्नकारस्य वृत्तिरस्तु, न तेषां व्याप्तत्वेऽपि व्याप्ततमत्वाभावादित्याह, एष ह्येवाप्ततम इति। कथं प्रत्यगात्मनोऽप्येतच्छरीरमात्र-वर्त्तिनो व्याप्ततमत्वमित्याशङ्क्य सर्वबुद्धिसाक्षित्वान्नैवमिति यदुक्तं सर्व्वसंहर्तृत्वं ब्रह्मत्वञ्च क्रमेण साधयति, एष हि साक्षीति। नहि साक्षिमात्रे भेदो भवतीत्यर्थः। तथापीश्वरस्य (१) भेदेन स्थितत्वान्न व्याप्ततमत्वमित्याशङ्क्य नेत्याह, एष ईश्वर इति। न हि साक्षिणो व्यतिरिक्तस्य साक्ष्यस्य जडस्येश्वरत्वं सम्भवतीत्यर्थः।

अतः सर्वगतः, नहीदं सर्वमेष हि व्याप्ततमः, इदं सर्वं यदयमात्मा मायामात्रमेष एवोग्र एष ह्येवाप्ततमः, एष एव वीर एष हि व्याप्ततमः, एष एव महानेष एव

(१) ख, न तथापीश्वरस्य।

व्याप्ततमः, एष एव विष्णुरेष हि व्याप्ततमः, एष एव ज्वलन् एष हि व्याप्ततमः, एष एव सर्वतोमुख एष हि व्याप्ततमः, एष एव नृसिंह एष हि व्याप्ततमः, एष एव भीषण एष हि व्याप्ततमः, एष एव भद्र एष हि व्याप्ततमः, एष एव मृत्युमृत्युरेष हि व्याप्ततमः, एष एव नमाम्येष हि व्याप्ततमः, एष एवाहमेष हि व्याप्ततमः, आत्मैव नृसिंहो देवो ब्रह्म भवति।

फलितमाह, अतः सर्वगत इति। तथापि सर्वसाक्षिणः साक्ष्यसद्भावान्न व्याप्ततमत्वमित्याशङ्क्य साक्ष्यस्य साक्षिव्यतिरेकेणासत्वमाह, न हीदं सर्व्वं मिति। तत्र हेतुमाह, एष हि व्याप्ततम इति। 'एष' ईश्वरः साक्षी ईशितव्ये साक्ष्ये अतिशयेन व्याप्तः। स वाह्याभ्यन्तरं स्वीकृत्य सकलः, अन्यथा साक्षित्वानुपपत्तेरित्यर्थः। अथ वा अकारस्य तावद्व्याप्ततमः कश्चिदर्थोऽभ्युपगन्तव्यः। स च साक्षिणो ऽन्योऽनुपपन्न इत्यकारस्य निरर्थकत्वभयात् आत्मनः साक्ष्यसङ्कोचो ऽपि नाभ्युपगन्तव्य इत्यर्थः। नन्वेवमपि साक्ष्ये व्याप्ये साक्षिणो भेदेनाभेदेन वा विद्यमाने कथं व्याप्ततमत्वं सम्भवतीति चेत्, नायं दोषः। यतो न साक्ष्यं परमार्थतोऽस्तीत्याह:, इदं सर्व्वं यदयमात्मेति। योऽयमात्मा स एवेदं सर्वं न तु तत्; तस्माद्भेदेनाभेदेन वा स्थितमित्यर्थः। तत्रास्य सर्व्वस्य मायामात्रत्वे हेतुमाह, माया-

मात्रमिति। मायामात्रेणापि साक्ष्येण व्याप्तिसङ्कोची भवति अतो न व्याप्ततमत्वमात्मन इति चेत्, न, तत्संहार-समर्थत्वादस्येत्याह एष एवोग्र इति। उग्रत्वमप्यततिजस्याकारस्य नैरर्थक्यभयादात्मन्यभ्युपगन्तव्यमित्याह, एष ह्येति। अकारस्य तावदेष एवात्मार्थः, यत एष ह्येवाप्ततमः। न चाप्ततमत्वमुग्रत्वस्य सर्व्वसंहर्त्तृत्वस्याभावे सम्भवति; अतोऽकार एव स्वयमुग्रपदात्मा सन्नुग्रत्वमप्यात्मनो बोधयतीत्यकारस्योग्रपदात्मत्वं तावत् सिद्धमित्यनेनोक्तम्। एवं वीरादि-पदात्मत्वमप्यवगन्तव्यम्; ततश्च, यदुक्तमनुष्टुभं सन्दध्यादोङ्कार इति, तदिदमुपपादितं श्रुत्या भवति। संहार-समर्थत्वेऽपि मन्दप्रस्थानत्वान्न संहरति किन्तु सर्वमप्यनर्थजातं सहत इति चेत्, न, यतोऽयं परिभवासह इत्याह, एष एव वीर इति। वीरत्वेऽपि पूर्ववद्धेतुमाह, एष ह्येति। एवमपि प्रतिबन्ध-सम्भवान्न संहरतीति चेत्, नेत्याह। एष एव महान् इति। महत्त्वेऽपि पूर्ववद्धेतुमाह। एष ह्येति। एवमेवोत्तराण्यपि अनुष्टुप्-पदानि पूर्वोक्ताशङ्का-निवर्त्तकत्वेनोत्थाप्य तत्पदार्थात्मन्यकारार्थ-व्याप्यन्यथानुपपत्त्या तत्तत्पदात्मकेनाकारेण साधनीयम्। एवमकारेऽनुष्टभमन्तर्भाव्य तेन प्रत्यगात्मप्रतिपत्तुः फलमाह। आत्मैव नृसिंह इत्यादिना॥ ज्ञानकाल एव प्रत्यगभूतं चिदात्मकं सर्वबन्ध-रहितं ब्रह्म भवतीत्यर्थः।

**य एवं वेद सोऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।**

एवंविदो वेदनमात्रेण ब्रह्मत्वमुपपादयति, सोऽकाम इत्यादिना। यस्मात् 'सः' विद्वान् 'अकामः' मुक्तः सर्वविषय-रहितो ज्ञानसमकाल एव, तस्मात् ज्ञानसमकाल एव ब्रह्म भवतीत्यर्थः। कुतो ज्ञानसमकाल एवाकाम इति तत्र निष्कामत्वं हेतुमाह, निष्काम इति। निर्गततृष्णाभेदत्वात्तदैवेत्यर्थः। कुतस्तृष्णाभाव इति, आप्तसर्वकामत्वादित्याह, आप्तकाम इति। अनाप्तकामस्य हि तृष्णा तद्विषया भवति, न तु प्राप्तसर्वकामस्य। कुत आप्तकामता विदुष इति आत्मकामत्वादित्याह, आत्मकाम इति। ये पूर्वं परमानन्दानुभव-रूपात्माज्ञानादाप्तव्यानात्मभूताः कामाः अभवन् अतस्ते उक्तात्मज्ञानादज्ञाने निवृत्ते अज्ञान-तत्-कार्य्यत्वान्निवृत्ताः आत्मानन्दमात्रतामेव प्राप्ताः, अत आप्तकाम-त्वादात्मकामः, अतश्च स निवृत्ततृष्णः, अतोऽकामो निर्विषयो मुक्तो ब्रह्मैवासौ ज्ञानसम इत्यर्थः। अस्त्वेवं ज्ञानसमये ब्रह्मत्वं, शरीर पातादूर्द्ध्वन्तु पूर्ववत् पुनरपि संसारं प्राप्नोतीति चेत्, न, अज्ञान-कामाध्यासत्वेनोत्क्राम्त्यभावात् इत्याह, न तस्येति। 'तस्य' अकामस्य मुक्तस्य प्राणा नोत्क्रामन्ति, कर्म्मफल-भोगाय ह्युत्क्रमणं स्यात्, तत् कर्म्म चाज्ञानकृतं विद्यया नष्टमिति तत्-फलानुपपत्तेर्न्न तद्भोगाय प्राणा उत्क्रामन्त्यन्तकाले, किं तर्हि? अत्रैव समवनीयन्ते विदुषः आत्मन्येव 'समवनीयन्ते' एकीभावं गच्छन्ति, न तु विद्वान् समवनीतेषु प्राणेषु शरीरे च पतिते पूर्व्वमपि ब्रह्मैव सन् उत्तरकालेऽपि ब्रह्मैवाप्येति, अज्ञानकृता ब्रह्मत्वनिवृत्तिरेव ब्रह्मप्राप्तिः, न तु स्वर्गादि-प्राप्तिवदप्राप्तप्राप्तिः सम्भवति आत्मत्वात् ब्रह्मणः मोक्षस्य स्वर्गादिवदनित्यत्व-प्रसङ्गाच्च।

अथैष एवोकार उत्कृष्टतमार्थः आत्मन्येव नृसिंहे ब्रह्मणि वर्त्तते ; तस्मादेष सत्यस्वरूपो नह्यन्यदस्ति अमेयमनात्म-प्रकाशमेष हि स्वप्रकाशोऽसङ्गो ऽन्यं न वीचत आत्मा ;

नन्वात्मात्मन्यनात्माध्यासवदात्मनोऽप्यनात्मन्यध्यासोऽङ्गीकर्त्तव्यः, अन्यथा लोकव्यवहारानुपपत्तिः ; तस्मात् कल्पितस्यासत्त्वे आत्मनोऽपि कल्पितत्वेनासत्त्व-प्रसङ्गः तस्य सत्यत्वे च अनात्मनोऽपि सत्यत्वं स्यात्, एवञ्च सति कं विशेषमाश्रित्यात्मनः सर्व्वसंहारसमर्थत्वेन व्याप्तत्वादकारार्थत्वं नत्वनात्मनस्तदभावादिति पूर्वमुक्तमित्याशङ्कामुकारेण परिहर्त्तुमुकारस्यार्थमाह। अथेत्यादिना। अकारार्थ-कथनानन्तरम् उकारार्थ उच्यत इत्यथशब्दार्थः। एषा मात्रा उ एव, का सा मात्रेत्याह, उकार इति। स चोत्कृष्टतमार्थ उत्कृष्ट-शब्दैकदेशत्वात् तस्य ऊर्द्धम् उत्कृष्टत्वमाधिक्यञ्चोत्कर्षः। अनात्म-सम्बन्धित्वेनाध्यस्तत्वेऽपि स्वरूपेणानध्यासादध्यस्ताच्चोत्कृष्टत्वम्। असंसृष्टत्वमनध्यस्तत्वम् ऊर्द्धम् उत्कृष्टत्वमाधिक्यञ्च तदेव, कोऽसावुत्कृष्टतमोऽर्थो यस्मिन् उकारस्य वृत्तिरिति तत्राह, आत्मन्येवेति। देवादिरूपस्यात्मन एव सर्व्वाध्यक्षस्योत्कृष्टरूपोत्कर्ष-सम्भवात् स एवोकारार्थ इत्यर्थः। अतश्चोक्तशङ्का निरवकाशेत्याह, तस्मादिति। यस्मादध्यासाध्यस्ताध्यक्षतया स्वरूपेणानध्यस्ततया वर्त्तते 'तस्मात्' उत्कृष्टत्वात् एष एव सत्यस्वरूपो न त्वनात्मेत्यर्थः। अनात्मनोऽपि तर्हि सम्बन्ध-

रूपेणैवाध्यस्तत्वं, स्वरूपतस्त्वात्मवदनध्यस्त-परमार्थ-सद्रूप एवानात्मापीति चेत्, न, इत्याह, नह्यन्यदस्तीति। परमार्थत्वाभावे हेतुमाह, अमेयमिति। अज्ञातत्वासम्भवात्मा न सम्बन्धायोग्यत्वादित्यर्थः। ननु प्रमाणाविषयस्याप्यात्मनो यथास्तित्वं तद्वदनात्मनोऽप्यस्तु इत्याशङ्क्यानात्मन आत्मवैषम्यमाह अनात्मप्रकाशमिति। प्रमाणाविषयत्वेऽप्यात्मनः सिद्धिः सम्भवति स्वप्रकाशत्वात्, न त्वनात्मनोऽस्वप्रकाशत्वादित्यर्थः। आत्मनोऽपि स्वप्रकाशत्वं न इति चेत्, न इत्याह, एष हीति। सर्वसाधकस्य स्वप्रकाशत्वमस्याभ्युपगन्तव्यमित्यर्थः। तर्हि स्वप्रकाश आत्मा नात्मानं साधयत्विति चेत्, न, इत्याह, असंङ्गोऽन्यं न वीक्षते आत्मेति। असङ्गत्वादन्यं न प्रकाशयत्यात्मेत्यर्थः।

अतो नान्यत्र प्राप्तिरात्ममात्रं ह्येतदुत्कृष्टम्, एष एवोग्र एष ह्येवोत्कृष्टः, एष एव वीर एष ह्येवोत्कृष्टः, एष एव महाविष्णुरेष ह्येवोत्कृष्टः, एष एव विष्णुरेष ह्येवोत्कृष्टः, एष एव ज्वलन्नेष ह्येवोत्कृष्टः, एष एव सर्वतोमुख एष ह्येवोत्कृष्टः, एष एव नृसिंह एष ह्येवोत्कृष्टः, एष एव भीषण एष ह्येवोत्कृष्टः, एष एव भद्र एष ह्येवोत्कृष्टः, एष एव मृत्युमृत्युरेष ह्येवोत्कृष्टः, एष एव नमाम्येष ह्येवोत्कृष्टः, एष एवाहमेष ह्येवोत्कृष्टः; तस्मादात्मानमेवैवं जानीयादात्मैव नृसिंहो देवो भवति। य एवं वेद सोऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामः, न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।

फलितमाह, अत इति। कथं तर्ह्यनात्म-प्रतिभासो लोकस्येति आत्मन्यध्यस्ततया अनात्मन आत्मव्यतिरेकेणाभावादात्मप्रथामेवानात्मप्रथां मन्यते लोक इत्याह, आत्ममात्रं हीति। अनात्मन एवात्मन्यध्यस्तत्वे पूर्वोक्तं हेतुं स्मारयति, एतद्रुत् सृष्टमिति। 'एतत्' आत्मत्वं स्वतो नाध्यस्तं हीत्यर्थः। अध्यस्तस्यापि द्वैतस्य यदि प्रतीतिः परिहर्त्तुं न शक्या तर्हि सभयत्व-प्रतिभासोऽपि न परिहर्त्तुं शक्यः। न च अनात्मनः कल्पितत्वं निश्चेतुं शक्यते तस्य व्यभिचारासिद्धेरित्ययमपि दोषो नास्ति, यतोऽयमात्मा स्वाध्यस्तसर्व-संहार-समर्थ इत्याह, एष एवोग्र इति। उग्रत्वमेव कुतः? इति तदाह, एष ह्येवोत्कृष्ट इति। उकारस्य तावदेष एवात्मार्थः, यत एष ह्येवोत्कृष्टः। नचोक्तमुत्कृष्टत्वमुग्रत्वं सर्वसंहर्त्तृत्वमन्तरेण निश्चेतुं शक्यते। अत एव उकार एवोग्रपदात्मा सन् उग्रत्वमप्यात्मनो बोधयतीत्यकारस्योग्र-पदात्मत्वमनेनोक्तम्। एवं वीरादि-पदात्मत्वमप्यवगन्तव्यम्, उकारस्य संहार-समर्थत्वेऽपि मन्दप्रस्थानत्वान्न संहरति, किन्तु सर्वमप्यनर्थजातं संहरत एवेत्याद्याशङ्कायामुत्तराण्यपि पदानि तत्तच्छङ्का-निवर्त्तकत्वेनोत्थाप्य तत्तत्पदार्थत्वमात्मन्युकारार्थोत्कर्षान्यथानुपपत्त्या तत्तत्पदात्मकेनोकारेण साधनीयम् एष वीर इत्यादिना। यस्मादुक्तप्रकारेणात्मैव स्वतोऽनध्यस्तः सन् सर्वं संहरति, तस्मादात्मानमेव परमार्थ-सत्यस्वरूपं जानीयादित्याह, तस्मादिति। एवंविदः फलमाह, आत्मैवेति। तत् साधयति सोऽकाम इत्यादिना।

अथैष एव मकारो महाविभूत्यर्थः आत्मन्येव नृसिंहे देवे परे ब्रह्मणि वर्त्तते; तस्मादयमनल्पोऽभिन्नरूपः स्वप्रकाशो ब्रह्मैवात्मतम उत्कृष्टतम एतदेव ब्रह्म,

एवम् अकारोकाराभ्यां ब्रह्मस्वरूपस्य वाक्यार्थान्वय-योग्यस्य प्रत्यगात्मनः प्रतिपत्ति-प्रकारमभिधाय मकारस्यार्थमाह, अथेति। कोऽसौ महाविभूत्याख्यो मकारार्थ इति प्रत्यग्रूपं ब्रह्मेत्याह, आत्मन्येवेति। देव-पर-शब्दाभ्यां मकारस्य तत्पदार्थ-वाचकत्वं सूचितं, तत्पदार्थे हि देवत्वं परत्वञ्च प्रसिद्धं महाविभूतिपदे दृश्यमानोऽयं मकारो महाविभूतिपदात्मक एवेति महाविभूतिविशिष्टे ब्रह्मण्येवंवर्त्तत इत्यर्थः। ननु ब्रह्मणः प्रत्यगात्मत्वे प्रत्यगात्मवत् ब्रह्मणोऽपि परिच्छेदादि-प्रशक्तिरित्युक्तं प्रत्यक्-स्वरूप-विस्मरणशीलस्य मतमाशङ्क्य ब्रह्माभेदात् प्रत्यगात्मनोऽप्यपरिच्छिन्न-चैतन्यादिरूपत्वं किं न स्यादित्याह, तस्मादयमनल्पइति। 'तस्मात्' परिपूर्ण-ब्रह्मणः प्रत्यग्रूपत्वात् 'अयं' प्रत्यगात्मा मन्दैः परिच्छिन्नत्वेन गृह्यमाणोऽपि परमार्थतोऽनल्प इत्यर्थः। उभयथापि सम्भवे कस्तर्हि निर्णय इत्याशङ्क्य प्रत्यक्-स्वरूपनिरूपणे तस्यापि ब्रह्मवत् परिच्छेदाद्यभावात् न तदभेदेन ब्रह्मणोऽपि तत्प्रसङ्ग इति वदन् प्रत्यक्चैतन्यस्य सर्वत्रैकरूप-त्वादौपाधिके च भेदप्रतीतिरित्याह, अभिन्नरूप इति। स्वयं प्रकाशस्यात्मनः परिच्छेदग्रहणानुपपत्तेश्चापरिच्छिन्नोऽयमित्याह। स्वप्रकाश इति। स्वप्रकाशत्वेन च सर्वस्यापि ब्रह्मलक्षणस्य सम्भवान्निरूपिते ब्रह्मैवायमात्मेति आह, ब्रह्मैवेति। साक्षाद-

परोक्षचिद्रूपत्वं तावत् स्वप्रकाशत्वे सिध्यति नित्यापरोक्षस्यात्मनो नित्यसद्रूपत्वमपि सिध्यति; ततश्च सत्तास्फूर्त्त्योरन्यनैरपेक्ष्येण स्वातन्त्र्यादनन्यशेषत्वेनानन्दरूपत्वमपि सिध्यति। अन्यच्च ब्रह्म लक्ष्यत्वेन श्रूयमाणमेवं प्रतिपादनीयम् आत्मन्यकारौकाराभ्यां प्रत्यगात्मन आप्ततमत्वमुत्कृष्टतमत्वञ्चोक्तम्। तदपि ब्रह्मरूपत्व एव सम्भवतीत्याह, आप्ततम उत्कृष्टतम इति। आप्ततमत्वमुत्कृष्टतमत्वञ्च ब्रह्मण एवेति पूर्वेण सम्बन्धः। एवं प्रत्यगात्मस्वरूपनिरूपणेन तस्य ब्रह्मत्वमभिधाय ब्रह्मस्वरूपालोचनायां ब्रह्माप्यात्मैव इत्याह, एतदेव ब्रह्मेति।

अपि सर्वज्ञं महामायं महाविभूति, एतदेवोग्रमेतद्धि महाविभूति, एतदेव वीरम् एतद्धि महाविभूति, एतदेव महदेतद्धि महाविभूति, एतदेव विष्णुरेतद्धि महाविभूति, एतदेव ज्वलदेतद्धि महाविभूति, एतदेव सर्वतोमुखमेतद्धि महाविभूति, एतदेव नृसिंहमेतद्धि महाविभूति, एतदेव भीषणमेतद्धि महाविभूति, एतदेव भद्रमेतद्धि महाविभूति, एतदेव मृत्युमृत्युरेतद्धि महाविभूति, एतदेव नमाम्येतद्धि महाविभूति, एतदेवाहमेतद्धि महाविभूति;

ननु सर्वज्ञं सर्वशक्ति-महाविभूति-सम्पन्नञ्च ब्रह्म श्रूयते अतस्तन्निरूपणायां कथं तस्य तद्रहित-प्रत्यग्रूपत्वमिति (१) चेत् नायं दोषः। सर्वं जानातीत्यादि व्युत्पत्त्या सर्वज्ञत्वा-

(१) क, प्रत्यगुरूपत्वमिति।

दीनां कल्पितजगत्-सापेक्षत्वेन कल्पितत्वान्न तेषां परमार्थ-ब्रह्मस्वरूपत्वं परमार्थ-ब्रह्मस्वरूपस्य च प्रत्यग्रूपत्वमुच्यत इति न विरोधः। अथ सर्वज्ञ तत् ब्रह्मेत्यादिव्युत्पत्त्या ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वादित्वमुच्यते, तथापि न विरोधो ब्रह्मणः प्रत्यक्त्वे प्रतीचोऽपि तथात्वादित्याह, अपि सर्वज्ञं महामायं महाविभूतीति। एवं विधमपि ब्रह्मात्मैवोक्तयुक्त्येत्यर्थः। उक्तञ्च वार्त्तिककृद्भिः। "उक्तं कल्पितमेव स्यात् समानाधिकृतेस्तु वा" इति। सर्वं जानातीति सर्वज्ञमिति पक्षे तर्हि मायामयं जगदभ्युपगन्तव्यं पक्षान्तरेऽपि ब्रह्मशब्दव्यतिरेकेण सर्वशब्दप्रयोगाच्च सर्वमभ्युपगन्तव्यम्। अतश्च मायामयस्यापि द्वितीयप्रतिभासस्य विद्यमानत्वात्तद्-दुःखप्रतिभासोऽपि स्यादेव ब्रह्मणः। न च महाविभूतिरूपत्वं देशतः कालतो वस्तुतश्चापरिच्छिन्नविभूतित्वं निषेद्धुं शक्यते सर्वस्य मायामयत्वञ्च न निषेद्धुं शक्यत इति चेत, न, सर्वसंहार-समर्थत्वाद्ब्रह्मण इत्याह, एतदेवोग्रमिति। उग्रत्वमेव कुतः? इति तदाह, एतद्धि महाविभूतीति। मकारस्य तावदेतदेव ब्रह्मार्थः। यत एतदेव महाविभूति, नचोक्तं महाविभूतित्वम् उग्रत्वं सर्वसंहर्त्तृत्वमन्तरेण निषेद्धुं शक्यम, अतो मकार एवोग्र-पदात्मा सन् उग्रत्वमपि ब्रह्मणो बोधयतीति मकारस्योग्रपदात्मत्व-मनेनोक्तम्। एवं वीरादिपदात्मत्वमप्यवगन्तव्यम्, मकारस्य सर्व-संहार, समर्थत्वेऽपि न संहरतीत्याशङ्कायामुत्तराण्यपि पदानि तन्निवर्त्तकत्वेनोत्थाप्य तत्तत्पदार्थात्मत्वं ब्रह्मणि मकारार्थे महाविभूत्यन्यथानुपपत्त्या तत्तत्पदात्मकेन मकारेण साधनीयम्, एतदेव वीरमित्यादिना।

तस्मादकारोकाराभ्यामिममात्मानमाप्ततममुत्कृष्टतमं चिन्मात्रं सर्व्वद्रष्टारं सर्व्वसाक्षिणं सर्व्वग्रासं सर्व्वप्रेमास्पदं सच्चिदानन्दमात्रमेकरसं पुरतोऽस्मात् सर्व्वस्मात् सुविभातमन्विष्याप्ततममुत्कृष्टतमं चिन्मात्रं महाविभूतिं सच्चिदानन्दमात्रमेकरसं परमेव ब्रह्म मकारेण जनीयात्, आत्मैव नृसिंहो देवः परमेव ब्रह्म भवति, य एवं वेद सोऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामः, न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति इति ह प्रजापतिरुवाच॥ पञ्चमः खण्डः ॥५॥

एवं पदार्थद्वयमितरेतर-पर्य्यवसितं संशोध्य उक्तमेवार्थमनुवदन् सामानाधिकरण्यमेकत्वलक्षणं वाक्यार्थमाह, तस्मादित्यादिना। यस्मादेवं प्रत्यक्-प्रत्यग्-ब्रह्मणोरेकत्वमविरुद्धं, तस्मादकारोकाराभ्यामिमं प्रत्यगात्मानम् 'अन्विष्य' प्रतिपद्य मकारेण ब्रह्म जानीयादित्युत्तरेणान्वयः। इममित्युक्तमात्मानं विशिनष्टि तस्य ब्रह्मणैकत्व-योग्यत्व-प्रदर्शनार्थम्, आप्ततममुत्कृष्टतममिति। आप्ततमोत्कृष्टतमत्वयोः सर्वाधिष्ठानचिन्मात्रत्वं हेतुमाह, चिन्मात्रमिति। द्रष्टृ-दृश्यान्वय-व्यतिरेकेण चिद्रूपत्वं साधयति, सर्वद्रष्टारमिति। द्रष्टृत्वं नाम दर्शनकर्त्तृत्वम्; अतः कथं चिन्मात्रत्वमित्याशङ्क्य साक्षिसाक्ष्यान्वय-व्यतिरेकेण सर्व्वक्रिया-निरासेन चिन्मात्रत्वमित्याह, सर्वसाक्षिणमिति। साक्षात् क्रियाव्यव-

ध्यानमन्तरेण स्वात्मनैव सर्वमीक्षत इति साक्षी; ततश्च चिन्मात्र-रूपत्वं सिद्धम्। अथ साक्षिणः साक्ष्यसद्भावेन प्राप्तं सद्वितीयत्वं परिहरन् सद्रूपत्वमानन्त्यञ्चागमापायि तदवध्यन्वय-व्यतिरेकेणाह, सर्वग्रासमिति। आगमापायवतां कल्पितानां जाग्रदादीनां साक्ष्यरूपाणां सर्वकल्पनाधिष्ठानादिरूप-सच्चिन्मात्रात्म-व्यतिरेकेणासत्त्वात् सर्वसंहर्त्तारमित्यर्थः। अथास्य पुरुषार्थ-रूपत्वाय दुःखिप्रेमास्पदान्वय-व्यतिरेकमाश्रित्य परमानन्दरूपत्वमाह, सर्व-प्रेमास्पदमिति। परमप्रेमास्पदत्वात् परमानन्दरूपत्वमित्यर्थः। अन्वय-व्यतिरेक-चतुष्टय-सिद्धफलं स्वयमेवाह, सच्चिदानन्दमात्र-मेकरसमिति। सन्मात्रं चिन्मात्रमानन्दमात्रमिति, मात्रपदं प्रत्येकं सम्बन्धनीयम्; सदादिषु स्वगतभेद-निरासाय सदादीनां परस्पर-भेदाभावादेकरस्यमुक्तम्। ऐकरस्यं युक्तितः साधयति सदादीनां, पुरतोऽस्मादिति। ग्रन्थस्त्वस्य माण्डूक्योक्त-प्रकारेण द्रष्टव्यः। एवं ब्रह्मलक्षण-लक्षितमात्मानमन्विष्य प्रतिपद्य किं कार्य्यमित्याह, आप्ततममित्यादिना। आप्ततममित्यादिकं ब्रह्मणो विशेषणं, प्रत्यगात्मनोऽपि ब्रह्मरूपत्वेन ह्याप्ततमत्वादिकमुक्तम्; अतः प्रत्यगात्मन्युक्तमवाप्ततमत्वादिकं ब्रह्मणो विशेषणत्वेनोच्यते, तयोरत्यन्तैक्य-प्रदर्शनाय पूर्वमेवाकारोकाराभ्याम् उक्तलक्षण-मात्मानमन्विष्य मकारेण चोक्तरूपं ब्रह्मान्विष्य सामानाधिकरण्येन तयोरेकत्वमोमिति जानीयादित्यर्थः। एवं ब्रह्मात्मैकत्वविदः फलमाह, आत्मैवेत्यादिना। पूर्वत्रापि पदार्थज्ञानस्य इदमेव फलमनूदितम्। वाक्यार्थज्ञान-पर्य्यन्तत्वात् पदार्थज्ञानस्य। इह तु परमेव ब्रह्म भवतीति विशेषो दर्शितः। यद्यपि वाक्यार्थ-

ज्ञान-पर्य्यन्तमेव पदार्थज्ञानमपीति पदार्थज्ञानेनापि ब्रह्मत्वं कथञ्चित् सम्भाव्यते तथापि पदार्थज्ञानमात्रस्याज्ञान-निवर्त्तकत्वाभावादपर-ब्रह्मत्वमपि भात्येव तत्र। इह तु वाक्यात्मना प्रणवेन परब्रह्मरूपात्मतया ज्ञानमज्ञान-कार्य्यत्वादपरब्रह्मात्मत्वेन निवृत्तेः स्वतः परमेव ब्रह्म भवतीत्यर्थविशेषः परशब्द-प्रयोगादवशीयते। इति ह प्रजापतिरुवाचेति विद्यां स्तौति श्रुतिः॥

इत्युत्तरतापनीये पञ्चमः खण्डः॥ ५॥

ते देवा इममात्मानं ज्ञातुमैच्छन्; तान् हासुरः पाप्मा परिजग्रास; त ऐक्षन्त; हन्तैनमासुरं (१) पाप्मानं परिग्रसाम (२) इति। तमेवोङ्काराग्रविद्योतं तुरीयतुरीयमात्मानमुग्रमनुग्रं वीरमवीरं महान्तममहान्तं विष्णुमविष्णुं ज्वलन्तमज्वलन्तं सर्वतोमुखमसर्वतोमुखं नृसिंहमनृसिंहं भीषणमभीषणं भद्रमभद्रं मृत्युमृत्युममृत्युमृत्युं नमाम्यनमाम्यहमनहं नृसिंहानुष्टुभैव बुबुधिरे। तेभ्यो हासावासुरः पाप्मा सच्चिदानन्दघनं ज्योतिरभवत्। तस्मादपक्व-कषायमिममेवोङ्काराग्र-विद्योतं तुरीयतुरीयमात्मानं नृसिंहानुष्टुभैवं जानीयात्। तस्य हासुरः पाप्मा सच्चिदानन्दघनं ज्योतिर्भवति।

---

(१) क, ग, हन्मेनमासुरं। (२) क, ख, ग, परिजग्रासामः॥

अथ मन्दमध्यमोत्तमाधिकारि-भेदेन स्वरूपप्रतिपत्ति-साधनभेदं विधातुं खण्डान्तरमारभते, देवा इति । तत्र मन्दानां सप्रणव-नृसिंहानुष्टुब्निष्ठा प्रथमतः कार्य्येति सेतिहासमाह, ते देवा इति। 'ते देवाः' एवं प्रजापतिनानुशिष्टाः 'इमं' यथोपदिष्टं ब्रह्मात्मानं ज्ञानं 'ज्ञातुमैच्छन्' ज्ञानसाधनं ध्यानादिकं कर्त्तुमुपक्रान्तवन्त इत्यर्थः । उपक्रममात्र एव च स 'तान्' देवान 'ह' प्रसिद्धो 'आसुरः पाप्मा' विषयासङ्गाविवेक-परिच्छेदाभिमानादि-लक्षणो वहिर्मुखैः प्राणै-रसुरैः चिप्तः पाप्मा 'परि' समन्ततः 'जग्रास' कवलीकृतवान् । अन्तःकरणशुद्ध्यभावाद्विषयासङ्गादिकं बाल्येनाभूदित्यर्थः । 'ते' देवाः एवं पाप्मना ग्रस्यमाना अपि समस्तग्रासात् पूर्वमेवा-वगतसाधनैः किञ्चिच्छुद्धान्तःकरणत्वात् 'ऐक्षन्त' आलोचनं कृतवन्तः । कथमिति तदाह । 'हन्त' इदानीम् 'एनम्' अस्मत्पुरुषार्थ-विरोधिनमासुरं पाप्मानं 'परिग्रसामः' स्वात्मानु-सन्धानेन तावन्मात्रतया संहराम इत्यर्थः* । एवमीक्षित्वा किं कृतवन्त इत्याह, तमेवेत्यादिना(१) । तमेव(२) ओङ्कारात्र एव विद्योतं तुरीयतुरीयमित्यात्मानं नृसिंहानुष्टुभैव बुबुधिरे इत्युत्तरत्रान्वयः । कथम्भूतमात्मानमित्याह, उग्रमनुग्रमित्या-दिना । उग्रमिति वाक्यजन्य-वृत्त्यभिव्यक्तस्य तुरीयतुरीयस्य सर्वसंसार-संहर्त्तृत्वमुच्यते । अनुग्रमिति तदापि परमार्थतः स्व-महिमस्थतया कूटस्थत्वेन परमार्थतोऽकर्त्तृत्वमुच्यते । अथवानुग्र-

* हन्तेत्यनुमतौ, सर्व्वानुमतिसेदासुर पाप्मानं परिग्रसाम इति स्वाभाविकीं प्रवृत्तिं विलीकुर्म्म इति नारायणी व्याख्या ।

(१) क, ख, तमेतमेवेत्यादिना । (२) क, ख, तमेतमेव ।

मित्ययमर्थः। उपत्वं नाम न धर्मः, किन्तु स्वरूपमेवेति। एवं वीरमवीरमित्यादिकमपि योज्यम्; चतुर्मात्रमोङ्कारमुच्चार्य तुरीयतुरीयं क्रमेण प्रतिपद्य तमेव तुरीयं नृसिंहानुष्टुभा च पुनः पुनर्ध्यातवन्त इत्यर्थः। एवं तुरीयध्याने प्रवृत्तानामासुरः पाप्मा विनष्ट इत्याह, तेभ्य इति। तेषां परिच्छेदको योऽसावासुरः पाप्मा पूर्वमभूत् स तुरीयध्यानवशात् किञ्चिदन्तर्मुखे चित्ते सति सच्चिदानन्दघन-कारणात्मकं ज्योतिरभवत्, सद्रूपस्य हि कारणात्मनोऽनृतादि-विरुद्धात्म-स्वरूपाभास-विशिष्टत्वेन सच्चिदानन्दरूपत्वमस्तीति पूर्वमेवोक्तम्; अतः कार्य्यरूप-परिच्छिन्नात्मतां संहृत्य कारणात्मतां प्राप्ता देवा इत्यर्थः। तस्माद्देववदन्येनापि मन्देन प्रथमत एव प्रतिपत्तव्यम् इत्याह, तस्मादिति। तस्याप्युक्तफलप्राप्तिमाह, तस्येति।

ते देवा ज्योतिष उत्तितीर्षवो(१) द्वितीयाद्भयमेव पश्यन्त इममेवोङ्काराग्र-विद्योतं तुरीयतुरीयमात्मानं वै नृसिंहानुष्टुभान्विष्य प्रणवेनैव तस्मिन्नवस्थिताः। तेभ्यस्तज्ज्योतिरस्य सर्वस्य पुरतः सुविभात-मविभात-मद्वैत-मचिन्त्य-मलिङ्गं स्वप्रकाशमानन्दघनं शून्यमभवत्। एवंवित् स्वप्रकाशं(२) परमेव ब्रह्म भवति।

एवं मन्दानां प्रणवान्ते मन्त्रराजेन तुरीयप्रतिपत्तिमभिधाय

(१) क, ख, ज्योतिषमुत्तितीषवो॥ (२) क, ख, एवं विद्वत्प्रकाशं।

तेषामेव मध्यमावस्थाप्राप्तानां कश्चित् कालं मन्त्रराजेन तुरीयं सञ्चिन्त्य चित्ते अभिज्वलिते प्रणवेनैव तुरीयः प्रतिपत्तव्य इत्याह आख्यायिकाद्वारेण, ते देवा इति। तदेवं कारणात्मकज्योतिरात्मतां प्राप्ता अन्तःकरण-शुद्धातिशयात् कारणात्मक-ज्योतिषोऽप्युत्तितीर्षवः कारणात्मत्वमप्यतिक्रम्य तुरीयात्मत्वकामा इत्यर्थः। उत्तितीर्षव आत्मानमनुष्टुभान्विष्य प्रणवेनैव तस्मिन्नवस्थिता इत्युत्तरत्रान्वयः। ज्योतिष उत्तितीर्षुत्वे कारणमाह, द्वितीयादिति। ते पुनस्तत्साधनत्वेन किं कृतवन्त इत्याह, इममेवेति। सर्वसाधकतया सर्वेषां प्रत्यक्षमेवेत्यर्थः, अनुष्टुभा कश्चित् कालमन्विष्य पुनर्विक्षेपनिवृत्त्यर्थं तां परित्यज्य प्रणवेनैव केवलेन 'तस्मिन्' आत्मनि अवस्थिता इत्यर्थः। उक्तञ्च। "विक्षेपविनिवृत्त्यर्थं तदेतद्गण्यते मया" इति। तुरीयप्रणव-कथनमपि अक्षरभेद-तदर्थचिन्ता-विक्षेप-निवृत्त्यर्थमेव। एवं प्रणवेन तुरीय-प्रतिपत्तिबलात् देवानां जीवात्मा तुरीये लीन इत्याह, तेभ्य इत्यादिना। तेभ्यः 'तत्' कारणात्मकं ज्योतिः 'अस्य' कार्य्य-कारणात्मकस्य जगतः 'पुरतः' पूर्वमेव तत्तत्साधकत्वेन सुविभातं स्वयं प्रकाशत्वात्, अविभातमविषयत्वात्। सर्वस्य पुरत इत्युक्ते पुरतः सर्वसत्त्वशङ्कायामाह, अद्वैतमिति। अविभातत्वे स्वयमेव हेतुमाह, अचिन्त्यमलिङ्गमिति। सुविभातत्वे हेतुमाह, स्वप्रकाशमिति। तस्य स्वत एव पुरुषार्थरूपत्वमाह, आनन्दघनमिति। आनन्दस्य लोके सातिशयत्वादिना प्राप्तं सविषयत्वं निराचष्टे, शून्यमिति। देववदन्यस्याप्येवंविद एतदेव फलमाह, एवंविदित्यादिना।

ते देवाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च ससाधनेभ्यो व्युत्थाय निरहङ्कारा निरागारा निष्परिग्रहा अशिखा अयज्ञोपवीता अन्धा वधिरा मुग्धाः क्लीवा मूका उन्मत्ता इव परिवर्त्तमानाः,

अथोत्तमानां सर्वकर्म्म-सन्न्यासपूर्वकं प्रणवेनैव तुरीयेऽवस्थानं कर्त्तव्यमित्याह, ते देवा इत्यादिना। 'ते' एवं प्रणवद्वारेण तुरीयनिष्ठा-योग्यतां प्राप्ताः देवाः 'पुत्रैषणायाश्च' एतल्लोकजय-साधनपुत्राद्यर्थ-प्रवृत्त्यादेः 'वित्तैषणायाश्च' नित्यनैमित्तिक-कर्म्मादेः 'लोकैषणायाश्च' लोकाद्यर्थकामादेश्च 'ससाधनेभ्यः' साधन-सहितेभ्यः उक्तेभ्यः कर्म्मभ्यो व्युत्थायेति, ससाधनानां सर्वेषां कर्म्मणां सन्न्यासोऽभिहितः, एवं सन्न्यस्तसर्वसाधनानां वर्त्तनप्रकारमाह, निरागारा इत्यादिना। 'निरागाराः' वासार्थं नियताश्रय-रहिताः 'निष्परिग्रहाः' देहयात्रामात्रसाधनातिरिक्त-परिग्रहरहिताः 'अशिखाः' शिखारहिताः 'अयज्ञोपवीताः' यज्ञोपवीतरहिता इति, ससाधनैषणा-त्यागाभिधानेनैव सिद्धस्य शिखा-यज्ञोपवीत-त्यागस्य पुनर्वचनेन परमहंसवृत्तावादरो दर्शितः। त्यक्तसर्वैषणानामपि जीवनबलात् प्राप्तविषयेन्द्रियसान्निध्ये तत्र तद्विषय-राग-द्वेष-परिहारेणाविकृततया सुप्तवद्वर्त्तनं कार्य्यमित्याह, अन्धा इत्यादिना। सर्वेन्द्रियविषय-सान्निध्येऽपि अविकृता इत्यर्थः। 'अन्धाः' चक्षूरहिताः 'वधिराः' श्रोत्ररहिताः 'मुग्धाः' अप्ररूढमनसः 'क्लीवाः' प्रजननसामर्थ्यरहिताः 'मूकाः' वागुच्चारण-सामर्थ्य-रहिताः,उन्मत्ता इव,

इवशब्दोऽन्धादिपदेनापि योज्यः। अन्धा इवेत्यादिक्रमेण, यथा उन्मत्ता न कस्यचिदप्युपादेयाः, तथा सर्वैरनुपादेयाः जडोन्मत्त-पिशाचवच्छास्त्रोक्तक्रमेण 'परिवर्त्तमानाः' परितो गच्छन्त इत्यर्थः।

**शान्ता दान्ता उपरतास्तितिक्षवः समाहिता आत्म-रतय आत्मक्रीडा आत्ममिथुना आत्मानन्दाः प्रणवमेव परमं ब्रह्मात्मप्रकाशं शून्यं जानन्तस्तत्रैव परिसमाप्ताः;**

एवं सर्ववाह्यविषय-परित्यागाद्विषय-राग-द्वेष-परित्यागादिकस्याभिधाय तदुपायत्वेन शान्त्यादिकं कर्त्तव्यमित्याह, शान्ता इत्यादिना। 'शान्ताः' उपरतवाह्येन्द्रियाः निरुद्धेन्द्रियवहिःप्रसरा इत्यर्थः। 'दान्ताः' उपरतान्तःकरणाः निरुद्धवहिःप्रसरान्तःकरणा इत्यर्थः। अन्तःकरणोपरतौ विषयसङ्कल्पादिवर्ज्जनं साधनमाह, उपरता इति। असङ्कल्पितस्यापि शीतोष्णादि-द्वन्द्वस्य प्राप्तौ तत्सहिष्णुत्वं कार्य्यमित्याह, तितिक्षव इति। उक्तानां शान्त्यादीनां साधकं परमुपायमाह, समाहिता इति। वाह्यान्तःकरणगणमन्तर्मुखमेकीकृत्य सर्वद्वैतजात-स्मरणपूर्वकं तत्साक्ष्यनुसारेणावस्थाने समाधानं नाम, एतदेव समाधानं साध्यं साधनञ्च भवति। आत्मनि चित्तसमाधानमेव हि पूर्णसमाधिलाभ-साधनं तस्यैवं समाधान-प्रवृत्तस्य पूर्णसमाधि-लाभाय साधनमाह, आत्मरतय इत्यादिना। 'रतिः' इष्टे अन्नादिविषये मनसः प्रावण्यं प्रीतिः। अयमर्थः, यदा

समाहित-चित्तस्यापि क्षुधादिवशात् अन्नरसादिसाध्य-सुखेच्छया मनश्चलनयाभिमुखं भवति; तदा तत्सुखस्याध्यात्म-स्वरूप-परमानन्दान्तर्भाव-समाधान-पूर्वकं परमानन्दरूपे साक्षिण्येव मनो नियमितव्यमिति, 'रतिः' अन्नलाभादि-निमित्तसुखं, तदात्मन्येव येषां ते आत्मरतयः, एवमुत्तरमपि योज्यम्। 'क्रीड़ा' सख्यादि-मेलनाभिव्यक्तं सुखं विवक्षितम्, तत्साधनभूता हि क्रीड़ा, मिथुनमिति मिथुनसाध्यं सुखम्, आनन्द इति सामान्यं सुखमात्रं विवक्षितम्। एवं समाधिना शुद्धान्तःकरणानां सम्यग्-ज्ञानोदयो भवति इत्याह, प्रणवमेवेत्यादिना। प्रणवमेवेति एवशब्देनानु-ष्टुभोऽपि त्यागोऽभिहितः। प्रणवमिति च ब्रह्मैवोच्यते, प्रणत-मवतीति, न हि इतरस्याक्षरात्मकस्य परब्रह्मणा सामानाधि-करण्यं सम्भवति ब्रह्मचैतन्यमेव नामरूपोपाधिद्वारा वाच्य-वाचकरूप-प्रणवात्मतां प्राप्तमिति च, ब्रह्मणि प्रणवशब्दो युक्तः। वर्णान्तरेभ्यश्चास्य सारसारत्वमेतद्गत-वर्णत्रयस्य सर्व-वर्ण-तद्-र्थक-बलवद्रूपत्वादिनावगन्तव्यम्। जानन्त इति वचनेन प्राप्तं ज्ञेयत्वं परिहरति, आत्मप्रकाशमिति। स्वयं प्रकाशमित्यर्थः। स्वयं प्रकाशधर्मत्वं व्यावर्त्तयति, शून्यमिति। निर्विशेषमित्यर्थः। ब्रह्मज्ञानफलं ब्रह्मात्मत्वं दर्शयति। तत्रैवेति।

तस्माद्देवानां व्रतमाचरन्नोङ्कारपरे ब्रह्मणि पर्यवसितो भवेत्। स आत्मनैवात्मानं परमं ब्रह्म पश्यति; तदेष श्लोकः।

षडङ्गेषु षडङ्गं संयोज्य सिंहं षडङ्गेषु योजयेत्।
षडङ्गाभ्यां षडङ्गमाबध्य त्रयो देवा उदासते(१) इति ॥

षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥

यस्मात् देवा उक्तसाधनेन ब्रह्म विज्ञाय मुक्ताः, तस्मादन्येनाप्येतदेव वेदन-साधनमनुष्ठेयमित्याह, तस्मादिति। सर्व-कर्म्म-सन्न्यास-पूर्व्वकं प्रणवेनात्मनिष्ठा देवानां व्रतम्। तस्यापि देववदेव ब्रह्मज्ञान-पूर्व्वकं ब्रह्मण्यवस्थानफलमाह, स आत्मनैवेति। 'सः' यथोक्त-साधनवान् 'आत्मनैव' प्रत्यगात्म-स्वरूपेणैव ब्रह्म पश्यति; ततश्चाज्ञाननिवृत्तौ स्वात्मन्येवावतिष्ठते इत्यर्थः।

खण्डद्वयोक्तेऽर्थे श्लोकमवतारयति, तदेष इति। 'तत्' तत्रोक्तेऽर्थे एषः 'श्लोकः' मन्त्रो भवति। शृङ्गेषु छन्दसामृषभस्य प्रणवस्य 'शृङ्गेषु' मात्रासु अकारोकार-मकारेष्वित्यर्थः। अशृङ्गमात्रं निरवयवं तुरीयम् आत्मानं 'संयोज्य' वाच्यतया सन्धाय अकारोकाराभ्यां त्वम्पदार्थरूपं मकारेण तत्पदार्थरूपञ्च प्रतिपाद्येत्यर्थः। 'सिंहं' नृसिंहानुष्टुभं तुरीयगत-सर्व-संहर्त्तृत्वादिवाचकम, 'शृङ्गेषु' अकारादिषु तत्त्वम्पदार्थरूपात्मवाचकेषु तद्गत-सर्वसंहर्त्तृत्वादि-वाचकत्वाय 'योजयेत्' अन्तर्भूतं भावयेदित्यर्थः। एवं पदार्थशोधनं विधाय 'शृङ्गाभ्याम्' अकारोकाराभ्यां तदर्थ-प्रत्यगात्म-स्वरूपेणेत्यर्थः, 'शृङ्गं' मकारं तदर्थं ब्रह्मेत्यर्थः। 'आबध्य' आभीक्ष्ण्येनात्यन्तैकत्वेन संयोज्य प्रतिपाद्ये-

(१) क, ग, उपासते।

त्यर्थः। इति पञ्चमखण्डार्थ उक्तः। षष्ठखण्डार्थमाह, त्रयो देवा इति। त्रयो देवा मन्द-मध्यमोत्तम-भेदेन 'उत्' ऊर्द्ध्वं सर्वसंसार-मतिक्रम्य तदूर्द्ध्वमासते। सर्वेषां हि देवानां तुरीयप्रतिपत्तेर्विद्यमानत्वादुदासनं न विरुध्यते, तुरीय-प्रतिपत्तेश्चलत्व-चलाचलत्वा-चलत्वकृतस्तु विशेषः साधन-वैशिष्ट्यावैशिष्ट्य-निमित्तश्च। *

इत्युत्तरतापनीये षष्ठः खण्डः॥ ६॥

---

* अत्र मन्त्रसङ्गतिमाह, तदेष इति। 'भृङ्गेषु' अकारादिप्रतीकेषु विश्व-तैजस-प्राज्ञेषु 'भृङ्ग' तुरीयं 'संयोज्य' एकीकृत्य चतुर्णामात्मनां भृङ्गत्वं लोकेऽपि सुप्रसिद्ध-त्वात्। 'सिंहं' नृसिंहं 'भृङ्गेषु' आत्मसु 'योजयेत्' नृसिंहात्मनोरैक्यं निश्चिनुयात्। 'भृङ्गाभ्याम्' अकारोकारार्थाभ्यां ब्रह्म-विष्णुभ्यां 'भृङ्ग' मकारार्थं रुद्रम् 'आबध्य' सम्बध्य योजयित्वा प्रणवं निष्पाद्य तन्निष्ठाः 'त्रयो देवाः' धर्मार्थ-कामेप्सवः 'उदासते' मुमुक्षवो भवन्ति। तेनान्योऽपीदानीन्तनो मुमुक्षुः आत्मचतुष्टयमेकीकृत्य तेन नृसिंहेनैक्यं निश्चित्य प्रणवपरो भूत्वा धर्मादिफलेषु विरज्येतेति भावः। अथवा 'भृङ्गेषु' अनुष्टुप्-पादेषु 'भृङ्गम्' ओङ्कारं 'संयोज्य' अनुष्टुभं प्रणवपुटितां कृत्वा 'भृङ्गेषु' अनुष्टुप्-पादेषु प्रत्येकं 'सिंहं' नृसिंहं योजयेत्। उक्तमार्गेण 'भृङ्गाभ्याम्' अकार-मकाराभ्यां 'भृङ्गम्' 'उकारम्' आबध्य ओङ्कारं निष्पाद्येत्यर्थः, 'त्रयो देवाः' ब्रह्मादयः परमोपदेष्टारः 'उदासते' अतःपरमुपदेष्टृत्वं नास्तीत्युपदेश-विषये उदासीना भवन्ति, अयमेव परमोपदेश इत्यर्थः। इति नारायणी व्याख्या।

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्, भूय एव नो भगवान् विज्ञापयत्विति। तथेत्यजत्वा-दमरत्वा-दजरत्वा-दमृतत्वा-दभयत्वा-दशोकत्वा-दमोहत्वा-दनशनायत्वा-दपिपासत्वा-दद्वैतत्वाच्चाकारेणेममात्मानमन्विष्योत्कृष्टत्वा-(१) दुत्पादकत्वा-दुत्प्रवेष्टृत्वादुत्थापयितृत्वा-दुद्द्रष्टृत्वा-दुत्कर्त्तृत्वा-दुत्पथ-वारिकत्वा-(२) दुद्ग्रासकत्वा-दुद्भ्रान्तकत्वा-दुत्तीर्ण-विकृतित्वाच्चोङ्कारेण परमं सिंहमन्विष्य,

अथ प्रणवेन ब्रह्मात्मनोर्व्यतिहारेण प्रतिपत्ति-प्रकार-दर्शनाय खण्डान्तरमारभते, देवा इति। भेदाभेदशङ्का-निरासेनात्मनैक्य-प्रतिपत्त्यर्थं तत्प्रकारं भूय एव भगवान् नो विज्ञापयत्विति देवैः प्रार्थितः ओमित्यनुजानाति प्रजापतिस्तथेति। तत्र एकेनैव प्रणवेन व्यतिहार-प्रतिपत्तये अकारस्य प्रत्यगर्थत्वम्, उकारपूर्वोत्तरार्द्धयोर्ब्रह्मार्थत्वं, मकारस्य पुनरपि प्रत्यगर्थत्वञ्च वदन् अकारेण प्रत्यक्-प्रतिपत्तावकार-प्रतीचोर्वाच्य-वाचकभावे उपपत्तिमाह, अजत्वादित्यादिना। आत्मा तावदजत्व-गुणविशिष्टः, तथाविधात्म-वाचकोऽयमजशब्दः, तस्य शब्दादिभूतोऽयं प्रणवस्थोऽकारः; तस्मादजशब्द एव सः; तस्मादजत्वगुण-विशिष्ट-प्रत्यगात्म-वाचको ऽयमकारः। एवमकार-

(१) उत्कृष्टत्वादित्यत्र उदुत्कृष्टत्वादिति पाठो भाष्यसम्मतः। स तु बहुषु मूलग्रन्थेषु चादृष्टत्वात् दीपिकाकृताप्यदृतत्वाच्च मूले नैव निवेशितः।

(२) क, ग, उत्पथवारिकत्वा।

त्वादिरूपाम-वाचकत्वमप्यकारस्य द्रष्टव्यम्। तत्राद्येन हेतु-चतुष्टयेन देहधर्मा निषिद्धाः, ततस्त्रयेण बुद्धिधर्माः, ततो द्वाभ्यां प्राणधर्मौ, तत एकेन सामान्येन सर्व्वे धर्मा निषिद्धा इति विभागः। अन्विष्येत्यादि-पदानामेकीकुर्य्यादित्युत्तरणान्वयः। एवं लक्षणयाकारस्य शुद्धप्रत्यगर्थतामभिधाय उकारोच्चारण-समये किञ्चिद्दीर्घतया मात्राद्वय-विशिष्टस्योकारस्य ब्रह्मार्थत्वयुक्तिमाह, उदुत्कृष्टत्वादित्यादिना। उत्कृष्टत्वधर्मा-दुत्कृष्टत्वे सत्युदुत्कृष्टत्वम्; उत्पादकत्वादिकमप्येवं द्रष्टव्यम्। 'उत्कृष्टत्वं' सर्व्वसंसारधर्म-वर्जितत्वं, ब्रह्मणः सर्व्वज्ञत्वादि-गुण-विशिष्टत्वं वा, 'उत्पादकत्वं' सर्व्वस्रष्टृत्वं ब्रह्मरूपेण। सृष्टे जगति जीवरूपेण प्रवेष्टृत्वं तन्नियन्तृरूपेण स्थापयितृत्वं विष्णुरूपेण। प्रविष्टस्य द्रष्टृत्वं कर्त्तृत्वञ्च बुद्धि-प्राणोपाधितया। 'उत्पथ-वारिकत्वं' नियन्तृत्वमीश्वररूपेण। 'उद्ग्रासकत्वं' सर्व्वसंहर्त्तृत्वं रुद्ररूपेण। 'उद्भ्रान्तकत्वं' व्याप्तत्वं कारणात्मना। उत्तीर्णविकृतित्वं साक्ष्यात्मना। अयमर्थः। ब्रह्म तावदुदुत्कृष्टत्वादि-गुणविशिष्टं, तथाविध-ब्रह्मवाचकाश्च ते उत्कृष्टत्वादिशब्दाः, तेषामादिभूतश्चायं प्रणवस्य उकारो द्विमात्रः, तस्मादुदुत्कृष्ट-त्वादिशब्दरूप एव सः, तस्मादुदुत्कृष्टत्वादि-गुणविशिष्ट-ब्रह्म-वाचको ऽसाविति।

अकारमिम-मात्मान-मुकार-पूर्व्वार्धमाकृष्य सिंही-कृत्योत्तरार्धेन तं सिंहमाकृष्य महत्त्वान्-महत्त्वान्-मानत्वान्-मुक्तत्वान्-महादेवत्वान्-महेश्वरत्वान्-महा-

सत्त्वान्---महाचित्त्वान्---महानन्दत्वान्---महाप्रभुत्वाच्च मकारार्धेनार्थेनैकीकुर्य्यात्।

एवमकारस्य प्रत्यगर्थत्वमुकारस्य ब्रह्मार्थत्वञ्चाभिधाय तयोः सामानाधिकरण्य-रूपवाक्येन जीवस्य तावद्ब्रह्मणैक्यमाह, अकारमित्यादिना। 'अकारमिमम्' अकारार्थमिमम्, 'आत्मानं' प्रत्यगात्मानम्, 'उकारपूर्वार्द्धम्' उकारपूर्वार्द्धार्थं ब्रह्म आक्षय, ब्रह्म प्रत्याक्षय इत्यस्यार्थमाह, सिंहोक्तत्येति। ब्रह्मणैक्यं प्रतिपाद्ये-त्यर्थः। अथोकारोत्तरार्द्धार्थस्य ब्रह्मणः प्रत्यगात्मनैकत्वञ्च वक्तुमारभते, उत्तरार्द्धेनेत्यादिना। उकारस्योत्तरमात्रया 'तं सिंहं' पूर्वोक्तं ब्रह्म 'आक्षय' आदाय 'मकारार्द्धेनार्थेन' अनेन प्रत्यगात्मना एकीकुर्य्यादित्युत्तरत्रान्वयः। मकारस्य ब्रह्मणैकत्व-योग्य-प्रत्यगर्थत्वम् उपपादयति, महत्त्वादित्यादिना। 'महत्त्व' व्यापत्वं 'महस्त्व' चित्तेजोरूपत्वं 'मानत्व' सर्व्वसाधक-प्रमाण-रूपत्वमुक्तम् अपारवश्यम् 'महादेवत्वं' महाक्रीड़ा-रसिकत्वादि-विशिष्ट-धर्म्मवत्त्वम् 'महेश्वरत्वं' सर्व्वनियन्तृत्वं 'महासत्त्वादिकम्' अपरिच्छिन्न-सच्चिदानन्दरूपत्वं 'महाप्रभुत्वं' स्वसन्निधिसत्ता-मात्रेणैव सर्व्वप्रवर्त्तकत्वम्। अयं भावः। आत्मा तावन्निरूप-चरित-महत्त्वादि-गुणविशिष्टः, तथाविधात्म-वाचकाश्च ते महदा-दयः शब्दाः, तेषामादिभूतश्चायं प्रणवस्थो मकारः; तस्मान्मह-दादि-शब्दात्मक एव सः; तस्मात्तद्गुण-विशिष्ट-प्रत्यगात्म-वाचकोऽसाविति।

अशरीरो निरिन्द्रियो ऽप्राणो ऽतमाः सच्चिदानन्द-

मात्रः स स्वराड्-भवति, य एवं वेद। कस्त्वमित्यहमिति होवाच, एवमेवेदं सर्व्वम्; तस्मादहमिति सर्व्वाभिधानं, (१) तस्यादिरयमकारः स एव भवति। सर्वं ह्ययमात्मा, अयं हि सर्वान्तरः, न ह्येदं सर्वं निरात्मकम्, आत्मैवेदं सर्वम्; तस्मात् सर्वात्मकेनाकारेण सर्वात्मकमात्मानमन्विच्छेत्।

अशरीर इत्यादिना विद्याफलमाह। 'तमः' कारणम्। अशरीरादिपद-लक्षितस्य स्वराजः स्वरूपमाह, सच्चिदानन्दमात्र इति। मात्रशब्देन सजातीयादिभेदो निरस्तः। एवं विक्षेप-निरासायैकेन प्रणवेन व्यतिहार-प्रतिपत्तिमभिधाय इतः पूर्वमेव द्वाभ्यां प्रणवाभ्यां व्यतिहार-प्रतिपत्ति-प्रकार-प्रदर्शनायारभते, कस्त्वमित्यादिना। तत्राकारस्याहंशब्दादित्वेन अहंशब्दरूपतामापाद्य तस्य प्रत्यगर्थतां वक्तुम् अहंशब्दस्य सर्व्वात्मकप्रत्यगर्थत्वं साधयितुमाह, कस्त्वमित्यादिना। कस्त्वमिति कश्चित् केनचित् पृष्टः अहमिति प्रथममुत्तरमुवाचेत्यर्थः। नैकस्यैवमुत्तरं भवति, किन्तु सर्व्वमेव प्राणिजातं कस्त्वमित्युक्तो अहमित्येवोत्तरं प्रतिपद्यत इत्याह, एवमेवेदं सर्व्वमिति। ततः किमिति चेदहंशब्दस्य सर्व्ववाचकत्वं सिद्धमित्याह, तस्मादिति। भवत्वेवमहंशब्दस्य सर्व्ववाचकत्वं तेनाकारस्य प्रत्यगर्थत्वे किमायातमित्याशङ्क्य अकारस्याप्यहंशब्दरूपत्वेन तद्वत् सर्व्ववाचकत्वं ताव-

(१) क, सर्व्वाभिधानं तस्याभिधानम्।

द्रष्टव्यमित्याह, तस्मादिति। 'तस्य' अहं शब्दस्य आदिभूतोऽयम् 'अकारः' प्रणवस्थः 'स एव' सर्व्ववाचकोऽहंशब्द एव भवति। ततोऽप्यस्य आत्मार्थत्वे किं जातमित्याशङ्क्य यस्मादात्मन एव सर्व्वत्वं कृत्स्नत्वं पूर्णत्वमद्वयत्वं सम्भवति, तस्मात् सर्व्ववाचकोऽयमकार आत्मार्थ एवेति वक्तुमात्मनः सर्व्वत्वं तावत् प्रतिजानीते, सर्व्वं ह्यीति। आत्मनः सर्व्वत्वं साधयति, अयं ह्यीति। सर्व्वान्तरत्वमपि साधयति, न ह्यीति। सर्व्वस्य सात्मकत्वे सर्व्वमात्मेति च वस्तुद्वये सति कथमात्मनः सर्वत्वमित्याशङ्क्य आत्मव्यतिरेकेण सर्वं नास्तीत्याह, आत्मैवेदं सर्व्वमिति। सर्वस्यात्मनि कल्पितत्वात्, तद्व्यतिरेकेण तन्नास्तीत्यर्थः। अतः सर्वशब्दात्मकस्याकारस्य सर्व्वात्मक-प्रत्यगात्म-वाचकत्वं सिद्धम्। अतस्तथाविधेनाकारेण तथाविध आत्मा प्रतिपत्तव्य इत्याह, तस्मादिति।

ब्रह्मैवेदं सर्वं सच्चिदानन्दरूपं, सच्चिदानन्दरूपमिदं सर्वं, सद्धीदं सर्वं, सत्सदिति(१) चिद्धीदं सर्वं, काशते काशते चेति, (२) किं सदितीदमिदं नेत्यनुभूतिरिति, कैषेतीयमियं नेत्यवचनेनैवानुभवन्नुवाच, एवमेव सच्चिदानन्दौ, अथ वचनेनैवानुभवन्नुवाच, (३) सर्वमन्यदपि, स परम आनन्दः, तस्य ब्रह्मणो नाम ब्रह्मेति, तस्यान्त्योऽयं

(१) ख, च, तत् सदिति।

(२) ख, ग, सर्वं काशते चेति। च, सर्वं प्रकाशते चेति।

(३) च, आप्तवचनेनैवानुभवन्नुवाच।

**मकारः स एव भवति; तस्मान्मकारेण परमं ब्रह्मान्विच्छेत्।**

मकारस्य ब्रह्मशब्दान्त्यत्वेन ब्रह्मशब्दत्वमापाद्य ब्रह्मवाचकत्वं दर्शयितुं ब्रह्मस्वरूपं दर्शयन् प्रत्यगात्मवत् तस्यापि सर्व्वात्मत्वं दर्शयति, ब्रह्मैवेदमित्यादिना। ब्रह्मणः स्वरूपमाह, सच्चिदानन्दरूपमिति। कथं तर्हि असच्चिदानन्दरूपस्य जगतः सच्चिदानन्दरूपत्वं युक्तमित्याशङ्क्य जगतोऽपि सच्चिदानन्दरूपत्वमित्याह, सच्चिदानन्दरूपमिदं सर्व्वमिति। तत्र जगतः सद्रूपत्वं तावत् प्रसिद्धमित्याह, सद्धीति। प्रसिद्धिं साधयति, सत् सदिति। घटः सन् पटः सन् इत्यादिरूपेण सर्वं सद्रूपमेव भातीत्यर्थः। चिद्रूपत्वमपि प्रसिद्धमित्याह, चिद्धीति। प्रसिद्धिं साधयति, काशते काशते चेति। घटः काशते, पटः काशते, इत्यादि-प्रकारेण सर्वं चिद्रूपं भासत इत्यर्थः। आनन्दात्मकत्वन्तु सर्वत्र समावेश-दर्शनादवगन्तव्यम्। इष्टविषये च स्पष्टमेवानन्दात्मकत्वञ्चेष्टमेव कदाचित् कस्यचित्, वक्ष्यति च "स परमानन्द" इति। सदादिभेद-निराचिकीर्षया प्रजापतिः शिष्यबुद्धिमपि वर्द्धयन् स्वयं सद्रूपं देवान् पृच्छति, किं सदितीति। ब्रूत सदादीनां स्वरूपं, युष्मद्भिः सदादिरूपं ज्ञातमित्यर्थः। देवैः सत्तासामान्यादिषु सद्रूपेष्वभिहितेषु तेषां व्यावृत्तत्वेनेदन्तया सत्त्वासत्त्वं निराचष्टे, इदमिदं नेतीति। इदमिदञ्च घटसत्तासामान्यादिकं भवद्भिरुक्तम्, इदन्त्वादेव व्यावृत्तत्वेनासत्त्वात् न सद्रूपमित्यर्थः। किं तर्हि सदिति देवानामाकाङ्क्षामालक्ष्य

स्वयमेव प्रजापतिः तद्रूपमाह, अनुभूतिरितीति । पुनरपि प्रजापतिरनुभूति-स्वरूप-विवक्षया पृच्छति, कैषेतीति । तैर्घट-ज्ञानादिषु अनुभूति-शब्दार्थत्वेनोक्तेषु तेषां दृश्यत्वात् नानुभूतित्वमित्याह प्रजापतिः, इयमियं नेतीति । का तर्ह्यनुभूतिरित्याकाङ्क्षायामवाङ्मनस-गोचरा सेतीयमिति ; यतो वक्तुं न शक्यते ; तस्मादवचनेनैव स्वयमनुभवत, देवानां स्वतःसिद्धस्वरूपमेवानुभूतिरित्याह प्रजापतिरिति कथयति श्रुतिः, अवचनेनैवानुभवन्नुवाचेति । सन् स्वरूपोपदेशे कथितो न्यायः चिदानन्दयोः स्वरूपोपदेशेऽपि सम इत्याह श्रुतिः, एवमेवेति । अन्येष्वपि ब्रह्म-लक्षणेष्विममेव न्यायमतिदिशति, सर्वमन्यदपीति । 'अन्यदपि' पदार्थजातम् 'एवमेव' अवचनेनैव अनुभवन् अवाङ्मनस-गोचरमेकरसमात्मनः स्वरूपमेवेत्याहेत्यर्थः । मूकीभाव-मात्रेण देवानां ज्ञातुमशक्यमिति मत्वा ब्रह्मणः स्वरूपमानन्दपदेन लक्षणया कथयति प्रजापतिः, स परम आनन्द इति । 'सः' मया अद्यानुभवेनोपदिष्टोऽर्थः 'परमः' निरतिशयः आनन्द एव, ब्रह्मणः स्वरूपमभिधाय ब्रह्मशब्दस्य लक्षणया तद्वाचकमाह, तस्य ब्रह्मण इति। ततः किमायातं प्रकृते ? इत्याशङ्क्य मकारस्य ब्रह्मशब्दान्त्याक्षरत्वेन ब्रह्मरूपत्वमेवेति तस्य ब्रह्मवाचकत्वं सिद्धमित्याह, तस्येति। 'तस्य' ब्रह्मशब्दस्य 'अन्त्यः' अवसाने वर्णो यः प्रणवस्थो मकार इति कृत्वा 'स एव' ब्रह्मशब्द एव भवति। तस्मात् तद्वदेव ब्रह्म-वाचकत्वमपि सिद्धमेवेत्यर्थः । यस्मात् ब्रह्मवाचकोऽयं मकारः, तस्मात् तेन तत् प्रतिपत्तव्यमित्याह, तस्मादिति ।

किमिदमेवमित्यु इत्येवाह्वाविचिकित्सन्; तस्मादकारेणेम-मात्मानमन्विष्य मकारेण ब्रह्मणा सन्दध्यादुकारेणा-विचिकित्सन्, अशरीरो निरिन्द्रियोऽप्राणोऽतमाः सच्चिदा-नन्दमात्रः स स्वराड्-भवति, य एवं वेद।

एवमकार-मकारयोः प्रत्यग्-ब्रह्मार्थत्वमभिधाय मध्यस्थस्यो-कारस्य प्रत्यग्-ब्रह्मणोरेकत्वावधारणार्थत्वं वक्तुमुकारस्य लोके कुत्रचिदवधारणार्थत्वं प्रसिद्धमिति कथयितुं लोकव्यवहारं ताव-द्दर्शयति, किमिदमित्यादिना। 'इदम्' आकाशादि घटादि चैवं-रूपं किमित्येवं कश्चित् केनचित् पृष्टः 'उ' इत्येवोत्तरमाह, स्वय-मविचिकित्सन्, आत्मनश्चेत् तत्र दृष्टेऽर्थे निश्चयो भवति, तर्हि उ इत्येवावधारयन् उत्तरमाहेत्यर्थः। अनयैव श्रुत्या एवं व्यवहारः क्वाप्यस्तीति ज्ञातव्यम्; तस्मादुकारस्यावधारणार्थत्वं लोकप्रसि-द्धमिति भावः। एवं प्रणवाक्षराणामर्थमभिधाय तेन प्रत्यगा-त्मनो ब्रह्मणैकत्व-प्रतिपत्ति-प्रकारमाह, तस्मादित्यादिना। यस्मा-दकार-मकारोकाराणां प्रत्यग्-ब्रह्मावधारणार्थत्वं प्रसिद्धं, तस्मा-दित्यर्थः। 'अविचिकित्सन्' स एकत्वनिश्चयं कुर्व्वन्। अयमर्थः। अकारोच्चारणसमये सर्व्वं कृत्स्नं पूर्णं प्रत्यगात्मानमुक्तेन प्रकारेण प्रतिपाद्य अकारस्योकारेण सम्बन्धसमये प्रत्यगात्मनो ब्रह्मलक्षण-लक्षितत्वेन ब्रह्मणैकत्व-योग्यत्वं निश्चित्य उकारस्य मकार-सम्बन्ध-समये मकारार्थेन ब्रह्मणा उकारार्थस्य प्रत्यगात्मन एकत्वनिश्चयं कुर्य्यादित्यर्थः। अशरीर इत्यादिना उक्तार्थः।

ब्रह्म ह वा इदं सर्वमभृतत्वादुग्रत्वा-द्वीरत्वान्-महत्त्वा-द्विष्णुत्वा-ज्ज्वलत्त्वात् सर्वतोमुखत्वा-न्नृसिंहत्वा--द्भीषणत्वा-द्भद्रत्वान्-मृत्युमृत्युत्वान्-नमामित्वा-दहन्त्वादिति, सततं ह्येतद्ब्रह्म, उग्रत्वा--द्वीरत्वान्--महत्त्वात् पुनःपुनरहन्त्वादिति; तस्मादकारेण परमं ब्रह्मान्विष्य मकारेण मन आद्यवितारं(१) मन आदिसाक्षिणमन्विच्छेत्।

अथ सर्व्वात्मकस्य ब्रह्मणः प्रत्यगात्मनैकत्वं द्वितीयेन प्रणवेन वदन् ब्रह्मणः सर्व्वात्मकत्वं पुनरपि प्रकारान्तरेणाह, ब्रह्म ह वा इदमित्यादिना। प्रतिज्ञाते सर्व्वत्वे हेतुमाह अमृतत्वादिति। सर्व्व-संहर्त्तृत्वेन कारणत्वादित्यर्थः। संहर्त्तृत्वं संहारशक्तिविशिष्टत्वं *संहार-समर्थत्वेऽपि न संहरतीत्याद्याशङ्कायां परिभवासहत्वादि-भिस्तां परि हरति, वीरत्वादित्यादिना। अमृतत्वगुण-विशिष्ट-त्वेन ब्रह्मणः सर्व्वात्मकत्वं सम्प्रतिपत्तव्य-मित्यभिप्रायः। सत-तत्वगुणवत्त्वादपि सर्व्वात्मकत्वं प्रतिपत्तव्यमित्याह, सततं हीति। 'सततं' व्याप्तं देशतः कालतो वस्तुतश्चापरिच्छिन्नं 'हि' यस्मात् तस्मादपि ब्रह्म सर्व्वमित्यर्थः। सततत्वे सर्व्वसंहार-समर्थत्वे हेतुमाह, उग्रत्वादिति। वीरत्वादिकं पूर्ववद्योज्यम्। भवत्वेवं गुणद्वय-विशिष्टत्वात् सर्व्वात्मकत्वं ब्रह्म प्रस्तुतायां प्रणवेन वाक्यार्थप्रतिपत्तौ तेन किमायातमित्याशङ्क्य प्रणवस्याकारस्य तत्पदार्थ-वाचकत्वात्

(१) ग, चाद्यविकारं।

* क, ख, चिह्नितपुस्तकद्वये, संहार-शक्ति विशिष्टत्वमित्यनन्तरं "हेतुमाह अमृत-त्वादिति" इत्यतिरिक्तः पाठः।

तत्प्रतिसाधकत्वं सिद्धमित्याह, तस्मादकारेणेति। अन्विष्ये-त्येतस्य अन्विच्छेदित्यनेन सम्बन्धः। अयं भावः। अत्तृत्व-सततत्व-गुणविशिष्टं हि ब्रह्म, सततशब्दश्चायम् अततिशब्दस्थाने प्रयुक्तः श्रुत्या, तत उक्तम्, गुणद्वय-विशिष्टस्य ब्रह्मणो वाचका-वत्त्यततिशब्दौ। नन्वत्ति-सततशब्दौ अत्त्यतति-धातुद्वयस्या-काराद्यमिति धातुद्वयात्मक एवायमकारः, ततश्चात्तृत्वादि-गुणविशिष्ट-ब्रह्मवाचको मुख्यया वृत्त्या, लक्षणया केवल-ब्रह्माभि-धायकः, ततस्तेन लक्षणया प्रतिपत्तव्यमिति। मकारेण तु प्रत्यगात्म-प्रतिपत्तिः कर्त्तव्येत्याह, मकारेणेति। मकारस्य प्रत्यगर्थत्वोपपत्तिमाह, मन आद्यवितारमिति। मनःशब्दो हि मनोवाचकः, तस्मिंश्च मनःशब्दे मकारे दृश्यते तदुपाधिकस्तद्र-च्छिता तत्साक्षी च प्रत्यगात्मा; अतः प्रत्यगात्म-मकारयोः सम्बन्धस्य विद्यमानत्वात् तं मकारेणान्विच्छेदित्यर्थः।

स यदैतत् सर्वमुपेक्षते, तदैतत् सर्वमस्मिन् प्रविशति। स यदा प्रबुध्यते, तदैतत् सर्वमस्मादेवोत्तिष्ठति। स एतत् सर्वं निरुह्य प्रत्यूह्य सम्पीड्य सञ्ज्वाल्य सम्भक्ष्य स्वात्मान-मेषां ददाति।

प्रतीचो मनआदि-रक्षितृत्वं साधयति, स यदेत्यादिना। 'सः' प्रत्यगात्मा 'यदा' यस्मिन् काले सुषुप्त्यादि-प्रवेशसमये इत्यर्थः। 'एतत्' सर्व्वंकारणजातम् 'उपेक्षते' तदभिमानं परित्यजतीत्यर्थः। तदा किमित्याह, तदेति। 'अस्मिन्' प्रत्यगात्मनि सम्पातोपाधि-

विशिष्टे 'प्रविशति' विलीयते इत्यर्थः । तस्मिन् लयमभिधाय तत एवोत्पत्तिमाह तस्य रचकत्व-प्रदर्शनाय, स यदेत्यादिना । यदा जाग्रदादि-भोगनिमित्त-कर्म्मोद्भवः, तदा अस्मादेवोत्पद्यते सर्व्वमित्यर्थः । अथ सृष्टस्यात्मन्येव स्थितिमाह, स एतत् सर्व्वं निरुह्येति । निर्व्वाह्य कञ्चित् कालं स्वात्मन्येव सद्रूपे संस्थाप्य किमित्याह, प्रत्यूह्येत्यादिना । अनेन च ज्ञानहेतुक आत्यन्तिक-प्रलय उच्यते । 'सः' प्रत्यगात्मा ज्ञानबलेनैतत् सर्व्वं 'प्रत्यूह्य' कारणात्मनि संहृत्य 'सम्पीड्य' कारणात्मानमपि स्वात्मना अन्तर्वहिश्च संव्याप्य 'सञ्ज्वाल्य' चिद्रूपतामापाद्य 'सम्भक्ष्य' स्वतावन्मात्रतया विलाप्य 'स्वात्मानं' चिन्मात्ररूपम् 'एषां' कार्य्यकारण-रूपपदार्थानां ददाति, न हि तेषां स्वरूपान्तरमस्ति कल्पितत्वात् ।

अत्युग्रो ऽतिवीरो ऽतिमहानतिविष्णु-रतिज्वलन्नति-सर्व्वतोमुखो ऽतिनृसिंहो ऽतिभीषणो ऽतिभद्रो ऽतिमृत्यु-मृत्युरतिनमाम्यत्यहं भूत्वा स्वे महिम्नि सदा समास्ते; तस्मादेनं मकारार्थेन परेण ब्रह्मणैकीकुर्य्यादुकारेणाविचिकित्सन्; अशरीरो निरिन्द्रियो ऽप्राणो ऽतमाः सच्चिदानन्दमात्रः स स्वराड्-भवति, य एवं वेद । तदेष श्लोकः ॥

अङ्गं अङ्गार्धमाकृष्य अङ्गेणानेन योजयेत् ।
अङ्गमेनं परे अङ्गं तमनेनापि योजयेत्(१) इति ॥

सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

(१) म, तमनेनानुयोजयेत् ।

भक्षणादौ सामर्थ्यं दर्शयति, अत्युग्र इति। उग्रत्वगुणा-दतिक्रान्तत्वे सति उग्रत्वम् अत्युग्रत्वम्; एवमतिवीर इत्यादिक-मपि योज्यम्। वीरादिपदानामवान्तरसूत्रप्रकारेणैव द्रष्टव्यः। स्वे महिम्नि सदा समासते इति। यस्मात् सर्व्वभक्षणादि-कर्त्तृत्वेऽप्यस्य स्वतः कोऽपि विकारो नास्ति प्रत्यगात्मनः, तस्मात् सर्व्वदा स्वे महिम्निरवास्ते ऽसौ; तस्मात् ब्रह्मणोऽनेनैक्यं युक्त-मित्यर्थः। एवमकारस्य ब्रह्मार्थत्वं मकारस्य प्रत्यगर्थत्वञ्चोक्तम्; उकारस्य त्ववधारणार्थत्वं पूर्व्वमेवोक्तम्। अथोक्तविधस्य ब्रह्मणः प्रत्यगात्मनैकत्वं सिद्धं प्रतिपत्तव्यमित्याह, तस्मादेनमिति। यस्मादकार-मकारोकाराणां प्रतिब्रह्म प्रत्यगवधारणार्थत्वं सिद्धं, तस्मादेनम् अनेन प्रत्यगात्मनेत्यर्थः। मकारार्थेन ब्रह्मणा मकारार्थब्रह्मा इत्यर्थः (१)। यथाश्रुतार्थ-स्वीकारो हि प्रथम-प्रणवेनैव, द्वितीयप्रणवेनापि प्रत्यगात्मनो ब्रह्मणैकत्व-प्रतिपत्ति-रेव स्यात्; तथा च न व्यतिहारः सिध्यति, व्यतिहारखण्डे च तेन भाव्यम्; अतः पूर्व्ववत् प्रणवमुच्चारयन् ब्रह्म प्रत्यगात्म-नैकीकुर्य्यात्। अकारोच्चारण-समये यथोक्तं ब्रह्म प्रतिपाद्य अकारस्योकार-सम्बन्ध-समये ब्रह्मणः प्रत्यग्रूपत्वेन प्रत्यगात्म-नैकत्व-योग्यत्वं सञ्चिन्त्य उकारस्य मकारस्य सम्बन्ध-समये मकारार्थेन प्रत्यगात्मना अकारार्थस्य ब्रह्मण एकत्वनिश्चयं कुर्य्यादित्यर्थः। उक्तञ्च वार्त्तिककृद्भिः।

"अथवाकारमात्मानं मकारञ्च जगद्गुरुम्।
अवधारण-संयुक्तमेकीकुर्य्याद्यथोमिति॥

(१) क, ख, अकारार्थेन ब्रह्मणा अकारार्थब्रह्मा।

अहंशब्दैकदेशत्वाद्-ब्रह्मशब्दैकदेशतः ।
अनन्त्याद्येकरूपत्वाद्-ब्रह्माकारेण च स्मरेत् ॥
साक्षित्वात्मन आदीनां मकारेण तु साक्षिणम् ।
सावधारणमैक्यात्म्यमेवमोमिति पश्यति" इति ॥

व्यतिहाररूप-प्रतिसाधकत्वं प्रणवद्वयस्य ; अत्रापि ब्रह्माकारेण च स्मरेदिति पठितत्वात् द्वयोरपि प्रणवयोः प्रत्यगात्मनो ब्रह्मणैकत्वमेवोच्यते इति वदन्ति केचित्, तेषां पुनर्वचनानर्थक्य-प्रसङ्गः, प्रथम-वचनमप्यनर्थकमेव तेषां, साधनखण्ड एव प्रत्यगात्मनो ब्रह्मणैक्यस्योक्तत्वात् । ननु व्यतिहारपक्षे ऽप्येकेनैव प्रणवेन व्यतिहारस्य सिद्धत्वात् पुनर्व्यतिहार-कथनमनर्थकमेव सङ्ग्रह-विस्ताराभ्यां भेदोपपत्तेः; तथान्यत्राप्यकार-मकारयोरर्थभेदादिच्छया प्रतिपत्ति-सम्भवाच्च न पौनरुक्त्यदोषः । व्यतिहारखण्ड-प्रसिद्धिस्तु व्यतिहार--सद्भावमात्रेणैवोपपद्यते ; श्रुतेर्यथाश्रुतार्थलाभश्चास्मिन् महान् लाभः । अस्त्वेवं श्रुत्यर्थविदश्चैवमुपदिशन्ति, वक्ष्यमाण-श्लोकविरोधस्तु अस्मिन् पक्षे परिहार्य्यः । अशरीर इत्यादि फल-कथनम् ।

उक्तेऽर्थे श्लोकमवतारयति, तदिति । छन्दसामृषभस्य प्रणवस्य 'शृङ्गम्' अंशम् अकार-मकारार्थं प्रत्यगात्मानमादायेत्यर्थः । शृङ्गार्द्धम् उकारपूर्वार्द्धं तदर्थं ब्रह्म प्रत्याहृत्य ब्रह्मणैक्यं प्रतिपाद्येत्यर्थः । 'शृङ्गेण' अनेन मकारेण तदर्थ-प्रत्यगात्मनेत्यर्थः । 'योजयेत्' उकारोत्तरार्द्धार्थं ब्रह्म योजयेत् ब्रह्मणः प्रत्यगात्मनैकत्वं चिन्तयेदित्यर्थः । एकेन प्रणवेन व्यतिहार उक्तः । 'शृङ्गमेनम्' अहंशब्दादिभूत-प्रणवाकारार्थमात्मानमित्यर्थः । 'परे शृङ्गे' ब्रह्म-

शब्दाख्य-मकारात्म-प्रणव-मकारार्थं-ब्रह्मणि 'आज्ञश्च' उकारैकैकत्वं निश्चित्येत्यर्थः। 'तम्' अस्य' शुद्धं परमात्मानम् अतत्त्वंशरूप-प्रणवाकाराभिधेयं परमात्मानमित्यर्थः। 'अनेनापि' मनआद्यधिष्ठात्रा प्रणव-मकारार्थेन प्रत्यगात्मनापि योजयेत् ॥

इत्युत्तरतापनीये सप्तमः खण्डः ॥७॥

---

अथ तुरीयेणोतश्च प्रोतश्च ह्ययमात्मा सिंहो ऽस्मिन् हीदं(१) सर्व्वमयं हि सर्व्वात्मायं हि सर्व्वं नैवोतो(२) ऽद्वयो ह्ययमात्मैकत्व एवाविकल्पो न हि वस्तु सदयं ह्योत इव सद्घनो ऽयं चिद्घन आनन्दघन एकरसोऽव्यवहार्यः केनचनाद्वितीयः ओतश्च प्रोतश्चैष ओङ्कार एवं नैवमिति पृष्ट ओमित्येवाह।

एवं विभक्तेन प्रणवेन आत्मप्रतिपत्ति-प्रकारमभिधाय तुरीयेनाविभक्तेन प्रणवेन प्रतिपत्तिप्रकारो वक्तव्य इति खण्डान्तरारम्भः। अथेति। किञ्च तुरीयावसितत्वादेकैकस्य इत्योतादीनाम् एकैकस्य तुरीयावसितत्वमुक्तं, न तु तत् स्पष्टमभिहितम्; तदभिधानाय च खण्डान्तरमारभ्यते। अथ विभक्त-प्रणवेनात्मनो जीवेश-रूपस्यैक्य-प्रतिपत्त्यनन्तरमनेकपद-तदर्थ-प्रतिपत्ति-लक्षणस्य विक्षेपस्य शमनाय तुरीयेनाविभक्तेन ओमित्येतेन ओतानुज्ञात्रनुज्ञाविकल्प-रूपेणात्मप्रतिपत्तिरभिधीयत इति शेषः। तत्र ओतप्रणवेन ओतस्यात्मनः प्रतिपत्तिं दर्शयितुम् आत्मन ओतत्वं

---

(१) क, ख, ग, अस्मिन्निदं। च, अस्मिन्निदं हि।

(२) क, ख, ग, सर्व्वमेवोतो। च, सर्व्वमेवातो।

प्रतिजानाति, ओतश्च प्रोतश्चेति। ओतश्च सामान्येन सत्तात्मना, प्रोतश्च चिदानन्दरूपेण ह्रीति प्रसिद्धिमाह। प्रसिद्धा हि (१) सच्चिदानन्दानां सर्व्वत्र व्याप्तिः पुत्रसत्ता पुत्रसंवित् पुत्रसुखमित्यादि-प्रकारेणेत्यर्थः। अयमात्मा पूर्व्वोक्तोऽयं ब्रह्मरूप आत्मा सिंह इति सर्व्वसंसार-रहित-ब्रह्मस्वरूपत्वमभिहितमात्मनः; वाक्यार्थरूपेणात्मना सर्व्वं व्याप्तम्; अतो व्यापकमेवोतत्वम्, नत्वात्मनो व्याप्यत्वाभावात् कुत्रचिदोतत्वं सम्भवति। आत्मन-ओतत्व-प्रसिद्धिं स्वयमेवोपपादयति, अस्मिन् ह्रीति। 'अस्मिन् हि' सच्चिदानन्दरूपे व्यापके सर्व्वं व्याप्यत्वेन वर्त्तते। अस्मिन् सर्व्वं वर्त्तते इत्यत्र हेतुमाह, अयं हि सर्व्वात्मेति। न हि सच्चिद्व्यतिरेकेण जगतः स्वरूपमस्तीत्यर्थः। तर्हि आत्मनो भिन्नमस्तु सर्व्वं जगदिति नेत्याह, अयं हि सर्व्वमिति। न व्यतिरेकेणाव्यतिरेकेण वा सर्व्वमस्ति, किन्त्वात्मैवास्तीत्यर्थः। तर्हि व्याप्यस्य सत्त्वाभावात् कथमोतत्वमुक्तमात्मनः? इत्याशङ्क्य माभूत् पारमार्थिकमोतत्वमित्याह, नैवोत इति। किं तर्ह्युक्तमोतत्वमिति? अद्वयतयैवेत्याह, अद्वयो ह्ययमात्मेति। अद्वयः 'हि' यस्मादात्मा, तस्मादोतत्वमुक्तमित्यर्थः। अद्वयत्व-मात्मत्वं वा अस्य न धर्म्म इत्याह, एकत्व एवेति। नन्वद्वय-त्वादिकमात्मनो धर्म्मत्वेनाभ्युपगन्तव्यं सर्व्वत्रात्मनोऽद्वितीयत्वादि-धर्म्मैरेव व्यवहारादित्याशङ्क्याह, अविकल्प इति। व्यवहारस्य विकल्पमात्रत्वात् न परमार्थतो द्वितीयत्वादि-धर्म्मकत्वमात्मन-इत्यर्थः; तस्माद्विकल्पितमेव सर्व्वं व्याप्यं, परमार्थतोऽद्वयो-

(१) क, ख, प्रसिद्धं हि।

ऽयमात्मा; तस्मादात्मन उक्तमोतत्वं व्यापकत्वं कल्पितमेवेत्याह, अयं ह्योत इवेति।

ननु सदादिरूपस्यात्मनः कथमद्वितीयत्वमुच्यते? घटसत्ता पटसत्ता घटसंवित् पटसंवित् पुत्रसुखं वित्तसुखमित्यादिरूपेण तेषां भेदप्रतिपत्तेरित्याशङ्क्य सन्मात्रे सुखमात्रे च न भेदप्रतीतिरस्ति, किन्तु घटाद्युपाधिगतैव भेदप्रतीतिः। न च तेषामपि सन्मात्राद्भेदोऽस्तीति असम्भवादित्याह, सद्घनोऽयमित्यादिना। वाक्यत्रयेण सदादीनां परस्परं भेदं निराचष्टे, एकरस इति। नन्वेवं निर्व्विशेषं वस्तु उपदेश्यान् प्रति कथमुपदेष्टुं शक्यते? सर्व्वशब्दाविषयत्वादिति। सत्यमेव नैकेनापि शब्देन विषयत्वेनोपदेष्टुं शक्यते इत्याह, अव्यवहार्य्यः केनचनेति। अव्यवहार्य्य इत्यनेन धर्म्मेणोपदिश्यतां तर्हि? न इत्याह, अद्वितीय इति। एवमात्मन ओतत्वमुपपाद्य तद्वाचकस्याप्योङ्कारस्यौतत्वं तदभेदार्थमाह, ओतस्वेत्यादिना। प्रतिज्ञातमोङ्कारस्यौतत्वमुपपादयति, एवमिति। किमिदमेवं भवति? किमिदमेवं न भवति? इति कश्चित् केनचित् पृष्ट ओमित्येवोत्तरमाहेत्यर्थः। किमयं भाव एवंरूपः? किं वा नैवंरूपः? इति पृष्टे सत्ययं भाव एवंरूपः, अयं भावो नैवंरूप इत्युत्तरे वक्तव्ये तत्स्थाने ओमित्येवोत्तरं दृश्यते; तस्मात् सर्व्ववाचकत्वादोङ्कारस्यौतत्वं सिद्धमिति भावः।

वाग्वा ओङ्कारो वागेवेदं सर्व्वं न ह्यशब्दमिवेहास्ति; चिन्मयो ह्ययमोङ्कारश्चिन्मयमिदं सर्व्वम्; तस्मात् परमेश्वर-

एवैकमेव तद्भवति; एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म, अभयं वै ब्रह्म, अभयं हि वै ब्रह्म भवति; य एवं वेदेति रहस्यम्।

वाङ्मात्रत्वाच्चोङ्कारस्योतत्वं सिद्धमित्याह, वाग्वा इति। सर्व्ववर्णन-कवलन-रूपत्वाद्वैखर्य्यादिरूपत्वाच्च वाङ्मात्रमवगन्तव्यम्, ओङ्कारस्य वाङ्मात्रत्वेप्योङ्कारस्यार्थजातस्य विद्यमानत्वात् कथमोतत्वमिति तत्राह, वागेवेदं सर्व्वमिति। वाक्-कार्य्यत्वाद्रूपस्य वाग्व्यतिरेकेणासत्त्वाद्वागेवेदं सर्व्वमित्यर्थः। वाचः सर्व्वत्रानुगतिं दर्शयन् सर्व्व-कारणत्वमुपपादयति, न हीति। न हि परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी-रूपवाग्व्यतिरेकेण कस्यचिदपि प्रतिभासोऽस्तीत्यर्थः। बोधकत्वेन चिद्रूपत्वाच्चोङ्कारस्योतत्वमभ्युपगन्तव्यमित्याह, चिन्मय इति। चिन्मयत्वे च सर्व्वस्यापि परमेश्वरलक्षणस्य सम्भवात् परमेश्वर एवायमोङ्कार इत्याह, तस्मादिति। वाच्य-वाचक-भेदं निराचष्टे, एकमेवेति। तदुभयं प्रणव-परमेश्वरस्यैकमेव चिन्मात्रं भवतीत्यर्थः। अस्यैकस्य वस्तुनः सर्व्वसंसारधर्म्म-रहितत्वेन पुरुषार्थत्वमाह, एतदित्यादिना। कथमस्यैवं रूपमिति? ब्रह्मरूपत्वादित्याह, एतद्ब्रह्मेति। ब्रह्मणस्त्वभयादिरूपत्वं प्रसिद्धमित्याह, अभयं वै इति। एवञ्च सर्व्वविदः फलमाह, अभयं हीति। यथाज्ञानं हि फलमित्यर्थः। उक्तमोतत्वज्ञानं गोपनीयमित्याह, इति रहस्यमिति।

अनुज्ञाता ह्ययमात्मा एष ह्यस्य सर्व्वस्य स्वात्मानमनुजानाति; नह्यीदं सर्वं स्वत आत्मवत्; नह्ययमोतो नानु-

ज्ञाता असङ्गत्वादविकारित्वादसत्त्वादन्यस्य(१) अनुज्ञाता ह्ययमोङ्कार ओमिति ह्यनुजानाति; वाग्वा ओङ्कारो वागेवेदं सर्वमनुजानाति, चिन्मयो ह्ययमोङ्कारः; चिद्धीदं सर्वं निरात्मकमात्मसात् करोति; तस्मात् परमेश्वर एवैकमेव तद्भवति; एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म, अभयं वै ब्रह्म, अभयं हि वै ब्रह्म भवति; य एवं वेदेति रहस्यम्।

एवमोत-प्रणवात्मनोस्तुरीयावसितत्वं प्रतिपाद्य अनुज्ञातृ-प्रणवात्मनोस्तत् प्रतिपादयन् आत्मनस्तावदनुज्ञातृत्वं प्रतिजानाति, अनुज्ञाता हीति। कस्य किमनुजानाति? इत्याह, एष हीति। ओतभावनया तुरीय-तुरीये स्वात्मन्यवस्थितस्य केनचिन्निमित्तेन चलिते मनसि द्वितीय-प्रतिभासस्तावद्भवति; न चात्मप्रतिपत्त्या बाधितस्य सत्त्वेन स्वतः प्रतिभासः सम्भवति; अतस्तस्यात्मनि कल्पिततया प्रातिभासिक-सत्तामनुजानातीत्यर्थः। नन्विदं सर्वं प्रतिभासमानत्वादात्मवत् स्वत एवात्मवत् ततो नात्मानुज्ञया एषामात्मवत्त्वमिति नेत्याह (२)। न हीति। जगद्रूपस्य स्वतः प्रकाशायोगात् सत्तापि न स्वतोऽस्तीत्यर्थः। कथं तर्ह्योतत्वमनुज्ञातृत्वञ्चोक्तमात्मन इत्याशङ्कायामुक्तमेवोत्तरं स्मारयति, न ह्ययमिति। अत्र हेतुत्रयमाह, असङ्गत्वादित्यादिना। एवमात्मनस्तुरीयतुरीय-पर्य्यन्तमनुज्ञा-

(१) क, ग, चान्यस्य।

(२) क, मिति नेति नेत्याह।

त्वं प्रतिपाद्य ओङ्कारस्यापि तदाह, अनुज्ञाता हीति। तदुपपादयति, ओमिति। किमहं तव स्वभूतमिदं गृह्णामीति निर्धनेनासत्-कल्पेन पृष्टो धनवान् तमधनिनं(१) सत्कुर्वन्नोमिति हि तेन प्रार्थितमनुजानाति; तस्मादोङ्कारस्यात्मानुज्ञातृत्वं सिद्धमित्यर्थः। अथ वा यस्मै जगत्-सृष्ट्यादिकरं चरु-पुरोडाशादिकं देवादीनामनुजानन् ओमिति 'हि' यस्मादनुजानाति, तस्मात् सिद्धमोङ्कारस्य सर्वेषामात्मानुज्ञातृत्वमित्यर्थः। वाग्वा ओङ्कार इत्यादि व्याख्यातप्रायम्।

अनुज्ञैकरसो ह्ययमात्मा प्रज्ञानघन एवायं ह्यस्मात् सर्वस्मात् पुरतः सुविभातः, अतश्चिद्घन एव न ह्ययमोतो नानुज्ञाता आत्मयं ह्येदं(२) सर्वं सदेव, अनुज्ञैकरसो ह्ययमोङ्कार ओमिति ह्येवानुजानाति; वाग्वा ओङ्कारो वागेव ह्यनुजानाति;(३) चिन्मयो ह्ययमोङ्कारश्चिदेव ह्यनुजानाति;(४) तस्मात् परमेश्वर एवैकमेव तद्भवति; एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म, अभयं वै ब्रह्म, अभयं हि वै ब्रह्म भवति; य एवं वेदेति रहस्यम्।

---

(१) क, ख, तं धनिनं।

(२) क, ख, ग, घ, आत्मा ह्येदं।

(३) ख, वागेव ह्यनुज्ञा।

(४) ख, ग, चिदेव ह्यनुज्ञा।

एवमोङ्कारात्मनोस्तुरीय-पर्य्यन्तमनुज्ञातृत्वमुपपाद्य अनुज्ञातृत्वमपि तुरीय-पर्य्यन्तं तयोः सिद्धमिति वदन् आत्मनोऽनुज्ञात्वं तावदाह, अनुज्ञैकरस इति। अनुज्ञानव्यापाररूपा किन्त्वात्मैवेत्याह, प्रज्ञानघन इति। काल्पनिकं रूपमनुज्ञानम् अनुज्ञातृयोगेन तुरीय-तुरीय-पर्य्यन्तेन स्वात्मनि विलाप्य स्थितं साक्षि-चैतन्यमनुज्ञेत्यर्थः। चिद्घनत्वमुपपादयति, अयं हीति। कथं-तर्ह्यस्यानुज्ञातृत्वमोतत्वञ्चोक्तमिति चेत्, अस्योत्तरमुत्तरमित्याह, न ह्ययमिति। तत्र हेतुमाह, आत्मा हि इति(१)। इदं सर्वं साक्ष्यमात्मं, न स्वतः आत्मशून्यत्वादात्मार्थम् आत्मापेक्षमित्यर्थः। आत्मीयम् आत्मसम्बन्धि आत्मन्यध्यस्तमिति वार्थः। अत आत्म-व्यतिरेकेण नास्तीदं सर्वमित्याह, सदेवेति। ओङ्कारस्याप्यनु-ज्ञात्वं सिद्धमित्याह अनुज्ञैकरस इति। अनुज्ञैकत्वसत्त्वमुपपाद-यति, ओमिति ह्येवेति। ओमित्येवं हि शास्त्राचार्य्योक्तां सर्वस्य चिन्मात्रतामनुजानन्ननुजानाति विद्वान् विविदिषुर्वोमिति ह्येवं सर्वमोङ्कारायत्तमनुजानन् अनुजानातीत्यर्थः। वाग्वेति परा वागुच्यते, अन्यथा अनुज्ञाया अनुज्ञातुः सकाशादान्तरत्वानुप-पत्तेः; वक्ष्यति चान्तरत्वं श्लोकेन, "ओतमोतेन जानीया-दनुज्ञातारमान्तरम्" इति। यद्यप्योतादनुज्ञातुरान्तरत्वमेवात्र तथाप्यनुज्ञातुरनुज्ञाया निर्व्विकल्पकस्य चान्तरत्वमेव गन्तव्यं सम्भवात्। यद्यपि सर्व्वे तुरीयावसितत्वेन समाना ओतादय-स्तथाप्युपक्रमेण बाह्यान्तरत्वं विद्यते तेषामित्यस्ति हि सम्भवो ऽनुज्ञातुरनुज्ञाया आन्तरत्वे।

(१) ख, आत्मा हि इति।

अविकल्पो ह्ययमात्मा अद्वितीयत्वादविकल्पो ह्ययमोङ्कारोऽद्वितीयत्वादेव चिन्मयो ह्ययमोङ्कारः; तस्मात् परमेश्वर एवैकमेव तद्भवति; अविकल्पो नाविकल्पोऽपि, नात्र काचन भिदास्ति, नैवात्र काचन भिदास्ति; अत्र भिदामिव मन्यमानः शतधा सहस्रधा भिन्नो मृत्योर्मृत्युमाप्नोति;* तदेतदद्वयं स्वप्रकाशं महानन्दमात्मैवैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म, अभयं वै ब्रह्म, अभयं हि वै ब्रह्म भवति; य एवं वेदेति रहस्यम् ॥

अष्टमः खण्डः ॥ ८ ॥

अनुज्ञायाखाविकल्पस्यात्मनोऽविकल्पत्वमाह, अविकल्पो ह्ययमात्मेति। तत्र हेतुमाह, अद्वितीयत्वादिति। साक्षित्वलक्षणमनुज्ञात्वमपि विकल्परूपमेवेति। तदपि विलाप्य स्वमहिमस्थ-चैतन्यमविकल्पमित्यर्थः। ओङ्कारस्याप्यविकल्पत्वमाह, अविकल्पो ह्ययमोङ्कार इति। तत्रोक्त एव हेतुरित्याह, अद्वितीयत्वादेवेति। ओङ्कारस्याद्वितीयत्वं साधयति, चिन्मय इत्यादिना। एकमेव तत्तद्भवतीत्युक्तम्; किं तदेकमिति तत्राह, अविकल्प इति। अविकल्पत्वधर्म्मोऽप्यत्र नास्तीत्याह, नाविकल्पोऽपीति। अत्र हेतुमाह, नात्र काचन भिदास्तीति। भेद

* भेददर्शने दोषमाह, मृत्योरिति। संसारात् संसारान्तरं प्राप्नोति, इति नारायणी व्याख्या।

प्रतिभासाभावादेव भेदाभाव-वचनं, न तु भेदस्य स्वरूपतोऽभावादिति शङ्कां वारयति, नैवेति। भेददर्शने दोष-प्रदर्शनेनापि भेदासत्त्वमेव द्रढ़यति, अत्र भिदामिति। देवादिभेदैर्नानात्वं प्राप्य तत्रापि न स्थैर्य्यं प्राप्नोतीत्यर्थः। उक्तस्याविकल्पस्यात्मत्वमाह, तदेतदिति। 'तदेतत्' अद्वयम् आत्मैवेत्यर्थः। अद्वयत्वे तत्प्रकाशहेत्वभावात् कथं तत्प्रकाश इत्याशङ्क्य स्वप्रकाशत्वमाह, स्वप्रकाशमिति। स्वत एवास्य पुरुषतामाह, महानन्दमिति। आनन्दत्वेन लौकिकानन्दवत् प्राप्तं दोषं परिहरति, एतदमृतमित्यादिना। 'एतत्' आनन्दरूपम् अद्वयम् 'अमृतं' सर्व्वविकार-वर्जितम्, अतः अभयं, तस्मात् ब्रह्म। अभयं वै इत्यादि व्याख्यातम्। इत्युत्तरतापनीयेऽष्टमः खण्डः॥ ८॥

---

**देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्निममेव नो भगवन् ओङ्कारमात्मानमुपदिशेति। तथेत्युपद्रष्टानुमन्तैष आत्मा सिंहश्चिद्रूप एवाविकारो ह्युपलब्धा सर्वत्र नह्यस्ति द्वैतसिद्धिरात्मैव सिद्धोऽद्वितीयो मायया ह्यन्यदिव स वा एष आत्मा पर एवैषैव सर्वम्;**

अथेदानीमुक्तया तुरीय-तुरीय-पर्य्यन्तया उपासनया अतिशुद्धान्तःकरणस्य साक्षात्तुरीय-तुरीयोपदेश-प्रकारं शिष्यस्योपदिष्टार्थ-प्रतिपत्ति-प्रकारतया च प्रतिपत्त्या निरस्त-निखिलाविद्यस्य(१) स्वरूपावस्थानञ्च दर्शयितुं खण्डान्तर-प्रारम्भः। देवा ह वै इति। उक्तञ्च,

---

(१) क, ख, निरस्तनिखिलाविद्या यस्य।

"गुरूक्त-विद्या-सञ्छिन्न-सर्व्वाविद्यस्य या स्थितिः।
तां प्रवक्तुमुपेत्याद्या प्रारब्धैषोत्तरा श्रुतिः" इति॥

इममेवेति। तदेतदद्वयं स्वप्रकाशं महानन्दमात्मैवेति कथितं निर्व्विकल्पकमेवेत्यर्थः। ओङ्कारमिति ओङ्कार-लक्ष्यत्वादुच्यते। एवं देवैः प्रार्थितः प्रजापतिरुपदिशति, उपद्रष्टेत्यादिना। 'एषः' प्रत्यगात्मा सिंहः परमात्मैवेत्यर्थः। ननु कथं कर्त्तृत्वादि-संसार-विशिष्टस्यात्मन ईश्वरत्वम्? इत्याशङ्क्य नात्मनः कर्त्तृत्वादिकमस्तीत्याह, उपद्रष्टेति। स कर्त्तृ-समीपस्थः सन् कर्त्तॄन् पश्यति, न तु स्वयं कर्त्तेत्युपद्रष्टा; अतो न कर्त्तृत्वादिसंसार-धर्म्मवत्त्वमात्मन इत्यर्थः। तर्हि साङ्ख्यसिद्धान्त-प्रसक्तिरिति चेत्, नेत्याह, अनुमन्तेति। स्वतः सत्ताप्रकाश-प्रवृत्तिसामर्थ्य-रहितानां कर्त्तॄणां प्राणबुद्ध्यादीनां स्वात्मन्यध्यस्ततया तत्सर्व्वमनुजानातीत्यर्थः। तर्हि अनुज्ञातृत्व-प्रसक्तिः, ततस्तदपि कर्त्तृत्वमेवेति नाकर्त्तृ-ब्रह्मणैक्यमात्मन इत्याशङ्क्याह, चिद्रूप एवेति। सर्व्वविकारसाक्षित्वेन चिद्रूपत्वं साधयति, अविकारो ह्युपलब्धेति। साक्षित्वमपि न विकार-पूर्वकमित्याह, अविकारो ह्युपलब्धा सर्व्वत्रेति। विकारित्वे साक्षित्वं न हि घटते इति हीति सूचितम्। आत्मनोऽविकारित्वेन द्वैतसाधकत्वाभावादन्यस्य च तत्साधकस्यानुपपत्तेः। कथं तर्हि द्वैतसिद्धिरित्याशङ्क्य अतएव परमार्थतो न द्वैतसिद्धिरित्याह, न ह्यस्ति द्वैतसिद्धिरिति। उक्तानुपपत्त्यर्थो हि शब्दः, कथं द्वैतसिद्धिर्नास्ति उपपत्तेरित्याशङ्क्य आत्मैव द्वैतरूपेण प्रतीयते इत्याह, आत्मैव सिद्ध इति। तर्हि तस्य सद्वयत्वेनाद्वितीय-ब्रह्मभावानुपपत्ति-

रिति, न, आत्मनः परमार्थतोऽद्वयत्वादित्याह, अद्वितीय इति। सद्वितीय-प्रतिभासस्तु मायया इत्याह, मायया ह्यन्यदिवेति। फलितमाह, स वा इति। 'सः' उपदेष्टा इत्युक्तः 'एषः' मायया अन्यदिवेत्यन्तेन बोधितः आत्मा पर एव तल्लक्षण-लक्षितत्वादित्यर्थः। मायया आत्मा सद्वितीय इव भासते इत्युक्तम्। तत्फलमाह, एषैव सर्व्वमिति। 'एषा' मायैव 'सर्व्व'' संसाररूपं द्वयमित्यर्थः।

**तथाहि प्राज्ञैः सैषाविद्या जगत् सर्वमात्मा परमात्मैव स्वप्रकाशोऽप्यविषयज्ञानत्वाज्जानन्नेव ह्यत्र न विजानाति।**

प्रसिद्धं सर्व्वं परित्यज्याप्रसिद्ध-स्वीकारो ऽनुपपन्न इत्याशङ्क्य आत्मनः परत्वं सर्व्वस्य मायामात्रत्वञ्च अस्माभिरभ्युपगम्यते। एतच्च सर्व्वप्राणभृतां सुषुप्ते सिद्धम्; अतो नाप्रसिद्ध-स्वीकार इत्याह, तथा हीति। यथा अस्माभिरुक्तं "स वा एष आत्मा पर एव, एषैव सर्व्वमिति"। 'तथाहि' तथैव 'हि' प्रसिद्धं तत् सर्व्वेषां प्राज्ञे सुषुप्तावित्यर्थः। उक्तमेव स्पष्टतया दर्शयति, सैषेत्यादि-वाक्यद्वयेन। 'सा' इति पूर्वोक्तमाया इत्युक्त्वा 'एषा' अविद्येति प्राज्ञे प्रसिद्धमज्ञानमुक्तं सामानाधिकरण्येन चैक्यं दर्शितं मायाविद्ययोः। तत एकैव जड़-शक्तिर्विक्षेपशक्ति-प्राधान्येन माया उच्यते; आच्छादनशक्ति-प्राधान्येन अविद्योच्यते इति भावः। आत्मा परमात्मैवेति प्रत्यगात्मनो ब्रह्मैकत्वमुक्तं, स्वप्रकाश इति परमात्मनो विशेषणम्; तेन परमात्मनः प्रत्यगात्मनैकत्वं द्योतितम्। न ह्यात्मनोऽन्यस्य परमात्मनः

स्वप्रकाशत्वं सम्भवतीति । सुषुप्ते यदि सर्व्वज्ञः परमात्मायं प्रत्यगात्मा न किन्त्वात्मानमन्यञ्च न जानातीत्याशङ्क्य अयमहमस्मि, इदमेवं रूपम्, इति स्पष्टं दर्शनाभावे कारणमाह, अप्यविषय-ज्ञानत्वादिति । न विजानातीत्युत्तरत्रान्वयः । अपिशब्दः शङ्कानुवादार्थः । यद्यप्ययं सर्व्वज्ञः परमात्मा सुषुप्ते, तथाप्यविषय-ज्ञानत्वादात्मानमन्यञ्च न विजानातीत्यविषय-ज्ञानत्वादित्ययमर्थः । अविषयत्वादज्ञानत्वाच्चेति । तत्र अविषयत्वादिति स्वात्म-व्यतिरिक्त-विषय-सम्बन्धाभाव उक्तः । यद्विषयं स्पष्टं ज्ञानं स्यात् । अज्ञानत्वादिति, ज्ञायतेऽनेनेत्यन्तःकरणं वाह्येन्द्रियाणि च ज्ञानं, तत्सम्बन्ध-रहितत्वादिति स्पष्ट-ज्ञानकारणाभाव उक्तः । ज्ञानमात्रन्तु सुषुप्तेऽप्यस्तीत्याह, जानन्नेव ह्यत्र न विजानातीति । स्वात्मानं प्रकाशतया जानन्नेव वर्त्तते । अज्ञानं चैतन्याभावेनाज्ञानवर्त्ति-विशेषेण च जानन्नेव वर्त्तते सुषुप्तेऽप्यात्मा ; अतो जानन्नेवात्मा मूढ़ैर्न विजानातीत्युच्यते । यत इदानीमिव सुषुप्ते सुप्तवदेव इदानीमप्यात्मा अविक्रिय एव भवतीत्यर्थः ।

**अनुभूतेर्माया च तमोरूपानुभूतेस्तदेतज्जड़ं मोहात्मकमनन्तं तुच्छमिदं रूपमस्य, (१) अस्य व्यञ्जिका नित्यनिवृत्तापि मूढ़ैरात्मैव दृष्टा ।**

केन प्रमाणेनोक्तस्यार्थस्य सद्भाव-सिद्धिरिति चेत्, सर्व्वेषां

---

(१) क, ख, स्वच्छमिदं स्वरूपमस्य ।

स्वानुभव-सिद्धोऽयमर्थं इत्याह, अनुभूतेरिति। आत्मा चेत् परमात्मनैकीभूत-स्वप्रकाशः सुषुप्ते, कथं तर्हि तत्र मायाविद्या-सम्भव इति चेत्, सत्यमस्तीयमनुपपत्तिः, तथापि तमोरूपा माया सर्व्वेषां स्वानुभूति-बलादभ्युपगन्तव्येत्याह, माया च तमो-रूपानुभूतेरिति। अस्या मायायाः तमोरूपिण्याः सर्व्वजग-न्मयत्वमुक्तम् आत्मनोऽद्वयत्वाय। एषैव सर्व्वं सैषाविद्या जगत् सर्व्वमिति च तत्प्रतिपादनाय अस्या जगत्-कारणत्वमुपपादयन् स्वरूपमाह। तदेतदित्यादिना। तत्र जड़रूप-जगत्कारण-त्वोपपादनाय अस्या मायायाः तमसः सुषुप्तादौ सर्व्वेषां स्वानुभव-सिद्धं जड़त्वमाह, तदेतज्जड़मिति। मूढ़ोऽहमिदञ्च मूढ़मिति प्रसिद्धं मौढ्यमपि सुषुप्तस्य-मोहात्मकमेवेति वक्तुं सौषुप्त तमसः सर्व्वं लोकप्रसिद्ध-मोहात्मकमाह, मोहात्मकमिति। तस्य सर्व्व-कारणत्व-सिद्धये सुषुप्ति-समये सिद्धमेवानन्त्यमाह, अनन्तमिति। सर्व्वविषयाज्ञान-सम्भवात्, जाग्रत्यप्यानन्त्यं सिद्धमज्ञानतमसः अनिर्व्वचनीय-जगत्-कारणत्वाय सुषुप्तादौ स्वप्रकाशं चिदानन्दा-श्रयत्वानुभव-बलसिद्धामनिर्व्वचनीयतामाह, तुच्छमिति। सत्-कार्य्यवादि-पक्षोपपादनाय सर्व्वस्यापि कार्य्यस्य सौषुप्ततमसि वासनारूपेणावस्थानमाह, इदं रूपमिति।

ननु कस्येयमविद्या? न तावज्जीवस्य, तस्याविद्याधीनत्वेन तत्सिद्धेः पूर्व्वमेवाविद्यायाः स्वाश्रयविषयाया वक्तव्यत्वात्। नापीश्वरस्य, तस्य सर्व्वज्ञत्वात् अविद्याधीनत्वाच्च। सत्यम्, अतएव जीवेशयोरियं; किन्तु जीवेशादि-विभागास्पद-चिन्मात्र-स्येत्याह अस्येति। स्वप्रकाशतया अखिल-जगत्-प्रसिद्ध-चिन्मात्रा-

श्रय-विषयतया सुषुप्ते भाणादित्यर्थः । मामहं न जानामीति चात्ममात्राश्रयत्वं प्रसिद्धमेवाज्ञानस्य । न चास्य अविद्यासम्बन्धेन कदापि काचिदपि हानिरस्ति परमार्थतः, किन्त्वौज्ज्वल्यमेव तत्साक्षित्वेनाभिवृद्धं घृतपिण्ड-सम्बन्धेनेवाग्नेरित्याह, अस्य व्यञ्जिकेति । तर्हि घृतपिण्डमिव दीप्तोऽग्निरात्मा तां दहेदित्यविद्यासत्त्वमेव न स्यादिति चेत्, सत्यम्, इत्याह, नित्यनिवृत्तेरिति । कथं तर्हि तस्याः कारणत्वमुच्यते इति चेत्, असत्यपि सा 'मूढ़ैः' अविवेकिभिरात्मभिन्नेव 'दृष्टा' कल्पिता, असती सतीव भाति मूढ़ानाम्; अतस्तेषां सर्व्वमुपपन्नमित्याह, नित्यनिवृत्तापि मूढ़ैरात्मैव दृष्टेति ।

**अस्य(१) सत्त्वमसत्त्वञ्च दर्शयति सिद्धत्वासिद्धत्वाभ्यां स्वतन्त्रास्वतन्त्रत्वेन सैषा वटवीज-सामान्यवदनेक-वटशक्तिरेकैव ।**

एवं सर्व्वजगन्मूलाध्यासमुपपाद्य तत्कार्य्यभूतं जीवेश्वराद्यध्यासं दर्शयति, अस्येत्यादिना । 'अस्य' स्वाश्रय-विषय-रूपस्य चैतन्यस्य सत्त्वं स्वयं साध्यत्वेन तद्व्यञ्जकत्वात् दर्शयति, स्वतः सदसदादि-विकल्प-शून्यं चैतन्यस्य असत्यञ्चाच्छादकत्वेन मूढ़ानां दर्शयतीत्यर्थः । सत्त्वासत्त्व-दर्शनयोरुपपत्तिं स्वयमेवाह, सिद्धत्वासिद्धत्वाभ्यामिति । सिद्धत्वेन सत्त्वं दर्शयति, असिद्धत्वेन चासत्त्वमिति विभागः । स्वमहिमस्थं हि निर्विकल्पक-चैतन्य-

(१) क, ख, स्यात् ।

मविद्या-सम्बन्धे तत्साधकत्वेन प्रकटीभवति। आकाशस्थमिव तेजो मूर्त्तसाधकत्वेन स्वप्रकाशमपि चैतन्यं जड़प्रधानं सदसिद्धमपि भवति अविद्या-स्वाभाव्यात्, ताभ्याञ्च सिद्धत्वासिद्धत्वाभ्याम् आत्मनः स्वातन्त्र्यं पारतन्त्र्याञ्च भवति ईश्वरत्वे जीवत्वे च निमित्तभूतमित्याह, स्वतन्त्रास्वतन्त्रत्वेनेति। स्वयं हि सिद्धत्वेनाविद्यायाः सत्ता प्रतीत्यर्थक्रिया प्रदत्तया अविद्यां प्रति स्वातन्त्र्यं भवति चैतन्यस्य अविद्यागताभासद्वारा तस्यामात्मत्वारोपात् तद्वत् पारतन्त्र्याञ्च भवति चैतन्यस्य; अतस्तदेकमेव चैतन्यं जीवेश्वर-भेदभिन्नमिव भवति, साहङ्कार-निरहङ्कारत्वाभ्यामित्यर्थः। वक्ष्यति च, "अभिमन्ता जीवो नियन्तेश्वरः" इति। नन्वेकाविद्या कथमनेकजीव-प्रतिभासहेतुरिति शङ्कायां दृष्टान्तेन तदुपपादयति, सैषेति। 'सैषा' अविद्या वटवीज-सामान्यवदनेक-वटशक्तिरेकैव सती यथा वटवीजसामान्यमनेकवटव्यक्त्युत्पादन-समर्थम्, एवमियमप्यनेकवटशक्तिरित्यर्थः। अत्र वटशब्देन क्षेत्राण्युच्यन्ते वटवत् विप्रसृतत्वात् प्राण्युपजीव्यत्वाच्च महाभूताद्यात्मकत्वेन वटशब्दो युक्त एव; अतो ऽनेकजीवोपाधिभूतानेक-क्षेत्रशक्तित्वादेकाप्यविद्या अनेकजीव-प्रतिभासहेतुर्भवतीत्यर्थः।

तद्यथा वटवीज-सामान्यमेकमनेकान् स्वाव्यतिरिक्तान् वटान् स्ववीजानुत्पाद्य तत्र तत्र च सम्पूर्णं सन्तिष्ठति; एवमेवैषा माया स्वाव्यतिरिक्तानि परिपूर्णानि क्षेत्राणि

दर्शयित्वा जीवेशावाभासेन(१) करोति ; माया चाविद्या च स्वयमेव भवति।

ननु शक्ति-शक्तिमतोरनेकाविद्या-प्रसङ्गः, स चानुपपन्नः अविद्यानां विषयाश्रये भेदानिरूपणात् ; शक्ति-शक्तिमतोरभेदश्चेत(२) तत्रापि शक्तिशेषपक्षे अविद्या-प्रसङ्गात्, शक्तिमच्छेषपक्षे त्वेकैवाविद्येत्येक एव जीवः स्यात् ; तथा चानन्तजीव-प्रतिभास-विरोधो भेदाभेदपक्षस्यानुपपन्न इति चेत्, सत्यमस्त्येवेयमनुपपत्तिः (३) वट-वीज-सामान्येऽपि, ततस्तद्वदत्रापि द्रष्टव्यमित्यभिप्रेत्य दृष्टान्तमुपपादयति, तद्यथेति। शक्ति-शक्तिमतोरभेदपक्षमाश्रित्याह, वटवीज-सामान्यमेकमिति। एकत्वेऽप्यनेक-वटहेतुत्वमाह, सामान्यमेकमनेकान् वटान् स्ववीजानुत्पादयेति(४)। कार्य्याणामपि शक्ति-द्वारा वटवीज-सामान्येनैक्यमाह, स्वाव्यतिरिक्तानिति। स्ववीजान्*इत्येकैकस्यापि वटस्य सामान्यवत् पूर्णशक्तित्वमुक्तम्। एकैकेषु वटेषु वटसामान्यस्यैकस्यापि सर्व्वात्मनावस्थानमाह, तत्रेति। दार्ष्टान्तिकं प्रपञ्चयति, एवमेवेति। मायेति। दुर्घट-घटनीय-समर्थेत्यर्थः। एवमेकस्या अप्यविद्याया मायामयत्वेन अनेक-जीवादि-प्रतिभासोत्पादन-सामर्थ्यमभिधाय चैतन्यस्य तद्धर्माध्या-

---

(१) क, ख, जीवेश वा भासेन।

(२) क, ख, शक्ति-शक्तिमतोऽभेदश्चेत्।

(३) क, ख, सममस्त्येवेयमनुपपत्तिः।

(४) क, ख, स्ववीजानुत्पादयेति।

* स्ववीजानिति "स्वमेव वीजं कारणं येषां तथाभूतान्, स्वस्वव्यतिरिक्तमूतं वीजं येभ्यस्तानिति वा" इति नारायणभट्टकृता व्याख्या।

सेन जीवादिभावे द्वारमाह, जीवेशावभासेन करोतीति। आभासद्वारेणाविवेकात् तस्यां बद्धाहंभावो जीवो निरहङ्कारः स्वयमाभास-साक्षी स्वसत्तामात्रेण सर्व्वप्रवर्त्तकत्वादीश्वरः। अथवा मायायाः स्वकार्य्यभेदानुगतं नियामकं यद्रूपं तदाभास-द्वारेण ईश्वरत्वं भवति। विशेषमात्राभास-प्राधान्येन अनेक जीवत्वं भवतीति जीवेश्वरभावः; जीवेश्वर-भेदकल्पनायाः पूर्व-मेकैव जड़शक्तिः, जीवेश्वर-भेदमेवं सम्पाद्य ईश्वरस्य माया-स्वातन्त्र्य हेतुत्वेन जीवस्याविद्या-स्वातन्त्र्यहेतुत्वेन भवतीत्याह, माया चाविद्या च स्वयमेव भवतीति। स्वयमेवेत्येकैव जड़शक्ति-रित्यर्थः।

**सैषा चित्रा सुदृढ़ा बह्वङ्कुरा स्वयं गुणभिन्नाङ्कुरे-ष्वपि (१) गुणभिन्ना (२) सर्वत्र ब्रह्म-विष्णु-शिव-रूपिणी चैतन्यदीप्ता।**

एवमविद्या-निमित्तमेव जीवेशभेदमुपपाद्य तन्निमित्तमेव जगत्-प्रतिभासं ब्रुवन् सत्कार्य्यवादमाश्रित्य स्थित्यादिकाले यत्प्रतीयमानस्य भेदजातस्य सूक्ष्मेण कारणमात्ररूपेण तस्या-मवस्थितत्वेन तस्या वैचित्र्यं दर्शयन् जगदाकारेणावस्थाने तस्याः सामर्थ्यं दर्शयति, सैषा चित्रेति। असती मायेयमिति मत्वा तन्निवृत्तिसाधने अनादरो न कार्य्य इत्याह, सुदृढ़ेति। सम्यग्ज्ञानेन विना अनुच्छेद्येत्यर्थः। एवं तस्याः कारणत्व-

(१) क, ग, गुणभिन्नाङ्कुरेष्वपि।

(२) क, ख, गुणभिन्ना।

मुपपाद्य ईश्वर-सन्निधानात् सा माया अनेक-प्रकारमयी ईक्षण-रूपेण परिणमत इत्याह, बह्वङ्कुरेति। अङ्कुरशब्देन ईक्षणा-त्मकं प्रथमं कार्य्यमुच्यते, भूतादिसृष्टेः पृथग्-वक्ष्यमाणत्वात्। अङ्कुरस्य बहुरूपत्वमुक्तं वार्त्तिककृद्भिः।

"सर्व्वज्ञ-करुणानुज्ञा विचार-ज्ञान-कामना।

ईक्षणोपचयाद्यादि-रूपेणाथ विवर्त्तते" इति॥

कार्य्यगत-प्रकाश-चलनावरण-रूपत्व-निर्व्वाहाय तस्याः सत्त्वा-दिरूपत्वमाह, स्वयं गुणाभिन्नेति(१)। चैतन्याभिव्यञ्जकत्वात् स्पन्दशक्तित्वात् चैतन्याच्छादकत्वाच्च स्वयं माया-सत्त्व-रजस्तम-आत्मिकेत्यर्थः; ततः कार्य्याणामपि सत्त्वादिरूपत्वं सिद्धमित्याह, अङ्कुरेष्वपीति। गुणत्रयस्य त्रिमूर्त्ति-शरीरात्मकत्वात् सर्व्वमपि कार्य्यं त्रिमूर्त्त्यात्मकमेवेति वदन् सर्व्वमपीश्वररूपेण द्रष्टव्य-मित्याह, सर्व्वत्र ब्रह्म-विष्णु-शिव-रूपिणीति। तस्यास्तद्रूपत्वे योग्यतामाह, चैतन्यदीप्तेति।

**तस्मादात्मन (२) एव त्रैविध्यं (३) सर्वत्र योनित्वमप्यभि-मन्ता जीवो नियन्तेश्वरः सर्वाहंमानी हिरण्यगर्भस्त्रिरूप ईश्वरवत् व्यक्तचैतन्यः सर्वगो ह्येष ईश्वरः क्रियाज्ञानात्मा।**

यस्मादात्म-व्यतिरेकेण न माया नाम काचनास्ति, तस्मा-

---

(१) क, ख, गुणभिन्नेति।

(२) क, ख, ग, घ, तस्मादात्मन्येव।

(३) क, ख, त्रैविध्यं।

दात्मैव स्वात्मनि कल्पित-मायागत-सत्त्वाद्याभास-द्वारेण सर्व्वद्वैत-जातोत्पत्ति-स्थिति-लयेषु त्रिमूर्त्त्यात्मेत्याह, तस्मादात्मन एव त्रैविध्यं सर्व्वत्रेति। गुणत्रयसाम्य-शरीरः कारणात्मा सर्व्वेश्वरोऽपि स एव इत्याह, योनित्वमपीति। योनित्वमपि तस्यैवेत्यर्थः। एवमीश्वर-भेदस्य माया-निमित्तत्वमभिधाय जीवेश-भेदस्यापि सैव निमित्तमित्युक्तं व्यनक्ति, अभिमन्तेत्यादिना। हिरण्यगर्भस्य समष्टिजीवत्वे निमित्तमाह, सर्व्वेति। तस्यापि त्रिमूर्त्तित्वमाह, त्रिरूप इति। तस्य जीवत्वे तस्मिन्नीश्वरत्व-व्यपदेशः क्वचित् कथमिति चेत्?, तस्य स्वत एव ईश्वरात्म-ज्ञानेन ईश्वररूपत्वादित्याह, ईश्वरवदिति। यथा ईश्वरो नित्याभिव्यक्त-चैतन्य-स्वभावः, तथायमपीत्यर्थः। अथवा तन्नियन्तृत्वेन ईश्वरस्यापि तत्र विद्यमानत्वात् तस्मिन्नीश्वर-व्यपदेशोऽस्तीत्याह, सर्व्वगो ह्येष ईश्वर इति। हिरण्यगर्भे स्वत एव चैतन्याभिव्यक्तातिशय-हेतुं वदन् तस्य स्वरूपमाह, क्रियाज्ञानात्मेति। सर्व्वज्ञान-क्रिया-शक्ति-समष्टिरूप-स्वच्छज्ञानक्रिया-शक्ति-मात्र-शरीरत्वात् हिरण्यगर्भस्य सवितृ-मण्डल-तेजोवन्नित्याभिव्यक्तं (१) तत्र ब्रह्मेत्यर्थः।

एवं सर्वमयं, सर्वे जीवाः सर्वमयाः सर्वावस्थासु तथाप्यल्पाः, स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च सृष्ट्वा प्रविश्यामूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययैव;

एवं हिरण्यगर्भस्य सर्व्वाहंमानित्वं स्वरूपञ्चाभिधाय अन्येषा-

(१) क, सवितृ-मण्डल-तेजोवन्न इत्यभिव्यक्तम्।

मपि जीवानां सर्व्वाहंमानित्व-कथनाय तदुपाधीनां सर्व्वात्मत्व-मुक्तमनुवदति, सर्व्वं सर्वमयमिति। 'सर्वं' चेत्रजातं 'सर्वमयं' सर्व्वात्मकं मायारूपत्वादित्यर्थः। अतः सर्वेषामपि जीवानां हिरण्यगर्भवत् सर्व्वाहंमानित्वं सिद्धमित्याह, सर्वे जीवाः सर्वमया इति। सर्व्वावस्थास्विति। अत्यल्प-शुक्तिकाद्यवस्थास्वपि सर्वमया इत्यर्थः। सर्वेषां हि जीवानां सर्व्वावस्थासु सन्मात्रकारणे पृथिव्यादिजातिमात्रे च कारणात्मवत् व्याप्तेः, तदभिन्ने अभिमानः सूक्ष्मोऽस्ति; तन्मध्यगत-पिण्ड-विषय-स्थूलाभिमान-समुद्भवात्तु जाग्रत्-स्वप्नयोरसावनुद्भूतो भवति; मन्दानां पिण्डाभिमान-तिरोभावे तु सुषुप्त-प्रलयादौ परिपूर्णे सन्मात्रे सर्वजात्यभिव्यक्ते स्वाभाविका-भिमानः समुद्भूतो दृश्यते सर्वैः; अतः सर्वे जीवाः सर्वमयाः सर्व्वावस्थास्वित्यर्थः। अन्यथा कथं हिरण्यगर्भादिभावः सम्भ-वति; न ह्यसदुत्पत्तिरस्ति; तस्मात् सर्वेषां सर्वज्ञान-कर्म्म-फल-योग्यत्वात् सर्व्वात्मत्वमस्त्येव। यद्यप्येवं सर्वे जीवाः सर्व्वावस्थासु सर्वमयाः स्वाभाविकाविद्या-शरीरत्वेन, तथापि कार्य्यात्मकं सप्तदशकं लिङ्गशरीरमपरिच्छिन्नमपि परिच्छिन्नं ज्ञानकर्म्मवशात्; परिच्छिन्ने स्थूलशरीरे यदा सङ्कोचं प्राप्नोति, तदा अल्पाभिमानित्वमप्यस्तीत्याह, तथाप्यल्पा इति। यद्यपि सर्वमयाः सर्व्वावस्थासु, तथाप्यल्पा इत्यर्थः। अथवा यथा सर्वमया-स्तथा अल्पा अपीत्यन्वयः। सृष्टिविशेषाभिधान-पूर्वकं प्रवेश-व्यवहारौ दर्शयन् सृष्ट्यादेर्मिथ्यात्वमाह, स वा इत्यादिना। सुषुप्तस्थः कारणात्मा 'एषः' बहुसङ्कुर इत्यत्र चेत्रत्वेन प्रस्तुत इति तदेतच्छब्दयोरर्थः। ईश्वररूपः प्रत्यगात्मेति वार्थः। 'भूतानि'

अपञ्चीकृतानि सृष्ट्वा, तेभ्य इन्द्रियाणि, ततः पञ्चीकृत्य विराजं, ततस्तत्कारणेभ्यो ऽग्न्यादि-देवताः, पुनर्व्यष्टिरूपान्नमयादि-कोशांश्च सृष्ट्वा सृष्टे 'प्रविश्य' तत्र विशेषाभिव्यक्त्या व्यवहारयोगतां प्राप्य, अमूढः स्वतः स्वमहिमस्थतया मूढ इव मिथ्यारूप-परिच्छेदाभिमानेन व्यवहरन् नाहं कर्त्ता भोक्ता देवदत्तो देवो मनुष्य इत्यादिप्रकारेणास्ते, माययैव एतत् सृष्ट्यादिकं करोति न स्वतः ; अतो मिथ्यारूपा एव सृष्टि-सृज्य-प्रवेश-व्यवहारा इत्यर्थः ।

तस्मादद्वय एवायमात्मा सन्मात्रो नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तो निरञ्जनो विभुरद्वय आत्मानन्दः परः प्रत्यगेकरसः प्रमाणैरेतैरवगतः, सत्तामात्रं ह्मीदं सर्वं सदेव पुरस्तात् सिद्धं हि ब्रह्म, नह्यत्र किञ्चनानुभूयते ।

मायामयसृष्टि-कथनस्य प्रयोजनमाह, तस्मादद्वय एवायमात्मेति । यदुक्तमादावात्मैव सिद्धो द्वितीय इति, तत् सृष्टेः सृज्यस्य च मायामयत्वेन परमार्थतोऽसत्त्वात् सिद्धमित्यर्थः । अद्वयस्यात्मनः स्वरूपमाह, सन्मात्र इत्यारभ्य प्रत्यगेकरस इत्यन्तेन । पुनरद्वयपद-ग्रहणं प्रासङ्गिकं, कुतोऽस्यात्मन एवंरूपत्वं सिद्धमिति तदाह, प्रमाणैरेतैरवगत इति । 'प्रमाणैः' प्रत्यगादिभिः 'एतैश्च' सन्मात्रत्वादिहेतुभिः सदादिरूप आत्मा अवगन्तव्य इत्यर्थः । तत्र सर्वद्वैतसिद्धेः पुरस्तात् स्वप्रकाश-चिन्मात्रानुभवः, सन्मात्रत्वादि-साधकं प्रत्यक्षं, दृश्यत्व-पदार्थत्वादि-हेतुभिश्चिन्मात्र-व्यतिरिक्तस्य मिथ्यात्वसाधकमनुमानं, सदेव सौम्येदमग्र आसीत्, एकमेवाद्वितीयम्,

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्, प्रज्ञानघन एवेत्यादि-वाक्यान्यागमः, जगतः सदादिरूपत्व-प्रतिभासान्यथानुपपत्तिर्युक्त्यादि-श्रुत्यन्यथानुपपत्तिश्चार्थापत्तिः, सर्वद्वैतसिद्धेः पुरस्तात् द्वैतानुपलब्धिरभावः। एतैरवगत इति सन्मात्रत्वादीनां सर्वेषां हेतुहेतुमद्भावस्योक्तत्वात्, यदा आत्मनः सन्मात्रत्वं साध्यते, तदा नित्यत्वादिभिर्हेतुभिस्तत् साधनीयम्; यदा नित्यत्वं साध्यते, तदा सन्मात्रत्वादिभिर्हेतुभिर्द्वादशभिस्तदपि साधनीयम्; एवं शुद्धत्वादिकमपीति द्रष्टव्यम्। तत्र आत्मनः सन्मात्रत्वं तावत् स्वयमेव युक्तितोऽनुभवतश्च साधयति, सत्तामात्रमित्यादिना। सत्तायाः सर्वत्रानुगमाद्-व्यभिचारिणी चानुगते कल्पितत्वात् सत्तामात्रं हीदं सर्वमित्यर्थः। ननु सत्ताया जातित्वात् जातेश्च व्यक्तिसापेक्षत्वात् कथं सर्वं सत्तामात्रम्? इत्याशङ्क्य सन्मात्रमेव कारणं स्वाव्यतिरिक्तं कार्य्यमुत्पाद्य तदनुगतं सत् सत्ताजाति-सञ्ज्ञामवाप; ततः कार्य्यस्य कारणमात्रत्वात् तत्रानुगत्युपपत्तेर्न सत्ता जातिः, किन्तु कारणरूप-सत्तामात्रमेवेत्याह, सदेवेति। कारणस्यापि सैषा चित्रेति विचित्रत्वोक्तिस्तत्र सदेवेत्येवकारानुपपत्तिमाशङ्क्य कारणादपि व्यतिरेकमाह, पुरस्तात् सिद्धं हीति। कारणादपि व्यतिरेके तस्यापि साक्षित्वं हेतुमाह, हीति। कारणस्यापि साधकं चैतन्यमेव सत्, यतश्चित्ते चैतन्याकारेण कारणस्याप्यनुपलब्धिस्तस्य न सत्त्वमुपपद्यत इत्यर्थः। तस्मात् ब्रह्मैव सदित्याह, पुरस्तात् सिद्धं हि ब्रह्मेति। पुरस्तात् सिद्धस्य परिच्छेदकाभावेन ब्रह्मत्वं प्रत्यक्षेण साधयति, नह्यत्रेति। अत्र पुरस्तात् सिद्धे चिन्मात्रे

स्वात्मनि न किञ्चिदपि तद्व्यतिरिक्तं तत्परिच्छेदकमनुभूयते तन्निष्ठत्वेन ; ततस्तस्य ब्रह्मत्वमुपपद्यते इत्यर्थः ।

**नाविद्यानुभवात्मनि स्वप्रकाशे सर्वसाक्षिण्यविक्रियेऽद्वये पश्यतेश्चापि सन्मात्रं सदन्यत् (१)सत्यं ह्येत्थं पुरस्तादयोनिः(२) स्वात्मस्थमानन्द-चिद्घनं सिद्धं ह्यसिद्धम् ;**

ननु पुरस्तात् सिद्धे चैतन्ये अविद्या दर्शिता पूर्बमस्येति, तत् कथं तत्र परिच्छेदकाभावः ? इत्याशङ्क्य न तत्र परमार्थतोऽविद्या अस्ति कल्पितत्वात् तस्या इत्याह, नाविद्येति । तत्र हेतुमाह, अनुभवात्मनीति । अनुभवस्यापि परप्रकाश्यत्वे तद्विषयमज्ञानं सम्भवत्यपि कदाचित्, न च तथानुभवस्य पर-प्रकाश्यत्वं, तथा सत्यनुभवायोगात् ; ततश्च स्वप्रकाशत्वादज्ञान-तत्कार्य्ययोस्तत्रा-सम्भवात् तस्य ब्रह्मत्वं सिद्धमित्याह, स्वप्रकाश इति । स्वप्रकाशे यद्यज्ञानं परमार्थतोऽभ्युपगम्यते, तर्हि तन्नाश एव बलादव-गन्तव्यः, न हि नाशं विना स्वप्रकाशस्य स्वात्मानं प्रति अभाणं सम्भवति, तन्नाशश्चानुपपन्न इत्याह, सर्व्वसाक्षिणीति । नाशादेरपि साक्षिणं विना न सिद्धिरित्यर्थः । ननु पुरस्तात् सिद्ध आत्मैव कारणं सर्व्वस्य जगतः, तदन्यस्य निःस्वभावस्य कारणत्वायोगात्, कार्य्यञ्च कारणस्थमेव सर्व्वदा, ततः कथं पुरतोऽद्वयत्वम् ? इत्या-शङ्क्य नास्य परमार्थतः कारणत्वमिति, किन्तु मायाद्वारेणैव कार-णत्वमिति मायामयमेव ततः, अतोऽविक्रियेऽस्मिन् न किमपि

(१) क, ख, ग, घ, असदन्यत् ।

(२) क, पुरस्तादयोनिं स्वात्मयोनिम् ।

परिच्छेदकमस्तीत्याह, अविक्रिय इति । कार्य्य-कारण-भाववत् गुण-गुणित्व-धर्म्म-धर्म्मग्राश्यवस्था तद्भावोऽपि नास्ति जगताम् ; अतस्तत्र किमपि परिच्छेदकं नास्तीत्याह, अद्वय इति । न केवलं पुरत एव सर्व्वस्य सन्मात्रत्वमनुभवितुं शक्यते, किन्तु परतोऽपि व्यवहारकाले शक्यते इत्याह, पश्यतेहापि सन्मात्र-मिति । 'इहापीति' द्वितीय-प्रतिभास-समयेऽपीत्यर्थः । ननु व्यवहार-काले सर्वस्य सन्मात्र-विषयत्वं विशेषाणामप्यवगमात् इत्याशङ्क्य विशेषाणामसत्वमाह, सदन्यदिति ।* सतोऽन्यत्वेऽपि विशेषाणामसत्त्वम्, अनन्यत्वेऽपि विशेषाणामसत्त्वमेवेत्यर्थः । ननु विशेषाणामसत्त्वे सन्मात्रस्यापि भाणायोगादसत्त्वमेव स्यादिति नेत्याह, सत्यं ह्यीति । सत्यत्वे ह्यीति सूचितं हेतुमाह, इत्थं पुरस्तादिति । सर्वकल्पना-साक्षितया कल्पकत्वेन चाकल्पि-तस्य सन्मात्रस्य सर्वप्राणिभिः सर्वकल्पनायाः प्रागेव सिद्धत्वात् न तस्यासत्त्वं शङ्कनीयमित्यर्थः । सर्वकल्पकत्वेन पुरस्तात् सिद्धत्वे द्वैतकारणत्वेन पुनरपि सद्वितीयत्वं प्राप्तमिति चेत्, न, यतोऽस्य परमार्थतः कल्पकत्वमपि नास्तीत्याह, अयोनिरिति(१) । यद्यप्येवं पुनः पुनरुपपाद्यते सन्मात्रं सर्वमिति, तथापि मया सन्मात्रं नानुभूयते, किन्तु घट-पटादिकं जगत् तदनुगताञ्च सत्तां पश्यामीत्याशङ्क्य नैवं (२) वहिर्मुखेन त्वया सन्मात्रान्वेषणं

---

* सदन्यदित्यत्र असदन्यदिति पठित्वा नारायणभट्टेन "असदन्यदेव सत्, न तु सत्वं जातिरित्यर्थः" इति व्याख्यातम् ।

(१) क, ख, अनयोरिति ।

(२) क, नैव ।

कार्य्यम्; यतः स्वे महिम्नि प्रत्यगात्मन्येव स्थितं तत्, न पटादावित्याह, स्वात्मस्थमिति। कस्यचिदपि द्वितीयस्यासत्त्वे सुखानुभवस्यासम्भवात् न पुरुषार्थरूपं तदिति चेत्, नेत्याह, आनन्द-चिद्घनमिति। स्वयमेवानन्दानुभवात्मकमेकरसञ्चेत्यर्थः। सदानन्द-चिद्रूपत्वे हेतुमाह, सिद्धं ह्योति। सर्वसाक्षितया पुरतोऽपरोक्षतया स्वत एव सिद्धे सत्त्वं चित्त्वमानन्दरूपञ्च सिद्धमित्यर्थः। सिद्धश्चेत् केनचित् स्वरूप-व्यतिरिक्तेनैव प्रमाणेन तत्सिद्धमिति प्रमाण-सापेक्षत्वात् न स्वातन्त्र्यम्; अतो नानन्दरूपत्वमनुभवरूपत्वञ्चेति चेत्, न, यतः प्रमाणस्यापि साधकत्वात् नेदं प्रमाणविषयम्; अतः स्वातन्त्र्यानन्दादिरूपत्वे (१) पुरुषार्थरूपमेव तदित्याह, असिद्धमिति।

तद्विष्णुरीशानो ब्रह्मान्यदपि सर्वं सर्वगं सर्वम्; अत एव शुद्धोऽबाध्यस्वरूपो बुद्धः (२) सुखरूप आत्मा; नह्येतत् (३) निरात्मकमपि नात्मा पुरतो हि सिद्धो न ह्रीदं सर्वं कदाचिदात्मा हि स्वमहिमस्थो निरपेक्ष एक एव साक्षी स्वप्रकाशः।

ननु विष्णीशादि-मूर्त्तिभावस्तादात्म्यं वा पुरुषार्थः, न सम्भावभाव इत्याशङ्क्य मूर्त्तीनां मायमय-गुणरूपत्वेनात्र कल्पितत्वस्योक्तत्वात् नैतद्वातिरेकेण तेषां सत्त्वम्; अतएव तद्भाव

(१) क, स्वातन्त्र्यानन्दादिरूपत्वम्।

(२) क, ख, शुद्धः। (३) क, ख, ग, नह्रीदं।

एव परमपुरुषार्थ इत्याह, तद्विष्णुरित्यादिना अन्यदपि सर्व्वमित्यन्तेन । विष्णादिशब्दानां हि सन्मात्र एव मुख्यार्थलाभः; ततः सदा आत्मैव विष्णादिरूप इत्यर्थः । सदेव सर्व्वमित्यत्र हेतुं स्वयमेवाह, सर्व्वगमिति । 'सर्व्वं' विष्णादिकं 'गमयति' प्रकाशयति सृजति स्थापयति संहरति च स्वमाययेति सर्व्वगं विष्णादिमूर्त्तीनां सृष्ट्यादि-कर्त्रित्यर्थः । सत्तामात्रं हीदं सर्व्वमित्युपक्रम्य सर्व्वगमित्यन्तेन सन्मात्रात्म-स्वरूपमेव सर्व्वमित्युपपाद्य तस्य सन्मात्रस्य पुर्वोक्तं ब्रह्मत्वं पुरस्तात् सिद्धं हि ब्रह्मेति । तदुपसंहरति, सर्व्वमिति । 'सर्व्वं' कृत्स्नं पूर्णं ब्रह्मेत्यर्थः । अत्र त्वम्पदार्थ-विशेषणत्वेनोक्तानां सन्मात्रत्वादीनां शोधने तेषां ब्रह्मस्वरूपत्व-कथनं सन्मात्रादिरूपस्य प्रत्यगात्मनो ब्रह्मत्वोपपादनाय, प्रत्यगात्मनोऽपि विचारिते ब्रह्मत्वं प्रतीयत इति वक्तुमुत्तरत्र ब्रह्मविशेषणत्वेनापि सदादीनां वक्ष्यमाणत्वाच्च सन्मात्रोपपादनाय उक्तन्यायमितर-पदार्थ-रूपत्व-प्रतिपादनेऽप्यतिदिशति, अतएवेत्यादिना । शुद्धादिक-ग्रहणं सर्व्वेषामुपलक्षणमिति द्रष्टव्यम् । अवाङ्मस्वरूप इति सत्यपदार्थोक्तिः, आत्मेति प्रत्यक्पदार्थो दर्शितः; तथा आत्मत्वेनापि हेतुना आत्मनोऽद्वितीयत्वं साधयति, नह्येतन्निरात्मकमित्यादिना । 'एतत्' कार्य्यकारणात्मकं जगत् न हि 'निरात्मकं' निःस्वरूपं, किन्तु सस्वरूपमेव, स्वरूपमात्मेति च पर्य्यायः, तथापि द्वैतस्यात्मना सस्वरूपत्वे द्वैतस्यापि स्वरूपत्वेन सद्भावादात्मनः सद्वयत्वं स्यादित्याशङ्क्य यथा द्वैतस्यावशेषः स्यात्, न तथायं तस्यात्मा, किन्तु सर्व्वग्रासेन; अतो द्वैतस्यात्मेत्येवं द्वैतसापेक्षमात्मत्वं नास्तीत्याह,

अपि नात्मेति। आत्मनो निरपेक्षमात्मत्वमित्यत्र हेतुमाह, पुरतो हीति। सर्व्व-द्वैतसिद्धेः पूर्व्वमप्यात्मा आत्मनैव सिद्धः; अतो निरपेक्षमस्यात्मत्वमित्यर्थः। द्वैतस्य पुरतोऽसत्त्वे युक्त्यनुभवसिद्धे सत्यद्वितीयात्मनस्तद्विरुद्धस्य द्वैतस्य तदपेक्षया पुरत इव पुरतोऽपि परमार्थतोऽपि नास्तित्वमेवेत्याह, नह्हीदं सर्व्वं कदाचिदिति। नन्वात्मनोऽपि सिद्धौ कालापेक्षास्ति पुरतोऽपि सिद्ध इत्युक्तत्वात् नेत्याह, आत्मा हीति। आत्मनो निरपेक्षत्वादेकत्वात् साक्षित्वात् स्वप्रकाशत्वाच्चास्तित्वम्; अनात्मनस्तु तद्वैपरीत्यादसत्त्वमित्याह, निरपेक्ष इत्यादिना। उपद्रष्टेति वाक्येन ब्रह्मात्मनोरेकत्वमुपदिश्य विरोधाशङ्कायां प्रत्यगात्मनो ब्रह्मलक्षणलक्षितत्वेन ब्रह्मत्वमुपपादितं स्वप्रकाश इत्यन्तेन ग्रन्थेन।

**किं तन्नित्यम्? (१)आत्मनोऽत्र ह्येव न विचिकित्स्यमेतद्धीदं सर्वं साधयति,**

एवमुपपादितेऽप्यतिसूक्ष्मत्वात् प्रमेयस्य परोक्षमिव पश्यन्तो देवा आहुः, किं तन्नित्यमिति। किं तत् नित्य-शुद्ध-बुद्धादि-रूपमात्मभूतं ब्रह्मेत्यर्थः। प्रजापतिर्न परोक्षं तत् ब्रह्मेत्युत्तरमाह, आत्मेति। नन्वात्मा चेत् ब्रह्म, तर्हि आत्मनोऽपरोक्षमेव ब्रह्म अपरोक्ष आत्मा च सर्व्वेषां सर्व्वदा अपरोक्ष एवेति न कस्यापि कदाचिदपि संसार-प्रतिभासः स्यात्, भासते तु; तस्मान्नात्मभूतं ब्रह्मेत्याशङ्कायामाह, अत्र ह्येव न विचिकित्स्यमिति। 'अत्र' ब्रह्मण आत्मत्वे 'हि' यस्मात् न 'विचिकित्स्यं' संशयितव्यं

(१) क, ग, किं तन्निरात्मकम्।

संशय-कारणाभावादित्यर्थः। हि इति संशय-कारणाभावः सूचितः। आत्मानुभवेऽपि संसार-दर्शनात् नासंसारि-ब्रह्मात्मेति दर्शितम्। ननु शङ्काकारणं न तेषामात्मानुभवस्याभावात्; ते हि देहादिकमेव आत्मानं मन्यमानास्तदपरोक्षं मन्यन्ते, (१) नतु केवलमात्मानं ब्रह्मरूपं ते जानन्तीति हि-शब्देनोक्तम्। ननु नास्ति ब्रह्म, यद्यस्ति, तथापि तटस्थमेव तत्‌नात्मान्तर्भूतं जगत्-कारणत्वेन श्रवणात्; न हि आत्मनो जगत्-कारणत्वं दृश्यते इति, तत्राह, एतद्धीति। 'एतत्' आत्मरूपं ब्रह्म 'हि' यस्मात् 'इदं सर्व्वं' द्वितीयं दर्शनादिकाले 'साधयति' सृजति; स्थिति-संहारादेरुपलक्षणार्थं सृष्टिः; आत्मनोऽन्यस्य दृश्यत्वेनाचेतनत्वात्, अचेतनस्य जगत्-कारणत्वानुपपत्तेः, जगत्-कारणस्य ब्रह्मणः केवलस्य मुख्यया वृत्त्यैवात्मत्वमभ्युपगन्तव्यमिति हि-शब्दार्थः।

**द्रष्टा द्रष्टुः साक्ष्यविक्रियः सिद्धो निरविद्यो वाह्यान्तरवीक्षणात्, सुविस्पष्टस्तमसः परस्तात्।**

एवं युक्तितो ब्रह्मण आत्मत्वमुपपाद्य अन्वय-व्यतिरेक-चतुष्टयेनात्मनो ब्रह्मत्ववत् सच्चिदानन्द-पूर्णात्मत्वमनुभावयितु-मुपलक्षणत्वेन द्रष्टृ-दृश्य-साक्षि-साक्ष्यान्वय-व्यतिरेकावाह, द्रष्टेत्यादिना। तत्तत् द्रष्टेति द्रष्टृ-दृश्यान्वय-व्यतिरेकोक्तिः। ननु द्रष्टापि सुख-दुःख-संसारधर्म्म-विशिष्टः कथं ब्रह्म? इत्याशङ्क्य

(१) ख, तदपरोक्षमेवात्मा परोक्षं मन्यन्ते।

न सुख-दुःखादि-विशिष्टोऽयं द्रष्टा, किन्तु तस्यापि साधकः साक्षीति वदन् साक्षि-साक्ष्यान्वय-व्यतिरेकावाह, (१) द्रष्टा द्रष्टुरिति। सोऽपि द्रष्टा द्रष्टृत्वात् परिणाम्येवेति चेत्, न, सर्व्वविकार-साक्षित्वादित्याह साक्षीति। सोऽपि साक्ष्यादीक्षणस्य कर्त्तेति चेत्, न, तथा सति विकारित्वेन साक्षित्वायोगात् सर्व्वविकार-साक्षी अविक्रिय एवेत्याह, अविक्रिय इति। कोऽसौ साक्षी? इति तु प्रश्नोऽनुपपन्नः प्रसिद्धत्वात्तस्येत्याह, सिद्ध इति। न वयं विद्म इति वा वक्तुं न शक्यते इत्याह, निरविद्य इति*। निरविद्यत्वं साधयति, बाह्यान्तर-वीक्षणादिति। 'बाह्यम्' कार्य्यम्, 'आन्तरम्' कारणं, तयोर्वीक्षणादित्यर्थः। कार्य्य-कारण-वीक्षणेऽपि वीक्षितुः स्वस्वरूपेऽज्ञानं किं न स्यादिति सर्व्वसाधकत्वेन सर्व्वस्मात् पुरतः स्वयं प्रकाशत्वाद्वीक्षितुरित्याह, सुविस्पष्टस्तमसः परस्तादिति(२)। 'तमः' अज्ञानं कारणं तस्यापि साधकत्वेन ततोऽप्युपरि प्रत्यगात्मा सुविस्पष्ट इत्यर्थः।

**ब्रूतैष दृष्टो वेति, दृष्टोऽव्यवहार्य्योऽप्यल्पो नाल्पः साक्ष्यविशेषो नान्यः,**

एवमुपदिश्य प्रजापतिस्तेषां भावं ज्ञातुं पृच्छति, ब्रूतेति। 'एषः' मयोपदिष्टोऽद्वय आत्मा दृष्टः? किं वा न दृष्टो? भवद्भिरिति ब्रूत इत्यर्थः। ते बुद्धिगतं चैतन्याभासमात्म-सदृशं पश्यन्त आहुः,

---

(१) क, ख, साक्षि-साक्ष्यान्वय-व्यतिरेकमाह।

* निरविद्यः, निर्गता अविद्या यस्मादुभयविध-वीक्षणादिति नारायणो व्याख्या।

(२) क, ख, सुविस्पष्टतमसः परस्तादिति।

दृष्ट इति। तेषामन्यथाज्ञानं लिङ्गेन विदित्वा तद्व्युदासाय, भवद्भिर्विदित आत्मा कीदृशः? इत्युक्ते, ते होचुः, अव्यवहार्य्य इति*। यद्यपि दृष्टस्तथापि अव्यवहार्य्य इत्यर्थः। न हि चैतन्याभास इत्थंरूप इति निर्देष्टुं शक्यः, चैतन्य-सदृशत्वात् तस्य केवलस्य। पुनरपि शुद्धान्तःकरणतया स्वात्मनोऽनुभवं प्रजापतिनोक्तमात्मलक्षणञ्च पुनः परामृश्य बुद्धिगतस्याभासस्यात्मत्वेन गृहीतस्याल्पं दोषं पश्यन्त आहुः, अप्यल्प इति। यद्यपि दृष्टोऽव्यवहार्य्यश्च, तथापि परिच्छिन्न आत्मा नः प्रकाशते इत्यर्थ इत्युक्तः प्रजापतिः परमार्थात्मनोऽल्पत्वं निराचष्टे, नाल्प इति। अनल्पत्वे अल्पत्वस्यापि साक्षित्वे हेतुमाह, साक्षीति। साक्षित्वादेव विशेषान्तरमाशङ्क्यमानं निवर्त्तयति, अविशेष इति। तथापि देहान्तरेऽप्यन्य एवंविध आत्मास्ति ; अतः सजातीयभेदवान् परिच्छिन्न एवेति चेत्, न, यतो न देहान्तरस्थ आत्मा एतद्देहस्थात्मनोऽन्य इत्याह, नान्य इति।

**असुखदुःखोऽद्वयः परमात्मा सर्वज्ञोऽनन्तोऽभिन्नोऽद्वयः ;**

ननु सुख-दुःखादिव्यवस्थया देहभेदेषु आत्मभेदोऽभ्युपगन्तव्य इति चेत्, न, सुखदुःखादीनामात्म-धर्म्मत्वाभावेन तद्भेदस्यात्मभेद-साधकत्वानुपपत्तेरित्याह, असुख-दुःख इति। सर्वदेहेष्वात्मैकत्वे अनुसन्धानादि-प्रसङ्ग इति चेत्, न, अनुसन्धानादेरप्यात्मधर्म्मत्वाभावादित्याह, अद्वय इति। तथापि परमात्मा

---

* अव्यवहार्य्य इत्यत्र व्यवहार्य्य इति पठित्वा नारायणभट्टेन, 'व्यवहार्य्यः' जागरणादि-व्यवहारवान् इति व्याख्यातम्।

अन्य इति चेत्, न, यतः स्वत आत्मैव परमात्मा इत्याह, परमात्मेति। ननु सर्वज्ञः परमात्मा, आत्मा तु किञ्चिदज्ञः; अतः कथमयं परमात्मेति चेत्, नायं दोषः, यत आत्मापि परमात्मवत् सर्वज्ञः सर्वेश्वरश्चेत्याह, सर्वज्ञ इति। सर्वबुद्धि-साक्षित्वं चिद्रूपत्वञ्चेतीश्वरस्य सार्वज्ञ्यं, तदस्यापि चिन्मात्ररूपस्यात्मनोऽविशिष्टमित्यर्थः। सर्वेश्वरत्वञ्च सर्वसन्निधि-मात्रेण सर्वप्रवर्त्तकत्वं, तदपि समानमेव; अतोऽपरिच्छिन्नोऽयमात्मेत्याह, अनन्त इति। तथापि साक्षिणा आत्मना साक्ष्य-सद्भावादिजातीयभेदवत्त्वेन नाद्वितीयेश्वरात्मत्वमिति चेत्, न, साक्ष्यस्य कल्पितत्वादित्याह, अभिन्न इति। फलितमाह, अद्वय इति।

**सर्वदा संवित्तिर्मायया, नासंवित्तिः स्वप्रकाशः, यूयमेव, दृष्टः किमद्वयेन? न, द्वितीयमेव, (१) न यूयमेव ब्रूह्मेव, भगवन्निति ते देवा ऊचुः, यूयमेव।**

यद्येवमद्वय ईश्वर एवायमात्मा, किमिति तथा सदायं नावभासते इत्यज्ञान-बलादित्याह, सर्वदेति। तर्हि मायाज्ञान-सम्बन्ध एव दोषः? इत्याशङ्क्य न तत्सम्बन्धः परमार्थतः स्वप्रकाशत्वात् सम्भवति; अतो न दोष इत्याह, नासंवित्तिः स्वप्रकाश इति। किं तर्हि इदं मायेति, अज्ञानमिति च सर्वदा उच्यते? आत्मनि कल्पितत्वात्, आत्मव्यतिरेकेणाज्ञान-

(१) घ, किमद्वयो न द्वितीयमेव।

मायाया अभावादात्मैव तथोच्यते इत्याह, यूयमेवेति* । पुनरपि प्रजापतिः पृच्छति, दृष्टः किमद्वयेनेति । किमद्वय-ब्रह्मरूपेणात्मा दृष्टो भवद्भिः? किं वा न? इत्यर्थः । देवा ऊचुः, द्वितीयमेवेति । द्वयमेवास्माभिर्दृश्यते नाद्वयमित्यर्थः । आह प्रजापतिः, नेति । न द्वयं भवद्भिर्दृश्यते इत्यर्थः । तत्र हेतुमाह, न यूयमेवेति । ततो यूयमेव वस्तु न द्वयम्; तस्मात् द्वयं द्रष्टुं न शक्यते इत्यर्थः । देवा ऊचुः, ब्रह्मेवेति । यद्येवमात्मैव वस्तु न द्वयं, तर्हि तत् पुनरेव ब्रूहि । भगवन्निति देवा ऊचुरित्यर्थः । आह प्रजापतिः, यूयमेवेति । न हि युष्मद्व्यतिरेकेण द्वयमस्ति परमार्थः, युयमेव वस्त्वस्तीत्यर्थः ।

दृश्यते चेन्नात्मज्ञाः, असङ्गो (१) ह्ययमात्मा; अतो यूयमेव स्वप्रकाशाः, इदं हि सत्-संविन्मयत्वात्(२) यूयमेव नेति होचुः; हन्तासङ्गा वयमिति होचुः; कथं पश्यन्तीति होवाच; न वयं विद्म इति होचुः; ततो यूयमेव स्वप्रकाशा इति होवाच; न च सत्-संविन्मयाः ।

पुनरपि अस्माभिर्द्वयमेव दृश्यत इत्युक्तः प्रजापतिराह, दृश्यते चेदिति । दृश्यते चेत् द्वयं, तर्हि न यूयमात्मज्ञा इत्यर्थः । कथं द्वयदर्शन-मात्रेण नात्मज्ञत्वमिति? तत्राह, असङ्ग इति ।

* यूयमेव दृष्ट इति 'यो दृष्टः स यूयमेव युष्मद्रूपमेव, इति नारायणेन व्याख्यातम् ।

(१) क, ग, चिन्मात्रात्मज्ञाः ।

(२) क, ख, ग, घ, सत्-सच्चिन्मयत्वात् ।

असङ्गस्य हि द्वितीय-सम्बन्धानुपपत्तेर्न द्वितीय-दर्शनमस्ति ; यूयन्त्वात्मानं द्वितीयं द्रष्टारं मन्यध्वे; (१) अतो नात्मज्ञा इत्यर्थः। कथं तर्हि आत्मनो द्वितीयत्वे द्वैत-द्रष्टृ-प्रतिभासः? इत्याशङ्क्य आत्मा स्वयम्प्रकाशो द्वैतरूपेण प्रथते मायया; तत आत्मा प्रथैव द्वैतप्रथेति कल्प्यते मूढैरित्याह, यत इति। यत आत्मा असङ्गत्वात् द्वितीयद्रष्टा न भवति ; अतो यूयमेव द्वैतरूपेण स्वप्रकाशा इत्यर्थः। द्वैतस्य स्वप्रकाशात्म-मात्रत्वं साधयति, इदं ह्येत्यादिना। अर्थात् प्रजापतिनोक्तमात्मनोऽसङ्ग-संविद्रूपत्वम्। नेति होचुरिति(२)। देवा नेति होचुरित्यस्यार्थः। तत्रासङ्गत्वं हेतुं प्रोचुरित्याह, हन्तासङ्गा वयमिति। 'हन्त' यदि भवतोक्तं सत्यमसङ्गोऽयमात्मेति, तर्हि असङ्गा वयमिति यस्मात्, तस्मादसङ्ग संविन्मयत्वमस्माकमिति होचुरित्यर्थः। कथमिति प्रजापतेः प्रश्नः, यद्यसङ्गा यूयं, कथं तर्हि द्वैतं पश्यन्तीति होवाचेत्यर्थः। न वयं द्वैतदर्शन-प्रकारं विद्म इति होचुर्देवाः। यत एवमसङ्गत्वादात्मनो द्वितीयदर्शनं न भवति, 'ततः' तस्मान्मदुक्त-प्रकारेण सत्-संविद्रूपा यूयमेव द्वैतरूपेण स्वप्रकाशा इति होवाच प्रजापतिः।

एतौ हि पुरस्तात् सुविभातमव्यवहार्यमेवाद्वयं ज्ञातो वैष विज्ञातो विदिताविदितात् पर इति होचुः।

ननु ससङ्गयोः सत्-संविदोः कथमसङ्ग-सत्-संविद्रूपत्वमिति

(१) क, ख, मन्यते।

(२) क, ख, नेति होचुर्देवा इति।

देवानां मतमाशङ्क्य न च युष्माकं सङ्ग-सत्-संविद्रूपत्वमुक्तं भगवतेति देवानां मतमाशङ्क्य सत्-संविच्छब्द-लक्ष्य-स्वरूप-विवक्षयेत्यभिप्रेत्य संविदात्मनोरव्यवहार्य्यात्ममात्रत्वमाह, एतौ होत्यादिना। आह प्रजापतिः, ज्ञातो वैष इति। किं मयोक्तोऽव्यवहार्य्य आत्मा भवद्भिर्ज्ञातः?, अथवा न ज्ञातः? इत्यर्थः। देवा ऊचुः, विज्ञात इति। कथं विज्ञातः? इति प्रजापतिना पृष्टा ऊचुरित्याह। विदिताविदितात् पर इति होचुरिति। विदितात् परत्वमविषयत्वात्; अविदितात् परत्वं स्वप्रकाशचिद्रूपत्वात्।

**स होवाच, तद्वा एतद्-ब्रह्माद्वयं बृहत्त्वान्नित्यं शुद्धं बुद्धं मुक्तं सत्यं सूक्ष्मं परिपूर्णमद्वयं सदानन्द-(१)चिन्मात्रमात्मैवाव्यवहार्यं केनचन; तदेतदात्मानमोमित्यपश्यन्तः पश्यत; तदेतत् सत्यमात्मा ब्रह्मैव ब्रह्मात्मैव(२)।**

एवं त्वम्पदार्थशोधनं कारयित्वा तत्पदार्थशोधने प्रवर्त्तयन् स होवाच प्रजापतिः। किमुवाचेत्याह, तद्वा इति। 'तत्' इति कारणत्वेन परोक्षम्, 'एतत्' इति तदेव कार्य्ये प्रविष्टमपरोक्षमुक्तम्। अद्वयत्वे हेतुमाह, बृहत्त्वादिति। बृहतेर्धातोरद्वयत्वम्; एवं मुख्यार्थ-लाभादद्वयमेव ब्रह्मेत्यर्थः। एवं विशेष्यमद्वयमभिधाय आत्मवत् ब्रह्मणो नित्यत्वादिकं विशेषणमाह, नित्यं शुद्धमित्यादिना। उक्तस्य विशेष्यस्य ब्रह्मणोऽद्वयत्वा-

(१) क, सच्चिदानन्द। (२) क, ख, आत्मा ब्रह्मैव ब्रह्मैव।

तदामुगुख्यसिद्धये स्ववाच्यार्थं परित्यज्य एकरस-चिन्मात्रार्थता-प्राप्तैव नित्यादि-पदानां ब्रह्मणि वृत्तिरित्याह, अव्यवहार्य्यं केन-चनेति। केनचनापिपदेन मुख्यया वृत्त्या अव्यवहार्य्यमित्यर्थः। एवं पदार्थद्वयं संशोध्य तयोरेकत्वं प्रणवेनाविषयतया प्रतिपत्तव्य-मित्याह, तदेतदिति। 'तदेतत्' यथोक्तं ब्रह्मात्मानं 'पश्यत' आत्मरूपेणैव पश्यतेत्यर्थः। अपश्यन्त इति, अविषयतयेत्यर्थः। उक्तमेकत्वं शपथकरणेन(१) द्रढ़यति, तदेतत् सत्यमित्यादिना। किं तदिति तदाह, आत्मा ब्रह्मैव ब्रह्मात्मैवेति। इत्येतत् सत्य-मित्यर्थः।

अत्र ह्येव न विचिकित्स्यमित्यों सत्यम्; तदेतत् पण्डिता एव पश्यन्ति; एतद्ध्यशब्द-मस्पर्श-मरूप-मरस-मगन्ध-मव्यक्तव्य(२)-मनादातव्य-मगन्तव्य-मविसर्जयितव्य-मनानन्दयितव्य-ममन्तव्य-मबोद्धव्य-मनहङ्कर्त्तव्य-मचेतयि-तव्य-मप्राणयितव्य-मनपानयितव्य-मव्यानयितव्य-मनुदान-यितव्य-मसमानयितव्य-मनिन्द्रिय-मविषय-मकरण-मलक्षण-मसङ्ग-मगुण-मविक्रिय-मव्यपदेश्य-मसत्त्व-मरजस्क-मत-मस्क-मज-ममाय-मप्यौपनिषदमेव सुविभातं सकृद्विभातं पुरतोऽस्मात् सर्वस्मात् सुविभातमद्वयं पश्यताद्दं सः सो-ऽहमिति।

(१)—क, शपथन कारणेन।

(२) घ, मवक्तव्य।

यत उक्तमेकत्वं सत्यम्, अतोऽत्र संशयो नैव कार्य्य इत्याह, अत्र ह्येवेति। उक्तमेकत्वं स्वानुभवेनापि द्रढ़यति, इत्योमिति। 'इति' इत्युक्तस्यैक्य-परामर्शः। ओम् इत्यनुज्ञया स्वानुभवः प्रकटीकृतः। सत्यत्वमुपसंहरति, सत्यमिति। न्याय-मीमांसा-संस्कृत-बुद्धीनां शब्दप्रवृत्ति-निवृत्ति-भेदविदामेव उक्तात्मैक्य-प्रतिपत्तिर्भवतीत्याह, तदेतदिति। तत्र हेतुमाह, एतद्धीत्यादिना। अविषयमिति विषयसामान्य-प्रतिषेधः; अलक्षणमित्यनुमान-प्रतिषेधः; शब्दप्रवृत्ति-निमित्त-षष्ठ्यादि-प्रतिषेधो ऽसङ्गमित्यादिभिः; अतो ऽव्यपदेश्यं शब्दैः। अमायमिति गुण-साम्यरूप-माया-प्रतिषेधः। यद्यप्येवं सर्व्वविशेष-रहितं, तथाप्युपनिषद्भिरेव लक्षणया ज्ञातव्यमित्याह, अथौपनिषदमिति। उपनिषद्भिर्लक्षणया ज्ञाते स्पष्टतया ब्रह्मज्ञानं भवतीत्याह, सुविभातमिति। नचौपनिषदेनापि ज्ञानेनात्मनि कश्चिदतिशयो जन्यते स्वप्रकाश-नित्य-चैतन्य-रूपत्वादात्मन इत्याह, सकृद्विभातमिति। सर्व्वदा स्वप्रकाशरूपमित्यर्थः। तत्र सर्व्वसाक्षित्वे हेतुमाह, पुरत इति। व्यतिहारेण चैकत्वं प्रतिपत्तव्य-मित्याह, पश्यताहं सः सोऽहमिति।

स होवाच, किमेष दृष्टोऽदृष्टो वेति; दृष्टो विदिताविदितात् पर इति होचुः; कैषा(१) कथमिति होचुः; किं तेन; न किञ्चनेति होचुः; यूयमाश्चर्य्यरूपा इति न

(१) क, ख, कैषा।

**चेत्याच, ओमित्यनुजानीध्वं, ब्रूतैनमिति ग्रातोऽग्राक्सोत ह्योचुः। न चैवमिति ह्योचुर्ब्रूतैवैनमात्मसिद्धमिति ह्योवाच।**

पूर्ववत् स होवाच प्रजापतिः, किमेष दृष्टोऽदृष्टो वेति। एवं पृष्टा देवा ऊचुः, दृष्ट इति। दृष्टश्चेत् किमात्मकोऽसाविति पृष्टा ऊचुः, विदिताविदितात् पर इति। पुनरपि साश्चर्य्यमूचुः, क्वैषा कथमिति। क्व 'एषा' माया इदानीं गता? कथञ्च पूर्वमासीत्? स्वप्रकाशे चिदात्मनि अहो आश्चर्य्यमेतदित्यर्थः। किं तेन मायावृत्त-परिज्ञानेन भवतां तदपरिज्ञानेन किं भवतामस्ति काचिन्न्यूनता इत्यभिप्रायः प्रजापतिः पृच्छति, किं तेनेति। पृच्छन्तं देवा ऊचुः, न किञ्चनेति। न किञ्चन प्रयोजनमस्माकमस्ति मायावृत्त-परिज्ञानेन केवलमाश्चर्य्यवशात् पृष्टमस्माभिरित्यर्थः। यूयमेवाश्चर्य्यरूपा न माया, यतो यूयमेवंविधाया मायायाः सत्ताप्रतिभासयोर्विचित्रार्थ-क्रिया-सामर्थ्यस्य च हेतव इत्यर्थो यूयमाश्चर्य्यरूपा इत्यस्य; यतः स्वरूपसत्तामात्रेण भवतामप्युक्त-हेतुत्वं न विकृततया, अतो न युष्माकमपि सर्व्वदैकस्थत्वादाश्चर्य्यरूपत्वं वक्तुं शक्यते। अदृष्टपूर्वं ह्यद्भुतमाश्चर्य्य-मित्युच्यत इति न चेत्याचेत्यस्यार्थः। च शब्दादाश्चर्य्यरूपा इति पदमनुषज्यते; किं बहुना मायाचिन्तां परित्यज्य सर्व्वदा ओमित्यनुजानीध्वम्। सर्व्वसत्ता-प्रतिभासानुज्ञातारं मदुक्तमात्मानमोमिति पूर्ववस्तु-भासकेनानुज्ञाप्रणवेन 'अनुजानीध्वं' प्रतीपद्यध्वमित्यर्थः। न चात्र प्रतिपत्तृ-प्रतिपत्तव्य-प्रतिपत्ति-सा-

धनानां भेदोऽस्ति यतो वक्ष्यति कैषानुज्ञेति(१) एष एवात्मेति होवाचेति। अत ओमित्यनुजानीध्वमिति विद्यया निवृत्ताविद्यानां स्वरूपावस्थानमेवोक्तम् अनुजानीध्वमिति नियोगरूपन्तु वचनं विविदिषून् प्रत्येवेति मन्तव्यम्; अत उत्पन्नविद्यान् देवान् प्रति अनुजानीध्वमिति प्रजापतेर्वचनं तत्परीक्षार्थमेव। यथेदमुत्तरं वचनं परीक्षार्थं ब्रूतैनमित्यादि। 'एनं' मयोपदिष्टं भवद्भिर्ज्ञातमात्मनं भवद्भिर्विदितेनासाधारणेन रूपेण ब्रूत इत्यस्यार्थः। ते देवाः पूर्ववत् ज्ञातोऽज्ञातश्चेति होचुः। तर्हि ज्ञातत्वाज्ञातत्व-धर्मवानात्मा भवद्भिर्ज्ञात इति प्रजापतिनोक्ता ज्ञाताज्ञातधर्माभावं पुनरप्याहुरिति न चैवमिति होचुरित्यस्यार्थः। यद्यपि ज्ञातत्वाज्ञातत्वधर्मौ नास्यात्मनः, तथापि ब्रूतैवैनमात्मानम्। यदस्यासाधारणरूपं तेन ब्रूतैव वक्तव्यमेव भवद्भिरित्यर्थो ब्रूतैवैनमित्यस्य। ननु न शक्यते वक्तुमस्माभिरिति देवानां मतमाशङ्क्याह, आत्मसिद्धमिति। न हि न सिद्धं वक्तुं शक्यतेइत्यभिप्रायः।

पश्याम एव भगवन्! न च वयं पश्यामो नैव वयं वक्तुं शक्नुम; नमस्ते भगवन्! प्रसीदेति होचुः; नभेत्तव्यं, पृच्छतेति होवाच; कैषानुज्ञेति; एष एवात्मेति होवाच; ते होचुः, नमस्तुभ्यं वयन्तव; इति ह प्रजापतिर्देवाननुशशासानुशशासेति।

(१) ख, कैषानुज्ञेति।

पश्याम इत्यादि देवानां वचनम्; त्वत्प्रसादात् पश्याम एवात्मानं भगवन्! न वयं केनचिद्धर्म्मेण विशिष्टं पश्यामः; अतो नैवेत्थंरूप इत्यात्मानं वक्तुं शक्नुमः। नमस्ते भगवन्! सर्व्वज्ञ! 'प्रसीद' अस्मत्-परीक्षाप्रश्नादिरस्य प्रसन्नो भवेति होचुरित्यर्थः। यद्यप्येवमात्मनो निर्व्विशेषत्वं निश्चितं भवद्भिः, तर्हि निवृत्त-संसारभया ययमित्याह प्रजापतिः, न भेतव्यमिति। अतः परं निवृत्ताज्ञानत्वेन निवृत्तसर्व्वसंसारभया यूयमित्यर्थः। यदि प्रष्टव्यशेषोऽस्ति भवतां? तर्हि तं पृच्छतेति होवाच प्रजापतिः पूर्वोक्तानुज्ञाकर्त्तव्यं परिहर्त्तुमिच्छन्। विद्यया कृतानस्मान् प्रति किमिदं प्रजापतिनोक्तमोमित्यनुजानीध्वमिति हृद्गतं शल्यमपनेतुं देवाः पप्रच्छुर्लब्धानुज्ञा इत्याह, कैषानुज्ञेति*। या अस्माकं त्वत्प्रसादात् कृतकृत्यानामपि कर्त्तव्यतया भवतोक्ता अनुज्ञा ओमित्यनुजानीध्वमिति, सा किं कर्त्तव्यरूपास्माकम्? उत न इत्यर्थः। न कर्त्तव्यरूपेति प्रजापतेरुत्तरम् एष एवेति। न कर्त्तव्यरूपेयं, किन्त्वेष एव स्वयम्प्रकाश आत्मानुज्ञा, स हि सर्व्वसत्तां स्फूर्त्तिञ्चानुजानातीत्यनुज्ञारूप इत्यर्थः; अत ओमित्यनुजानीध्वमित्यस्यायमर्थः; ओमित्यनेनोङ्कारेण लक्ष्यमात्मानम् अनुजानीध्वं प्रतिपद्यध्वं हे विविदिषव इति (१)। एवं प्रजापतिना स्वाराज्येऽभिषिक्ताः 'ते' देवा ऊचुः। किमुक्तवन्त इत्याह, नमस्तुभ्यं वयं

---

* कैषा इत्यत्र क्वैषेति पठित्वा, "क्वैषेति ब्रह्मणो वाक्यम् अनुज्ञेतिशेषः, क्व एषानुज्ञा वर्त्तते" इति नारायणभट्टेन व्याख्यातम्।

(१) क, ख, हे विविदिष हे व इति।

त्तवेति। नमस्कार-पूर्वकं स्वात्मानमर्पितवन्त इत्यर्थः। 'इति' इत्यादिश्रुतेर्व्वचनम्, इति एवमुक्तेन प्रकारेण प्रजापतिर्देवाननु-शशासेति। द्विर्व्वचनमनुशासन-समाप्ति-द्योतनार्थम्। इतिशब्द आख्यायिका-समाप्त्यर्थः।

तदेष श्लोकः॥

ओतमोतेन जानीयादनुज्ञातारमान्तरम्।
अनुज्ञामद्वयं लब्ध्वा उपद्रष्टारमाव्रजेदिति॥

इत्यथर्व-वेदोपनिषत्सु नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषत्
समाप्ता॥

तुरीयानुशासन-खण्डद्वयोक्तेऽर्थे श्लोकमवतारयति, तदेष इति। 'ओतम्' आत्मानम् 'ओतेन' प्रणवेन जानीयात्; उक्तप्रकारेण 'अनुज्ञातारम्' आत्मानम् 'आन्तरम्' ओताद-प्यान्तरम् अनुज्ञातृप्रणवेन उक्तप्रकारेण जानीयादित्यनुवर्त्तते, अनुज्ञारूपमात्मानमित्यर्थः। तमनुज्ञाप्रणवेन जानीयात्। 'अद्व-यम्' अविकल्पमात्मानम् अविकल्प-प्रणवेन 'लब्ध्वा' गुरुप्रसादा-दतो ज्ञात्वेति तुरीयखण्डार्थ उक्तः। अनुशासन-खण्डार्थ-माह, उपद्रष्टारमाव्रजेदिति। ओतादि-प्रयोगैः शुद्धान्तःकरणः अनुशासन-खण्डोक्त-प्रकारेणानुशिष्ट उपद्रष्टृरूपेणावस्थितो भवे-दित्यर्थः।

तापनीय-रहस्यार्थ-दीपिका तिमिरापहा ।
गुर्व्वनुग्रह-लब्धैषा सतामस्तु सुखाप्तये ॥
सच्चिदानन्द-सम्पूर्ण-प्रत्यगेक-रसात्मने ।
तेजसे महते भूयान्नमः पुंसिंहरूपिणे ॥
यस्य संस्मृतिमात्रेण तरन्ति भवसागरम् ।
तान् नतोऽस्मि गुरून् भक्त्या धिया वाचा च कर्म्मणा ॥

इति श्रीगोविन्द-भगवत्-पूज्यपादशिष्यस्य परमहंस-परिव्राजकाचार्य्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृता-*माथर्व्वणोत्तर-(१) तापनीयोपनिषद्रहस्यार्थ-दीपिका† समाप्ता ॥

---

* यद्यप्यादर्श-पुस्तकद्वये श्रीगोविन्दभगवदित्यादिपाठो न दृश्यते, तथाप्यस्या-विवृतेः शङ्कर-विहितत्व-सूचकस्य प्राचीनैकवचनस्य दर्शनात्, पूर्वपूर्व-भाष्यान्ते एतत्पाठस्यावलोकनात्, ग्रन्थान्ते चैतत्पाठस्य निवेशनौचित्याद्चासौ विनिवेशितः ।

(१) क, ख, इत्युत्तरतापनीयोपनिषद्रहस्यार्थ-दीपिका ।

† श्रीशङ्करकृता हि विवृतिः क्वचिद् भाष्यनाम्ना क्वचिच्च दीपिकानाम्ना प्रथिता तद्व्याख्यात-तैत्तिरीयोपनिषत्-प्रभृतिषु ग्रन्थान्तरेषु तथा दर्शनात्; अतोऽस्य ग्रन्थस्य पूर्वभागे भाष्यनाम्ना परभागे च दीपिकानाम्ना तस्याः कीर्त्तनमन्यकृतेयमिति शङ्कां नोत्पादयति । यदि पुनर्लिखन-तारतम्य-दर्शनेनान्यकृतेयमिति कोऽपि शङ्कते तत्र नाहं किमपि वक्तुमिच्छामि ।

# षट्चक्रोपनिषत्।



ओं देवा ह वै सत्यं लोकमायान्, ते प्रजापतिमपृच्छन्, नारसिंहं चक्रं नो ब्रूहीति। तान् प्रजापतिर्नारसिंहं चक्रमवोचत्; षड्वै नारसिंहानि चक्राणि भवन्ति; यत् प्रथमं तच्चतुररं, यद्द्वितीयं तच्चतुररं, यत्तृतीय तत् पञ्चारं, यच्चतुर्थं तत् षडरं, यत् पञ्चमं, तत् सप्तारं, यत् षष्ठं तदष्टारम्; तदेतानि षड़ेव नारसिंहानि चक्राणि भवन्ति। अथ कानि नामानि भवन्ति?, यत् प्रथमं तदाचक्रं, यद्द्वितीयं तत् सुचक्रं, यत्तृतीयं, तन्महाचक्रं, यच्चतुर्थं तत् सकल-लोक-रक्षणचक्रं, यत् पञ्चमं, तद्द्युचक्रं, यत् षष्ठं तदसुरान्तकचक्रम्; तदेतानि भवन्ति, षड़ेव नारसिंह-चक्रनामानि भवन्ति॥

षड़ङ्गन्याससिद्ध्यर्थं षट् चक्राणि क्रमादिह।
स्वरूपतो मन्त्रतश्च रूप्यन्ते प्रश्नपूर्वकम्॥

प्रश्नोद्देशेन इन्द्रादयो ब्रह्मलोकमगच्छन्नित्याह। ओं देवा ह वा इति सामान्यप्रश्नः, विशेषप्रश्नो नारसिंहमिति। तानिति श्रुतेः, वचः, चक्रमित्येकवचनात्, उपसंहारे च 'यो वा एतं-नारसिंहं चक्रमधीते' इत्येक वचनात् षड़प्येकैकोपरि लेख्यानि; तेनैकं महाचक्रं भवतीति गम्यते, नारसिंहानि चक्राणि भवन्तीत्यतः प्राक् षड्वा इति ज्ञेयम्। 'चतुररं' चत्वारोऽरा यस्य तत्

तथा, अरोपरि त्रिकोणाकाराणि पत्राण्यपि भवन्तीति द्रष्टव्यम् । पञ्च अरा यस्य तत् पञ्चारम्, अष्टावरा यस्य तदष्टारम् । अन्ते मिलितयोः सन्धानकारीणि काष्ठादीनि अराः, तेषां नामानि पृच्छन्ति, अथ कानीति । 'आ' आनन्दात्मकं चक्रमाचक्रं, 'सुष्टु' सम्यक् सिद्धं चक्रं सुचक्रं, 'महत्' तेजोमयं चक्रं महाचक्रं, सकललोका रक्ष्यन्ते ज्ञानक्रिया-शक्तिभ्यामनेन चक्रेण तत् सकललोक-रक्षण-चक्रं, 'दिवः' योगगम्यमार्गस्य चक्रं द्युचक्रम्, 'असुराणाम्' असत्यवादिनाम् 'अन्तक इव' चक्रमसुरान्तकचक्रं प्रतिचक्रञ्च ।

अथ कानि त्रीणि वलयानि भवन्ति ?, यत् प्रथमं तदान्तरं वलयं भवति, यद्द्वितीयं तन्मध्यमं वलयं भवति, यत् तृतीयं तद्वाह्यं वलयं भवति; तदेतानि त्रीण्येव वलयानि भवन्ति, यदान्तरं तद्वै बीजं, यन्मध्यमं तन्नारसिंह-गायत्री, यद्वाह्यं तन्मन्त्रः । अथ किमान्तरं वलयं ?, षड़ा आन्तराणि वलयानि भवन्ति; यन्नारसिंहं तत् प्रथमस्य यन्माहालक्ष्मं तद्द्वितीयस्य, यत् सारस्वतं तत्तृतीयस्य, यत् कामदेवं तच्चतुर्थस्य, यत् प्रणवं तत् पञ्चमस्य, यत् क्रोधदैवतं तत् षष्ठस्य; तदेतानि षण्णां नारसिंहचक्राणां षड़ान्तराणि वलयानि भवन्ति ॥

त्रीणि त्रीणि वलयानि (१) कुण्डलाकाराणि भवन्ति ॥

---

(१) ख, त्रीणि त्रीणि च युगानि ।

तेषां प्रश्नपूर्वकमन्वर्थानि नामान्याह, अथ कानि त्रीणि इति। उपसंहारः तदेतानि इति। त्रीण्येवेति प्रत्येकमिति शेषः। तद्वीजमिति। तत्तद्वक्ष्यमाण-षड्वीजात्मकमित्यर्थः। मध्यमं वलयं नारसिंहगायत्र्यवयवात्मकत्वान्नारसिंहगायत्री। तन्मन्त्र इति। 'तत्' षडङ्गमन्त्रात्मकमित्यर्थः। षण्णां कथमेकमान्तरं वलयमित्याशयेन पृच्छति। अथ किमान्तरमिति। इतरषट्चक्र प्रत्येक सम्बन्धेन परिहरति, षड्वा इति। एवं मध्यम-वाह्ययोरपि व्याख्येयम्। यदिति। 'यत्' नारसिंहं वीजं च्चौमिति(१) तत् 'प्रथमस्य' आचक्राख्यस्यान्तर-वलयमध्ये भवति। एवमितरेष्वपि व्याख्येयम्। 'माहालक्ष्मम्' श्रीमिति, यद्वा 'महालक्ष्मीः' नारसींही शक्तिः, 'तत्' विजमिति। 'सारस्वतम्' ऐमिति। 'कामदेवं' क्लीमिति। 'प्रणवम्' ओमिति। 'क्रोधदैवतं' हुमिति।

अथ किं मध्यम वलयं? षड्वै मध्यमानि वलयानि भवन्ति; यन्नारसिंहाय तत् प्रथमस्य, यद्विद्महे तद्द्वितीयस्य, यद्वज्रनखाय तत्तृतीयस्य, यद्धीमहि तच्चतुर्थस्य, यत् तन्नस्तत् पञ्चमस्य, यत् सिंहः प्रचोदयादिति तत् षष्ठस्य; तदेतत् षण्णां नारसिंहचक्राणां षड् मध्यमानि वलयानि भवन्ति। अथ किं वाह्यं वलयं? षड्वै वाह्यानि वलयानि भवन्ति; यदाचक्रं यदानन्दात्मा तत् प्रथमस्य, यत् सुचक्रं यत् प्रियात्मा तद्द्वितीयस्य, यन्महाचक्रं यज्ज्योतिरात्मा तत्

(१) क, च्चौमिति।

तृतीयस्य, यत् सकललोकरक्षणं चक्रं यन्मायात्मा तच्च-तुर्थस्य, यद्युचक्रं यद्योगात्मा तत् पञ्चमस्य, यदसुरा-न्तकं चक्रं यत् समाप्तात्मा तत् षष्ठस्य; तदेतानि षण्णां नारसिंहचक्राणां षड्वाह्यानि वलयानि भवन्ति।

नारसिंहायेति चत्वार्य्यक्षराणि 'प्रथमस्य' आचक्राख्यस्य मध्यमवलये(१) यावत्समाप्तावृत्त्या लिखेत्। एवमग्रेऽपि ज्ञेयम्। यदानन्दात्मेति आचक्राय आनन्दात्मने स्वाहा हृदयाय नमः इत्यावृत्त्या यावद्वलयसमाप्ति लेख्यम्।

सुचक्राय प्रियात्मने स्वाहा शिरसे स्वाहा, महाचक्राय ज्योति-रात्मने स्वाहा शिखायै वषट्, सकललोक-रक्षण-चक्राय मायात्मने स्वाहा कवचाय हुम्, द्युचक्राय योगात्मने स्वाहा नेत्रत्रयाय वौषट्, असुरान्तकचक्राय सत्यात्मने स्वाहा अस्त्राय फट्, एवं वाह्यवलयेषु क्रमेण लेख्यम्।

अथ कैतानि न्यस्यानि?, यत् प्रथमं तद्-हृदये, य-द्द्वितीयं तच्छिरसि, यत्तृतीयं तच्छिखायां, यच्चतुर्थं तत् सर्वेष्वङ्गेषु, यत् पञ्चमं, तत् सर्वेषु नेत्रेषु, यत् षष्ठं तत् सर्वेषु देशेषु॥

पूर्वोक्तमन्त्रावृत्त्या(२) वलयत्रयलिखितमन्त्ररूपाणि षडङ्गेषु न्यसनीयानीति प्रश्नपूर्वकमाह। अथ कैतानीति। यों नार-

(१) क, प्रथमस्य मध्यमः वलये।

(२) ख, वलया पर्णा मन्त्रावृत्त्या वलयं परणीयम्।

सिंहाय चक्राय आनन्दात्मने स्वाहा हृदयाय नमः इति हृदि ॥१॥ श्रीं विद्महे सुचक्राय प्रियात्मने स्वाहा सिरसे स्वाहा इति शिरसि।२। ऐं वज्रनखाय महाचक्राय ज्योतिरात्मने स्वाहा शिखायै वषडिति शिखायाम्।३। क्लीं धीमहि सकललोक-रक्षणचक्राय मायात्मने स्वाहा कवचाय हुमिति कवचे।४। श्रीं तन्नो द्यु-चक्राय योगात्मने स्वाहा नेत्रत्रयाय वौषट् इति नेत्रेषु।५। ह्रीं नृसिंहः प्रचोदयादसुरान्तकचक्राय सत्यात्मने स्वाहा अस्त्राय फडिति सर्वदिक्षु॥६॥ एवं षडङ्गप्रयोगः,

य एतानि नारसिंहानि चक्राण्यङ्गेषु बिभृयात्, तस्यानुष्टुप् सिध्यति, तस्य भगवान् नृसिंहः प्रसीदति, तस्य कैवल्यं सिध्यति, तस्य सर्वे लोकाः सिध्यन्ति तस्य सर्वे जनाः सिध्यन्ति; तस्मादेतानि षड् नारसिंहानि चक्राण्यङ्गेषु न्यस्यानि भवन्ति। पवित्रञ्चैतत् तस्य न्यसनं, न्यसनान्नारसिंहानन्दो भवति, कर्म्मण्यो भवति, ब्रह्मण्यो भवति। अन्यसनान्न नारसिंहानन्दो भवति, न कर्म्मण्यो भवति, न ब्रह्मण्यो भवति; तस्मादेतत् पवित्रं न्यसनम्;

न्यासफलमाह॥ एतानीति। फलं पञ्चकसिद्धिकामोऽहं चक्रात्मक-षडङ्गन्यासं करिष्ये इति प्रयोगः। किञ्चेत्याह, पवित्रञ्चैतत्तस्य न्यसनमिति। पुनः फलत्रयमाह, न्यसनादिति। विपक्षे वाधकम् अन्यसनान्नेति। एतेनैतस्य नित्यकाम्यता उक्ता। उपसंहारः, तस्मादिति।

यो वा एतन्नारसिंहं चक्रमधीते स सर्वेषु वेदेष्वधीती भवति, स सर्वेषु यज्ञेषु याजको भवति, स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति, स सर्वेषु मन्त्रेषु सिद्धो भवति, स सर्वत्र शुद्धो भवति, स सर्वरक्षो-भूत-पिशाच-शाकिनी-प्रेत-वेताल-नाशको भवति, स निर्भयो भवति ; तदेतन्नाश्रद्दधानाय प्रब्रूयात् तदेतन्नाश्रद्दधानाय प्रब्रूयादिति॥

इत्यथर्वणीये नारसिंह-षट्चक्रोपनिषत् समाप्ता॥

ग्रन्थाध्ययने फलमाह, यो वा इति। वेदेष्वधितीतिक्तस्येष्ट-विषयस्य कर्म्मण्यपीति सप्तमी। 'सिद्धः' सिद्धिमान्। 'सर्वत्र' बाह्ये चाभ्यन्तरे च। षट्चक्रोपनिषदध्ययनादन्यान्यपि षट्फलानि भवन्तीत्याह, स सर्व-रक्षो-भूतेत्यादि-षण्णामन्यदेहाविष्टानामपि निवर्त्तको भवति। अनधिकारिणे न वाच्यमित्याह, तदेतदिति। द्विरुक्तिरादरार्था। षट्चक्रलिखन-प्रकारस्तु मन्त्रवर्णैरेव वलय-त्रयं कृत्वा तृतीयवलयोपरि दिक्षु रेखारूपानरानालिख्य तदुपरि त्रिकोणाकाराणि तावन्तिपत्राणि लिखेत्, यन्त्रोपरि च द्वितीय-चक्राद्यं वलयम्। एवमग्रेऽपि। तापनीयोक्तस्तु पञ्चाङ्ग-न्यासपक्षोऽनेन न बाध्यते, नापि विकल्प्यते अधिकफलार्थत्वात्।

नारायणेन रचिता श्रुतिमात्रोपजीविना।
अस्पष्टपदवाक्यानां षट्चक्रस्य प्रदीपिका॥

इति षट्चक्रोपनिषद्दीपिका समाप्ता॥ ० ॥